प्रकाशक:—
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
दिल्ली

मूल्य पांच रुपये

मुद्रक:—
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली

गोदान

की

धनिया और होरी को

अपनी बात

बीस-बाईस वर्ष पहले की बात है, मैं सातवीं श्रेणी में पढ़ता था। हमारे स्कूल में उर्दू का मासिक पत्र 'मख़ज़न' लाहौर से आता था मैंने उसमें "मंत्र" कहानी पढ़ी। इस कहानी का नायक बूढ़ा भगत अपनी निःस्वार्थ सेवा, उदारता और महानता के कारण मुझे इतना पसंद आया कि वह मानवीय उत्कर्ष का एक अमिट प्रभाव मेरे मस्तिष्क पर छोड़ गया।

और यों इस कहानी के रचियता प्रेमचन्द से मैं पहली बार परिचित हुआ।

फिर—प्रेमचन्द की कोई भी चीज—कहानी अथवा पुस्तक मिलती थी मैं उसे शौक से पढ़ता था। कालेज के दिनों ही में मैंने लग-भग उनका समस्त प्रकाशित साहित्य पढ़ डाला और जितना पढ़ता था, उतना ही उन्हें देखने की उत्कण्ठा तीव्र होती जाती थी। सौभाग्यवश अप्रैल सन् १९३६ में वे आर्य-समाज के वार्षिकोत्सव की एक बैठक का सभापतित्व करने लाहौर आये और मैं उन्हें देखने गया। सोचा कि कहानी के बारे में उनसे कुछ विचार विनिमय करूँगा। लेकिन श्रद्धा से केवल देखता ही रहा, कुछ कहते न बन पड़ा।

इसके बाद हमारे साहित्य के इतिहास में एक युग ऐसा आया, जब वासना प्रधान साहित्य का नाम ही प्रगतिवाद था और कहा जाता था कि प्रेमचन्द सुधारवादी थे और हम यथार्थवादी और क्रान्तिकारी हैं; इसलिये हमारी कहानी प्रेमचन्द से बहुत आगे बढ़ गई है। नये लेखकों के इस आन्दोलन से मैं भी बहुत कुछ प्रभावित हुआ।

मगर भूल जल्दी ही सुधर गई। युद्ध और बाद की घटनाओं के कारण जड़ता टूटी और वर्ग चेतना बढ़ी, तो लोगों ने सोचना शुरू किया कि प्रगतिवाद का अर्थ उल्टा-सीधा मनोविश्लेषण और स्त्रैण भावना की अभिव्यक्ति करना नहीं, बल्कि कुछ और है। इस बारे में हमें प्रेमचन्द से बहुत-कुछ सीखना होगा। अतएव मेरे मन में प्रेमचन्द को फिर से पढ़ने और उनपर कुछ लिखने की इच्छा उत्पन्न हुई।

दो तीन वर्ष के अध्ययन के उपरान्त मैं यह पुस्तक प्रस्तुत कर रहा हूँ। जैसी भी है—मेरा परिश्रम सफल रहा या असफल—इसका फैसला पाठक करेंगे। प्रेमचन्द पर पहले भी कई पुस्तकें मौजूद हैं, अभी और भी लिखी

जायेंगी । जब समय बदलता है, तो अपने से पहले के लेखकों को देखने और परखने का ढंग भी बदलता है। प्रेमचन्द महान् लेखक थे और महान् लेखकों पर हमेशा कुछ-न-कुछ लिखा जाता है, प्रेमचन्द पर तो अभी बहुत कुछ लिखा जायेगा। मेरी यह पुस्तक हमारे इस महान् लेखक की महानता और आदर्शों को यदि थोड़ा-सा भी समझने-समझाने में मदद कर सके, तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा।

प्रेमचन्द जनता के लेखक थे। इसलिये सरल और सुबोध लिखते थे। मैंने भी अपने सामर्थ्यानुसार, इस पुस्तक में यही ढंग और जनवादी दृष्टिकोण अपनाया है।

प्रेमचन्द की जीवन-कहानी लिखने में उर्दू हिन्दी साहित्य और पत्रों से तथा उनके सगे सम्बन्धियों मित्रों और आलोचकों के लेखों से जितनी भी सहायता ली जा सकी, लीगई है लेखक उन सबका कृतज्ञ है। अन्त में उनकी एक कहानी 'मृत्यु के पीछे' उद्धृत की गई है,जिसकी आज्ञा देने के लिये प्रकाशक और लेखक दोनों ही प्रेमचन्द के सुपुत्र श्रीपतराय के अनुग्रहीत है।

१ अक्टूबर १९५१

हंसराज 'रहबर'

विषय-सूची

परिशिष्ट २

: १ :

बचपन

"मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है; जिसमें गड्ढे तो कहीं-कहीं हैं; पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खंडहरों का स्थान नहीं है।" 'प्रेमचन्द'

साहित्यिक संसार, जिस व्यक्ति को 'प्रेमचन्द' के नाम से जानता है, उसका असल नाम 'धनपतराय' था। असल नाम से तात्पर्य वह नाम है, जिसे माता-पिता और सगे-सम्बन्धी रखते हैं, जिसमें उनके स्नेह और ममता की घुलावट रहती है और जो बचपन से आखिरी उम्र तक मनुष्य के जीवन का अविच्छिन्न अंग बना रहता है।

धनपतराय के पिता 'मुन्शी अजायबलाल' डाकखाने में क्लर्क थे। उस ज़माने मे क्लर्क' को 'मुन्शी, कहते थे। लगातार मुन्शीगिरी करते रहने से 'मुन्शी' ख़ानदानी बन जाता था। मुन्शी अजायवलाल प्रारम्भ में पंद्रह-बीस रुपये मासिक वेतन पाते थे, चालीस रुपये तक पहुँचते-पहुँचते उनका देहान्त होगया। इस अल्प-वेतन के अतिरिक्त उनके पास थोड़ी-सी पैत्रिक-भूमि भी थी; लेकिन उसकी आमदनी बहुत ही मामूली थी। इसलिये बुजुर्गों को मुन्शीगीरी अख्यतार करनी पड़ी थी। मुलाजमत के बावजूद मध्यमवर्ग के साधारण लोगों से उनकी हालत अच्छी न थी। हाँ, सिर्फ ज़मीन की आमदनी पर गुज़ारा करने वाले किसानों से कुछ अच्छी ज़रूर थी। इसलिये धनपतराय और उनके पिता किसान नहीं थे, लेकिन किसानों से दूर भी नहीं थे। वे किसानों के दुःख-दर्द, कठिनाइयों, विपत्तियों और छोटी-छोटी अभिलाषाओं से भली-भाँति परिचित थे, बल्कि यह सफेद-पोश वर्ग दिखावे और रस्मो-रिवाज का, किसानों से कुछ अधिक पाबंद होता है। इसी अनुपात से उसकी कठिनाइयाँ और दुःख-दर्द भी अधिक होते हैं और अतृप्त अभिलाषायें, दरिद्रता के कीचड़ में कुलबुलाती रहती हैं।

धनपतराय का जन्म सन् १८८० अर्थात् संवत् १९३७ विक्रमी में लिम्ही' गांव में हुआ था। यह गाँव, पांडेपुर के निकट बनारस से पाँच-छः मील की दूरी पर स्थित है। पिता चूंकि डाकखाने में मुलाजिम थे इसलिये डाकखाने का वातावरण और उसके कर्मचारियों की झलक प्रेमचन्द की कहानियों में सुन्दर ढंग से प्रायः मिलती है। इन्हीं कहानियों से उनके बचपन के चिन्ह भी स्पष्टतया हमारी आँखों के सामने उभर आते हैं। "कज़ाकी" शीर्षक कहानी में वे लिखते हैं :—

"मेरी बाल-स्मृतियों में 'कज़ाकी' एक न मिटने वाला व्यक्ति है। आज चालीस साल गुजर गये, लेकिन कज़ाकी की मूर्ति अभी तक आंखों के सामने नाच रही है ·····कज़ाकी, जाति का पासी था। बड़ा ही हँसमुख, बड़ा ही साहसी, बड़ा ही ज़िंदादिल। ···· रोजाना डाक का थैला लेकर आता··· जब वह दौड़ता तो उसकी बल्लमी झुँझुनी बजती।"

बल्लमी झुँझनी सुनकर उसके मित्र के बच्चे पर क्या गुज़रती है, जरा यह भी सुनिये :—

"हर्षातिरेक में मैं भी दौड़ पड़ता और एक क्षण में कज़ाकी का कंधा मेरा सिंहासन बन जाता। वह स्थान मेरी अभिलाषाओं का स्वर्ग था। स्वर्ग के वासियों को भी शायद वह आनन्द न मिलता होगा जो मुझे कज़ाकी के विशाल कंधे पर मिलता था। संसार मेरी आंखों में तुच्छ हो जाता और जब कज़ाकी मुझे कंधे पर लिये हुये दौड़ने लगता; तब तो ऐसा महसूस होता, मानो मैं हवा के घोड़े पर उड़ा जा रहा हूँ।"

जिस हरकारे का कन्धा नन्हें धनपतराय का सिंहासन बनता था, उसका नाम कज़ाकी भी हो सकता है; और सम्भव है कहानीकार प्रेमचन्द ने उसे बदल दिया हो। मगर यह सत्य है कि वह उस डाकखाने का हरकारा था, जिसमें धनपतराय के पिता क्लर्क थे। बच्चे को कज़ाकी का स्नेह प्राप्त था। जब उसे किसी कारणवश नौकरी से अलग किया जाता है तो बच्चे को इसका मानसिक दुःख होता है और वह मां के पास, बाप की फरियाद लेकर जाता है। जब फरियाद से भी कुछ नहीं बनता तो बच्चे की मनोदशा इसी कहानी में इस प्रकार बयान की गई है :—**"खाना तो मैंने खा लिया। बच्चे शोक में खाना नहीं छोड़ते, खासकर जब रबड़ी भी सामने हो। मगर बड़ी रात तक पड़े-पड़े सोचता रहा—मेरे पास रुपया होता, तो एक एक लाख रुपये कज़ाकी को दे देता और कहता—बाबूजी से कभी मत बोलना। देखूं कि वह आता है कि नहीं! अब क्या करेगा आकर? मगर आने को तो**

कह गया है। मैं कल उसे अपने साथ खाना खिलाऊंगा······यही हवाई किले बनाते-बनाते मुझे नींद आगई।"

हवाई किले बनाना, बचपन का एक विशेष गुण है। पर असल हवाई किले ही बचपन को सुन्दर और आकर्षक बनाते हैं; उसे हर्ष और उल्लास से माला-माल करते हैं। प्रेमचंद अपने बाल-सुलभ उल्लास का वर्णन बहुत ही रोचकता से करते हैं। "राम-लीला" इस उल्लास की कहानी है, लिखते हैं :—

"एक जमाना था, जब मुझे भी रामलीला में आनन्द आता था। आनन्द तो बहुत हल्का-सा शब्द है। वह आनन्द उन्माद से कम न था।"

जब विमान निकलता है, तो रामचन्द्र के पीछे बैठकर महसूस करते हैं:

"मैं स्वर्ग में बैठा हूं।"

लेकिन दूसरी बार विमान निकलता है, तो वे गुल्ली डंडा खेलने में इतने मस्त हैं, कि उसकी तरफ आंख उठाकर भी नहीं देखते; क्योंकि उन्हें अपना दांव लेना है और वे महसूस करते हैं :—

"अपना दांव छोड़ने के लिये उससे कहीं बढ़कर आत्म-त्याग की जरूरत थी, जितना मैं कर सकता था।"

कहानियों से उनके घर की दशा और पिता की ज़िंदगी पर भी प्रकाश पड़ता है। 'कप्तान साहब' कहानी में जगतसिंह के पिता का जो परिचय दिया गया है, वह उनके अपने पिता के परिचय से भिन्न नहीं है :—

"उसके पिता—भक्तसिंह अपने क़सबे के डाकखाने के मुंशी थे। अफसरों ने उन्हें घर का डाकखाना बड़ी दौड़-धूप करने पर दिया था, परन्तु भक्तसिंह जिन इरादों से यहां आये थे उनमें से एक भी पूरा न हुआ। उल्टी हानि यह हुई कि देहातों में जो भाजी-साग उपले-ईंधन मुफ्त मिल जाते थे, वे सब यहाँ बन्द होगये।"

मुन्शी अजायबलाल भी अपने ही कसबे में, डाकखाने के मुलाज़िम थे। उनके इरादे भी पूरे न होते थे। चादर देखकर पाँव पसारते थे। थोड़ी तनखाह के कारण, बहुत-सी इच्छाओं का ख़ून हो जाता था। अगर 'ग़बन' के दयानाथ को कुरेदा जाय, तो मुंशी अजायबलाल के चरित्र और स्वभाव का पता चल जाता है। दयानाथ, अपने फैशन-परस्त और फ़िज़ूल खर्च बेटे रामनाथ से कहते हैं :—

"तुम्हारा बढ़ता हुआ खर्च देखकर मेरे मन में संदेह हुआ था। मैं इसे छिपाता नहीं हूं; लेकिन जब तक तुम कह रहे हो कि तुम्हारी नीयत साफ

है, तो मैं सन्तुष्ट हूं। मैं केवल इतना ही चाहता हूँ कि मेरा लड़का चाहे ग़रीब रहे पर नीयत न बिगड़े।"

प्रेमचन्द ने 'जीवन सार' के नाम से एक छोटे से लेख में आप बीती लिखते हुए उनके बारे में एक वाक्य लिखा है :—

"यों वे बड़े विचारशील, जीवन-पथ पर आंखें खोल कर चलने वाले आदमी थे; लेकिन आखिरी दिनों में एक ठोकर खा ही गये।"

तंगी-तुरशी से जीवन निर्वाह करने वाले मध्यमवर्ग का विचारशील आदमी अपने लड़के के लिये यही कामना कर सकता है – कि वह चरित्रवान् हो और उसकी नीयत साफ़ हो, यही उसकी सबसे बड़ी विरासत है। सदाचार और नेक-नीयती का गर्व ही, उसे समस्त विपत्तियां और कठिनाइयाँ सहन करने के योग्य बनाता है और वह अपनी तमाम अभिलाषाओं का खून करके भी जीना अपना अधिकार समझता है।

जिस घर में अभाव का नाम बचत हो और साधारण इच्छायें भी पूरी न होती हों, उसमें बच्चे के जो तौर-तरीके और स्वभाव बन जाता है, उसका पता हमें प्रेमचन्द की कहानियों से लगता है। उदाहरणतः उन्हें बचपन से पैसे जमा करने की आदत थी, जो बाद में छूट गई; क्योंकि बाद में ग़रीबी इतनी बढ़ गई कि वह पैबंद लगाने से भी फट जाती थी; फिर पैसे कैसे जमा हों! डाकखाने का क्लर्क अपने बेटे को अधिक पैसे देने की सामर्थ्य नहीं रखता। धर का खर्च भी सुगमता से नहीं चलता था; इसलिये धनपतराय दूसरे बच्चों की तरह मनमानी चीज़ें खाने को तरसता रहा। 'होली-की-छुट्टी' उनके अपने जीवन की घटना मालूम होती है, वैसे वह लड़कपन की धटना है; लेकिन गुड़ चुराकर खाने का सूत्रपात बचपन ही से हुआ होगा। स्वादिष्ट भोजन प्रेमचन्द की खास कमज़ोरी थी। बचपन के अभावों ने ही उनमें दुर्बलता उत्पन्न की थी, जिससे वे आजीवन छुटकारा पा ही न सके।

यथार्थ वस्तु का अभाव मनुष्य को कल्पनाशील बना देता है। जीवन में जो पदार्थ प्राप्त नहीं होते, आदमी उन्हें कल्पना में ढूंढ़ता है, और हवाई किले बनाता है। नन्हा धनपत जिन महलों के स्वप्न देखा करता था, वे उसे सारी उम्र नसीब नहीं हुए, इस कल्पना-शीलता ने प्रेमचन्द को नये और सुन्दर जीवन का निर्माता बना दिया। बड़े होकर उन्होंने अपनी कहानियों में ये हवाई किले जगह-जगह बनाये हैं; जिन्हें धरती पर उतारने के लिये उन्होंने संघर्ष किया है।

बचपन में जहां वे हवाई क़िले बनाते थे, वहां उन्हें कहानियां सुनने का

भी बहुत चाव था। 'कुछ विचार' नाम से उनका जो निबंध-संग्रह छपा है, उसके 'कहानी-कला' लेख का एक उद्धरण प्रस्तुत है :—

"हर एक बालक को अपने बचपन की वे कहानियाँ याद होंगी, जो उसने अपनी मां या बहिन से सुनी थीं। कहानियाँ सुनने को वह कितना लालायित रहता था, कहानी शुरू होते ही, किस तरह सब कुछ भूल कर सुनने में तन्मय हो जाता था, कुत्ते और बिल्लियों की कहानियाँ सुनकर वह कितना प्रसन्न होता था—इसे शायद वह कभी नहीं भूल सकता। बाल-जीवन की मधुर स्मृतियों में कहानी शायद सब से मधुर हैं। वह खिलौने, मिठाइयां और तमाशे सब भूल गये; पर वह उसके मुंह से, उसके बालक उसी हर्ष और उत्सुकता से सुनते होंगे।"

बच्चे कहानियां प्राय: अपनी दादी से सुनते हैं, प्रेमचन्द ने इस लेख म दादी का नाम न जाने क्यों नही लिखा ? हालाँकि दादी जीवित थीं और उनके अतिरिक्त घर में चार जीव और थे—माता, पिता, बहिन और स्वयं धनपतराय। बचपन में कहानियों का विशेष स्थान है क्योंकि वे बच्चे के विकास और शिक्षा का माध्यम होती हैं। प्रेमचन्द को जब इन कहानियों की मधुर स्मृति आई, तो वे मां और बहिन की स्नेह-युक्त याद भी भुला नहीं सके, क्योंकि कहानियों के साथ, कहानी सुनाने वाले के व्यक्तित्व का गहरा सम्बन्ध रहता है, उन पर उसके स्नेह और ममता की छाप लगी रहती है।

प्रेमचन्द का जीवन स्नेह से प्राय: वंचित रहा। माँ शुरू से बीमार रहती थीं। बाप को दवा-दारू से फुरसत नहीं मिलती थी। अभी प्रेमचन्द सात साल के बालक ही थे कि उनकी माता का देहान्त होगया। माँ की अकाल-मृत्यु ने निरीह बालक के मन पर कठोर आघात किया। प्रेमचन्द इस आघात को कभी भुला नहीं सके। उन्होंने कहानियों और उपन्यासों में इस आघात का बहुत ही विषादयुक्त ढंग से उल्लेख किया है। उदारणत: 'प्रेरणा' कहानी में, सौ गज़ का चक्कर काटकर एक ऐसे लड़के का उल्लेख करते हुए, जिसकी माँ उसे सात साल की अवस्था में छोड़कर मर गई थी, लिखा है :—

"बच्चों में प्यार की जो एक भूख होती है—दूध, मिठाई और खिलौनों से भी ज्यादा मादक—जो मां की गोद के सामने संसार की निधि की भी परवा नही करती। मोहन की वह भूख कभी सन्तुष्ट न होती थी। पहाड़ों से टकराने वाली सारस की आवाज की तरह वह सदैव उसकी नसों में गूँजा करती थी। जैसे, भूमि पर फैली हुई लता कोई सहारा पाते ही उससे

चिपट जाती है, वही हाल मोहन का था।"

माँ की गोद के अभाव को स्मरण करते हुए, 'घर जमाई' कहानी में लिखा है:—

"बच्चों के लिए बाप एक फालतू-सी चीज है—एक विलास की वस्तु है जैसे घोड़े के लिये चने और बाबुओं को मोहन भोग.........लेकिन माँ तो बच्चे का सर्वस्व है। बालक एक मिनट के लिये भी उसका वियोग नहीं सह सकता। पिता कोई हो, उसे परवाह नहीं। केवल उसे एक उछालने-कुदाने वाला आदमी होना चाहिये; लेकिन माता तो अपनी ही होनी चाहिये, सोलहों आने अपनी। वही रूप, वही रंग, वही प्यार, वही सब कुछ। अगर वह नहीं है, तो बालक के जीवन का स्रोत जैसे सूख जाता है, फिर वह शिव का नंदी है, जिस पर फूल या जल चढ़ाना लाज़िमी नहीं, अख़्त्यारी है।"

"कर्म-भूमि का नायक अमरकान्त हू-बहू प्रेमचन्द न हो; लेकिन वह भी बचपन में माँ के स्नेह और वात्सल्य से वंचित हो गया था। प्रेमचन्द लिखते हैं:—

"अमरकान्त ने अपने जीवन में माता के स्नेह का सुख न देखा था। जब उसकी माता का अवसान हुआ, तब वह बहुत छोटा था। उसे दूर अतीत की कुछ धुंधली-सी और इसलिये अत्यन्त मनोहर और सुखद-स्मृतियाँ शेष थीं।"

इसी उपन्यास में अमरकान्त के सुख से इस कभी न भूलने वाले दुख को किसी अन्य स्थान पर यों प्रकट किया है:—

"ज़िन्दगी वह उम्र, जब इन्सान को मुहब्बत की सबसे ज्यादा ज़रूरत होती है, बचपन है। उस वक्त पौदे को तरी मिल जाय, तो ज़िंदगी भर के लिये उसकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं। उस वक्त खुराक न पाकर उसकी ज़िंदगी खुश्क हो जाती है। मेरी माता का उसी ज़माने में देहान्त हुआ, और तब से मेरी रूह को खुराक नहीं मिली। वही भूख मेरी ज़िंदगी है। मुझे जहाँ मुहब्बत का एक रेजा भी मिलेगा, मैं बे-अख्तियार उसी की तरफ जाऊंगा। कुदरत का अटल क़ानून मुझे उस तरफ ले जाता है। इसके लिये अगर मुझे कोई खतावार कहे, तो कहे। मैं इसे अपनी खता तसलीम नहीं करता। दुनियाँ में सब से बदनसीब वह है, जिसकी मां बचपन में मर गई हो।"

इससे भी अधिक दुर्भाग्य यह था कि पिता ने तुरन्त दूसरा ब्याह कर

लिया और नन्हें धनपत को ऐसी विमाता से पाला पड़ा, जो उसके साथ निरादर और कठोरता से पेश आती थी। 'कर्म-भूमि' उपन्यास में लिखा है :—

"**अमरकान्त की माता का उसके बचपन ही में देहान्त हो गया। समरकान्त ने मित्रों के कहने-सुनने से दूसरा विवाह कर लिया था। उस सात साल के बालक ने नई मां का बड़े प्रेम से स्वागत किया; लेकिन उसे जल्द मालूम होगया, कि उसकी नई माता उसकी ज़िद और शरारतों को उस क्षमा-दृष्टि से नहीं देखती जैसे उसकी मां देखती थी। वह अपनी मां का अकेला लाड़ला था। बड़ा ज़िद्दी, बड़ा नटखट। जो बात मुंह से निकल जाती, उसे पूरा हीं करके छोड़ता। नई माता जी बात-बात पर डांटती थीं। यहाँ तक कि उसे माता से द्वेष हो गया। जिस बात को वह मना करती, उसे अदबदा कर करता। पिता से भी ढीठ होगया। पिता और पुत्र में स्नेह का बन्धन न रहा।**"

निस्संदेह यह प्रेमचन्द की 'आत्म-कथा' है। वे अपनी माँ के अकेले लाड़ले बेटे थे। कुछ अधिक स्पष्ट और मार्मिक शब्दों में इसी बात को 'अलग्योझा' कहानी में इस प्रकार वर्णन किया है :—

"**भोला महतो ने पहली स्त्री मर जाने पर दूसरी सगाई की तो उसके लड़के रग्घू के लिये बुरे दिन आ गये। रग्घू की उम्र उस समय केवल दस वर्ष की थी। चैन से गांव में गुल्ली-डण्डा खेलता फिरता था। मां के मरते ही चक्की में जुतना पड़ा। पन्ना रूपवती स्त्री थी और रूप और गर्व में चोली-दामन का नाता है। वह अपने हाथों से कोई मोटा काम न करती। गोबर रग्घू निकालता, बैलों को सानी रग्घू देता। रग्घू जूठे बरतन मांजता। भोला की आंखें कुछ ऐसी फिरीं कि उसे अब रग्घू में बुराइयां-ही-बुराइयाँ नज़र आतीं। पन्ना की बातों को वह प्राचीन-मर्यादानुसार आंखें बन्द करके मान लेता था। रग्घू की शिकायतों की ज़रा भी परवाह न करता। नतीजा यह हुआ कि रग्घू ने शिकायत करना ही छोड़ दिया। किसके सामने रोये?**"

इस मनोव्यथा को "सौतेली मां" कहानी में बहुत अच्छी तरह मूर्तिमान किया गया है। जिसके एक-एक शब्द में प्रेमचन्द ने अपने बचपन का दर्द भर दिया है; और सबसे करुणा-जनक स्थल वह है जहाँ बच्चा दीवार की ओर मुंह किये खड़ा रो रहा है; लेकिन बाप के आने पर झट-पट आंखें पूंछ लेता है। जब उसकी आंसुओं से भीगीं आंखें देखकर बाप पूछता है—तू रोता क्यों था? क्या तुझे तेरी मां ने पीटा था? तो बच्चा जवाब देता है—"**नहीं वह तो बहुत अच्छी है।**"

विचारशील पिताके ठोकर खाने से यह दूसरा ब्याह अभीष्ट था। इस समय उनकी अवस्था चालीस से ऊपर थी। 'स्मृति का पुजारी' कहानीमें लिखा है—

"महाशय होरीलाल की पत्नी का जब से देहान्त हुआ वह एक तरह से दुनियां से विरक्त होगये थे।......और तब महाशय जी का पैंतालीसवां साल था, सुगठित शरीर था, स्वास्थ्य अच्छा, रूपवान्, विनोदशील और सम्पन्न। चाहते तो तुरन्त दूसरा ब्याह कर लेते।"

महाशय होरीलाल को प्रेमचन्द के पिता का प्रतिरूप नहीं कहा जा सकता; लेकिन ब्याह के समय मुंशी अजायबलाल की उम्र का अंदाज़ लगाया जा सकता है। मुंशी होरीलाल ने दूसरा ब्याह नहीं किया, इसलिये वे प्रेमचन्द की श्रद्धा और सम्मान के पात्र हैं। उन्हें इस कहानी में आदर्श व्यक्ति के तौर पर पेश किया गया है। ऐसे व्यक्ति को दूल्हा बनाकर बरात चढ़ने का ये चित्र, मूल कहानी में इस प्रकार खींचा है :—

"चौबेजी की सजधज आज देखने योग्य है। तनजेब का रंगीन कुरता, कतरी और संवारी हुई मूंछें, खिज़ाब से चमकते हुए बाल, हँसता हुआ चेहरा, चढ़ी हुई आंखें—यौवन का पूरा स्वांग था।"

दरिद्रता, विमाता का निठुरव्यवहार, पिताकी अवहेलना और उदासीनता; यह वातावरण था जिसमें प्रेमचन्द का बचपन बीता। फिर भी उन्होंने घर की घुटन से मन को कुंठित नहीं होने दिया। बाहर के खुले और स्वस्थ वायुमंडल में घर के अभाव की पूर्ति ढूंढ ली थी। माता-पिता की भर्त्सना से व्यथित हृदय को पेड़ों की ठंडी छाया में सांत्वना मिलती थी। 'घर-जमाई' कहानी में लिखा है :—

"हरिधन को अपना बचपन याद आया, जब वह भी इसी तरह क्रीड़ा करता था। उसकी बाल स्मृतियां उन्हीं चमकीले तारों की भाँति प्रज्वलित होगईं। वह अपना छोटा-सा घर, वह आम का बाग, जहाँ वह केरियाँ चुना करता था, वह मैदान जहाँ वह कबड्डी खेला करता था, यह सभी उसे याद आने लगा। फिर अपनी स्नेहमयी माता की सदय-मूर्ति सामने खड़ी होगई।"

बचपन के इस, घर और बाग की याद उन्हें अक्सर आती थी। 'चोरी' कहानी में लिखते हैं :—

"हाय बचपन! तेरी याद नहीं भूलती। वह कच्चा टूटा-घर, वह पुवाल का बिछौना, वह नंगे बदन, नंगे पांव खेतों में घूमना; आम के पेड़ों पर चढ़ना—सारी बातें आंखों के सामने फिर रही हैं।"

: २ :

स्कूल

"जीवन को सफल बनाने के लिये शिक्षा की जरूरत है, डिग्री की नहीं" 'प्रेमचन्द'

बच्चे ज़रा बड़े हों तो उन्हें स्कूल भेज दिया जाता है। उन दिनों स्कूल अधिक नहीं थे। शिक्षा का सूत्रपात आमतौर पर मदरसे से होता था, जो मुग़ल-काल से चले आते थे। पढ़ाने वाले मौलवी होते थे। और उर्दू-फ़ारसी का रिवाज आम था। मुन्शी प्रेमचन्द जाति के श्रीवास्तव (कायस्थ) थे; चूंकि यह लोग सरकारी नौकरी करके जीविका कमाते थे, इसलिये उर्दू-फ़ारसी से विशेष रुचि रखते थे। मुंशी प्रेमचन्द ने भी उर्दू-फ़ारसी सीखी, और शिक्षा का आरम्भ मदरसे से हुआ। उन्होने मदरसे जाने का हाल अपनी एक कहानी "चोरी" में लिखा है। इस कहानी में जिस घटना का वर्णन किया गया है, उसका उल्लेख शिवरानीदेवी ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद घर' में भी किया है, जिसका मतलब है कि यह कहानी उनके अपने जीवन से सम्बन्धित है। लिखते हैं:—

"मैं अपने चचेरे भाई हलधर के साथ दूसरे गांव में एक मौलवी साहब के यहाँ पढ़ने जाया करता था। मेरी उम्र आठ साल थी।....हम दोनों प्रातः काल बासी रोटियां खा, दोपहर के लिये मटर और जौ का चबेना लेकर चल देते थे। फिर तो सारा दिन अपना था। मौलवी साहब के यहां कोई हाजिरी का रजिस्टर तो था नहीं, और न ग़ैरहाज़िरी का जुर्माना ही देना पड़ता था फिर डर किस बात का। कभी तो थाने के सामने खड़े सिपाहियों की कवायद देखते, कभी किसी भालू या बन्दर नचाने वाले मदारी के पीछे-पीछे घूमने में दिन काट देते, कभी रेलवे स्टेशन की ओर निकल जाते और गाड़ियों की बहार देखते। गाड़ियों के समय का जितना ज्ञान हमें था, उतना शायद

टाईम-टेबल को भी न था।······कभी-कभी हम हफ्तों गैरहाज़िर रहते; पर मौलवी साहब से ऐसा बहाना कर देते, कि उनकी चढ़ी हुई त्यौरियां उतर जातीं।"

इस उद्धरण से पता चलता है कि धनपतराय के स्वभाव में आवारगी को काफी स्थान था। 'कप्तान साहब' कहानी का उल्लेख पहले भी हो चुका है। इस कहानी के नायक-जगतसिंह का धनपतराय से यह सम्बन्ध है कि "उसके पिता ठाकुर भगतसिंह अपने कस्बे के. डाकखाने के मुन्शी थे। इस कहानी में प्रेमचंद ने जगतसिंह का लड़कपन इस प्रकार चित्रित किया है:—

जगतसिंह को स्कूल जाना कुनैन खाने या मछली का तेल पीने में कम अप्रिय न था। वह सैलानी, आवारा, घुमक्कड़ युवक था। कभी अमरूद के बागों की ओर निकल जाता और अमरूद के साथ माली की गालियां बड़े शौक से खाता। कभी दरिया की सैर करता और मल्लाहों की डोंगियों में बैठकर उस पार के देहातों में निकल जाता। गालियां खाने में उसे मज़ा आता था। उसे बैंडबाजा बहुत पसंद था।

' सम्भव है, इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो; फिर भी इन शब्दों में प्रेमचंद के अपने लड़कपन का चित्र दिखाई देता है, क्योंकि वही गांव का वातावरण है, वृक्ष हैं और दरिया का किनारा है। इन दोनों उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि धनपतराय को मदरसे से, मौलवी से और किताबों से कोई विशेष प्रेम न था। वह मदरसे की 'तोता रटंत' से खुले वातावरण में घूमना, गालियां खाना और बेंड सुनना अधिक पसंद करता था। अपनी इस भावना को, भावी अनुभव के प्रकाश में उन्होंने अपनी 'प्रेरणा' कहानी में भली-भाँति प्रस्तुत किया है:—

"हमारे देश में योग्य शिक्षकों का अभाव है। अर्द्ध-शिक्षित और अल्प-वेतन पाने वाले अध्यापकों से आप यह आशा नहीं रख सकते कि वे कोई ऊँचा आदर्श अपने सामने रख सकें। अधिक-से-अधिक इतना ही होगा कि चार-पांच वर्ष में बालक को अक्षर-ज्ञान हो जायगा। मैं इसे पर्वत खोदकर चुहिया निकालने के तुल्य समझता हूँ। वयस्क होने पर यह मसला एक महीने में आसानी से तय हो सकता है। मै अनुभव से कह सकता हूँ कि युवावस्था में हम जितना ज्ञान एक महीने में प्राप्त कर सकते हैं, उतना बाल्यावस्था में तीन साल में भी नहीं कर सकते, फिर खाहमख्वाह बच्चों को मदरसे में कैद करने से क्या लाभ? मदरसे के बाहर रहकर उसे स्वच्छ वायु तो मिलती, प्राकृतिक अनुभव तो होते। पाठशाला में बन्द करके तो आप उसके मानसिक और शारीरिक दोनों विधानों की जड़ काट देते हैं।"

अंग्रेजी अमलदारी में देहातों में सामंतवादी ढंग के मदरसे क़ायम थे, जिन्हें अर्द्ध-शिक्षित, निकम्मे और आलसी मौलवी चलाते थे। उनके पास न तो कोई रजिस्टर होता था और न उन्हें बच्चों के मानसिक-विकास से कोई सरोकार था। वे कायदे और सिपारे रटाते थे। अगर कोई बच्चा रटकर न आता था तो पीटते थे। वे शिक्षा को, निर्माण-शक्ति को जगाने और विकसित करने का साधन नहीं, बल्कि एक धार्मिक-कर्त्तव्य समझते थे। शिक्षा की यह अप्राकृतिक प्रणाली बच्चे को अपनी विकासशील बुद्धि पर अंकुश मालूम होती है। ऐसे मदरसे और किताबों से नफ़रत हो जाना अनिवार्य है। यही कारण है, कि भावुक धनपतराय मदरसे से हफ्तों गैर-हाज़िर रहते थे; और खेतों बागों में घूमकर प्रकृति से अनुभव प्राप्त करते, सिपाहियों की कवायद देखते और बेंड सुनते थे। इस आवारगी में उनका चचेरा भाई भी उनके साथ होता था, जो उम्र में उनसे दो साल बड़ा था। एक बार उन्होंने घर से चाचा का एक रुपया चुराया और दरिया के किनारे बैठकर मिठाई और फल खाये। बाद में चोरी का पता चल गया और चचेरे भाई की खूब मरम्मत हुई।

इस बीच में मुंशी अजायबलाल की तरक्की हो गई और उन्हें डाक-मुंशी बनाकर गोरखपुर भेज दिया गया। धनपतराय भी पिता के साथ देहात से शहर में आ गये और वे मदरसे की बजाय स्कूल में पढ़ने लगे। गो स्कूलों में भी बच्चों के मानसिक विकास का ध्यान नहीं रखा जाता, क्योंकि विदेशी शासक अंग्रेजो का आशय हिन्दुस्तानियों को शिक्षित बनानान हीं, बल्कि अपनो दफ्तरी हकूमत के लिये क्लर्क पैदा करना था और उनके बाद कांग्रेस-राज्य में भी वही शिक्षा-प्रणाली जारी है; फिर भी स्कूल, मदरसों से अच्छे थे। यहां प्रेमचंद सचमुच पढ़ने में ध्यान देने लगे थे।

रघुपतिसहाय फ़िराक़ गोरखपुरी ने एक लेख "प्रेमचंद" शीर्षक से लिखा है, जो 'ज़माना' उर्दू कानपुर में प्रकाशित हुआ था। इसमें उनके गोरखपुर में स्कूल का जीवन इस प्रकार चित्रित किया है—

"हम तब्क़ा (श्रेणी) के दूसरे लड़कों की तरह प्रेमचंद भी एक हाई-स्कूल में दाख़िल हो गये और उनकी तालीम इब्तदाई (प्रारंभिक) दर्जों को छोड़कर के गोरखपुर एक मिडिल स्कूल में शुरू हो गई। जहां उनके वालिद मुलाज़िम थे। प्रेमचंद ने मुझसे बताया कि लड़कपन में उनकी दोस्ती अपने दर्जे के एक लड़के से हो गई, जो तम्बाकू फरोश का बेटा था। रोज़ाना वे अपने कम-उम्र दोस्त के साथ स्कूल के बाद उसके मकान पर जाते थे। वहां तम्बाकू के बड़े-बड़े स्याह पिंडों के पीछे तम्बाकू फरोश और उस के अहबाब

(मित्रगण) बैठक बराबर हुक्का पीते और तिलस्मे होशरुबा पढ़ते थे—"

यहां प्रेमचन्द अपने कमसिन दोस्त के साथ बैठकर तिलस्मे-होशरुबा के अफसाने सुनते थे। यहां तक कि शाम हो जाती, जब वे अपने घर चले जाते। यह सिलसला तकरीबन एक साल जारी रहा। लेकिन इस असना में (बीच में) प्रेमचंद हमेशा के लिये रूमानी कहानियों में डूब गये। दरहकीकत इन किस्सों और कहानियों को जिस दिलचस्पी और इश्तयाक़ (चाव) से उन्होंने सुना था, इससे उनके कुव्वते-बयान में रवानी (प्रवाह) वज़ाहत (स्पष्टता) के अंदाज़ (भाव) जज्ब हो गये और इन लजीज़ हिकायतों (गाथाओं) की रूह उनमें तहलील (विलीन) हो गई। कुछ दिनों के बाद यही कुव्वतें (शक्तियां) प्रेमचंद की तसानीफ (रचनाओं) में किस हुस्न से फली-फूलीं।"

राजा-रानी और परियों के देश की कहानियां सुनाने वालियाँ मुद्दत हुई मर चुकी थीं और देहात की खुली फ़िज़ा भी नहीं थी; लेकिन जीवन में कटुताएं बढ़ गई थीं। अब उन्हें झूठे बरतन ही मांजने नहीं होते थे, विमाता के बच्चों को खिलाना भी होता था। बच्चे को खिलाना पुस्तक पढ़ने से कम रोमांचकारी नहीं हैं लेकिन तभी ना, जब उसे अपनी इच्छा और रुचि से खिलाया जाय। लेकिन विमाता उन्हें अपना गुलाम समझकर धौंस से यह काम लेती थी। यही कारण था कि माँ से उनका मन फटता गया और दिन-दिन द्वेष बढ़ता रहा और वे तिलस्मे-होशरुबा में घर की कटुता का निराकरण ढूँढ़ते रहे जो उन्हें इस कहानी के कथानक में मिल जाता था। अर्थात् वे तम्बाकू की दुकान पर पुस्तक ही नहीं सुनते थे; अपने दुःख का उपचार भी करते थे। शायद इसीलिये उन्होंने शीघ्र ही इस रहस्य को समझ लिया था कि लेखक बनना, मानवता की सेवा करना है।

'तिलस्मे होशरुबा' सुनने के बाद कहानियों और किताबों से उनकी दिलचस्पी बढ़ गई। उन्होंने अपनी इस दिलचस्पी का ज़िक्र "मेरी पहली रचना" में विशेषरूप से किया है। लिखते हैं:—

"इस वक्त मेरी उम्र कोई १३ साल की रही होगी। हिन्दी बिलकुल न जानता था। उर्दू के उपन्यास पढ़ने का उन्माद था। मौलाना शरर, पं० रतननाथ सरशार, मिरज़ा रुसवा, मौलवी मुहम्मद अली हरदोई—निवासी उस वक्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे। इनकी रचनायें जहां मिल जाती थीं स्कूल की याद भूल जाती थी और पुस्तक समाप्त करके ही दम लेता था। उस ज़माने में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। उर्दू में उनके

अनुवाद धड़ाधड़ निकल रहे थे और हाथों-हाथ बिकते थे। मैं भी उनका आशिक था। स्व० हज़रत रियाज़ ने जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि हैं और जिनका हाल में देहान्त हुआ है, रेनाल्ड की एक रचना का अनुवाद 'हरमसरा' के नाम से किया था। उसी ज़माने में लखनऊ के साप्ताहिक 'अवध-पंच' के सम्पादक स्व० मौलाना सज्जाद हुसैन ने, जो हास्य-रस के अमर कलाकार थे, रेनाल्ड के दूसरे उपन्यास का अनुवाद 'धोखा या तिलस्मी फानूस' के नाम से किया था। ये सभी पुस्तकें मैंने उसी ज़माने में पढ़ीं ? और पं० रतननाथ सरशार से तो मुझे तृप्ति ही न होती थी। उनकी सारी रचनायें मैंने पढ़ डालीं। उन दिनों मेरे पिता गोरखपुर में रहते थे और मैं भी वहीं के मिशन स्कूल में, आठवीं में पढ़ता था, जो तीसरा दरजा कहलाता था। रेती पर एक बुकसेलर बुद्धिलाल नाम का रहता था। मैं उसकी दुकान पर जा बैठता था और उसके स्टाक से उपन्यास ले-लेकर पढ़ता था; मगर दुकान पर सारे दिन तो बैठ न सकता था, इसलिये मैं उसकी दुकान से अंग्रेजी पुस्तकों की कुंजियां और नोट्स लेकर अपने स्कूल के लड़कों के हाथ बेचा करता था और इसकी एवज़ में उपन्यास दुकान से घर लाकर पढ़ता था। दो-तीन वर्षों में सैंकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे। जब उपन्यास का स्टाक समाप्त हो गया, तो मैंने नवलकिशोर प्रेस से निकले हुए पुराणों के उर्दू अनुवाद भी पढ़े, और 'तिलस्मे होशरुबा' के कई भाग भी पढ़े। इस बृहद् तिलस्मी-ग्रन्थ के १७ भाग उस वक्त निकल चुके थे और एक-एक भाग बड़े सुपर रायल के आकार के दो-दो हजार पृष्ठों से कम न होगा। और इन १७ भागों के उपरान्त उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों पर पचासों भाग छप चुके थे। इनमें से भी मैंने कई पढ़े। जिसने इस बड़े ग्रन्थ की रचना की, उसकी कल्पना-शक्ति कितनी प्रबल होगी, इसका केवल अनुमान किया जा सकता है। कहते हैं, ये कल्पनायें मौलाना फैजी ने अकबर के विनोदार्थ फ़ारसी में लिखी थीं। इसमें कितना सत्य है, कह नहीं सकता; लेकिन इतनी बृहद् कथा शायद ही संसार की किसी भाषा में हो। पूरी इंसाइक्लोपीडिया समझ लीजिये। एक आदमी तो अपने साठ वर्ष के जीवन में उनकी पूरी नकल भी करना चाहे, तो नहीं कर सकता। रचना तो दूसरी बात है।"

लेकिन पढ़ते समय धनपतराय ज़रूर सोचते होंगे कि मैं भी किसी ऐसी ही बृहद् रचना का निर्माण करूँ और इस विचार से उनकी कल्पना-शक्ति का विकास होता रहा।

लेकिन वे सिर्फ किस्से-कहानियां ही नहीं पढ़ते थे, इम्तहान पास करने के लिये स्कूली पुस्तकें भी पढ़नी होती थीं; लेकिन इन पुस्तकों से अधिकांश लड़कों की भांति उन्हें कोई विशेष रुचि न थी, तबीयत पर जब्र करके पढ़ते थे, इसलिये जो कुछ पढ़ते थे अकसर भूल जाते थे। अपनी कहानी 'आखिरी हीला' में लिखते हैं:—

"मेरी स्मरण-शक्ति, पृथ्वी के इतिहास की सारी स्मरणीय तारीखें भूल गईं जिन्हें रातों को जागकर और मस्तिष्क को खपाकर याद किया था।"

इसका कारण यह भी हो सकता है कि उन्हें गणित के अंकों से चिढ़ थी। वे गणित में कमजोर थे। दूसरे स्कूल में जो इतिहास पढ़ा था या पढ़ाया जाता है, उसमें सन वात् (संवत और तिथियों) के सिवा और कुछ होता ही नहीं, या फिर सम्राटों, नगरों और लड़ाइयों के नाम गिनवाये जाते हैं और उनसे जो घटनायें जोड़ दी जाती हैं, उन्हें इतना तोड़ मरोड़ कर पेश किया जाता है, कि उनमें कोई सिलसिला, कोई सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि, इस वर्ग विभाजित-समाज में इतिहास को चन्द अभिमानी व्यक्तियों अथवा सम्राटों का नाटक मात्र दिखाना अभिष्ट होता है। इस इतिहास के बारे में प्रेमचंद ने आगे चलकर अपना दृष्टि-कोण थोड़े शब्दों में; बड़ी स्पष्टता से वर्णन कर दिया है। "कहानी-कला" लेख में लिखा:—

"कहानी में नाम और सन् के सिवा और सब कुछ सत्य है, और इतिहास में नाम और सन् के सिवा कुछ भी सत्य नहीं।"

इसी लेख में दूसरी जगह लिखते हैं:—"हमारी आत्मा के विकास को शक्ति कहां से मिलती ? शक्ति तो संघर्ष में है। हमारा मन सब बाधाओं को परास्त करके अपने स्वाभाविक कर्म ,को, प्राप्त करने की सदैव चेष्टा करता रहता है। इसी संघर्ष से साहित्य की उत्पत्ति होती है।"

वास्तव में इतिहास भी साहित्य है, क्योंकि मनुष्य ने अपनी दीन-हीन आरम्भिक अवस्था से इस युग तक पहुँचने के लिये घोर-संघर्ष किया है और दुनियां को इस युग से भी सुन्दर और सम्पन्न बनाने के लिये अब भी उसका संघर्ष जारी है और जारी रहेगा। इतिहास इसी सतत् संघर्ष की कहानी है। शासक-वर्ग ने अपनी हित-रक्षा के लिये इस कहानी को इतना तोड़ा-मरोड़ा है कि उसे सर्वदा शुष्क और असुन्दर बना दिया है। उसे सत्य और रोचक बनाने के लिये नये सिरे से लिखने की आवश्यकता है। फिर उसे विद्यार्थी भी शौक़ से पढ़ेंगे। जिन देशों में वर्ग-विभाजित-समाज का अंत हो गया है, वहां इतिहास को इस ढंग से लिखा भी गया है क्योंकि उन्हें मानव संघर्ष को अपने

स्वाभाविक कर्म की ओर आगे बढ़ना अभिप्रेत है। रूस इस सिलसिले में दूसरे देशों का नेतृत्व कर रहा है; क्योंकि वर्ग-विभाजित-समाज का सबसे पहले वहां अंत हुआ है।

चूंकि इतिहास की स्कूली पुस्तकों में आत्मा को विकास की शक्ति प्रदान करने वाले संघर्ष का अभाव होता था और बेचारे धनपतराय आत्मा को गरमाने वाले मातृ-स्नेह से भी वंचित थे, इसलिये वे 'तिलस्मे होशरुबा' की कहानियों में अधिक रस लेते थे। गो वे तिलस्मी और काल्पनिक थीं; पर उनमें आत्मा को स्फूर्ति और प्रेरणा देनेवाली शक्ति मौजूद थीं। क्योंकि प्रेमचंद के अपने कथनानुसार:—

"आज से दो हज़ार बरस पहले यूनान के विख्यात दार्शनिक अफलातून ने कहा था "हर एक काल्पनिक रचना में मौलिक सत्य मौजूद रहता है।"

कहानियों के अतिरिक्त आत्मा को स्फूर्ति देने वाले दूसरे उपाय भी थे। शहर में देहात के गुल्ली डंडा की जगह गेंद ने ले ली थी। "दीक्षा" कहानी में लिखते हैं:—

"जब मैं स्कूल में पढ़ता था, गेंद खेलता था और अध्यापक महोदयों की घुड़कियाँ खाता था अर्थात् मेरी किशोरावस्था थी। न ज्ञान का उदय हुआ था और न बुद्धि का विकास।"

और मज़े की बात यह है कि इसी अवस्था में परम्परागत पिता ने बेटे का विवाह कर दिया। वे अधिकारियों से कह सुनकर फिर अपने गांव के डाकखाने में तब्दील हो गये थे और धनपतराय पैदल चलकर बनारस पढ़ने जाते थे। वे अभी मैट्रिक भी पास नहीं कर पाये थे कि पिता की मृत्यु हो गई। इसके उपरान्त प्रेमचन्द पर जो बीती, इसका उन्होने मार्मिक शब्दों में उल्लेख किया है। वे अपनी आत्म-कथा—'जीवनसार' लेख में लिखते हैं:—

"मेरा जन्म संवत् १९०७ में हुआ। पिता डाकखाने में क्लर्क थे। माता मरीज़, एक बड़ी बहिन भी थी। उस समय पिताजी शायद बीस रुपये पाते थे। चालीस तक पहुँचते-पहुँचते उनकी मृत्यु हो गई। यों वह बड़े विचार-शील, जीवन-पथ पर आंखें खोलकर चलने वाले व्यक्ति थे लेकिन आखिरी दिनों में एक ठोकर खा ही गये और खुद तो गिरे ही थे, उसी धक्के ने मुझे भी गिरा दिया। पन्द्रह साल की अवस्था में उन्होंने मेरा विवाह कर दिया और विवाह करने के साल ही भर बाद परलोक सिधारे। उस समय मैं नवें दरजे में पढ़ता था। घर में मेरी स्त्री थी, विमाता थीं, उनके दो बालक थे और आमदनी एक पैसे की नहीं। घर में जो कुछ पूंजी थी वह पिताजी की

छः महीने की बीमारी और क्रिया-कर्म में खर्च हो चुकी थी। मुझे अरमान था वकील बनने का और एम० ए० पास करने का। नौकरी उस ज़माने में भी इतनी दुष्प्राप्य थी, जितनी अब है। दौड़-धूप करके शायद दस बारह की कोई जगह पा जाता; पर यहां तो आगे पढ़ने की धुन थी—पांव में लोहे की नहीं, अष्टधात की बेड़िया थीं और मैं चढ़ना चाहता था पहाड़ पर।"

आगे बढ़ने की धुन में पढ़ना जारी रखा, और स्कूल जाने का चित्र इसी लेख में इस प्रकार खीचा है:—

"पांव में जूते न थे, देह पर साबित कपड़े न थे। मंहगी अलग थी, २०सेर के जौ थे। स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्विंस-कालेज में पढ़ता था। हेड मास्टर ने फीस माफ करदी थी। इम्तहान सिर पर था और मैं बांस के फाटक, एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे। चार बजे पहुँचता था। पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता। वहां से मेरा घर देहात में पांच मील पर था। तेज़ चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुंच सकता। प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था, कभी वक्त पर स्कूल न पहुंचता। रात को भोजन करके कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बांधे हुए था।

३

विद्यालय

"मन पर जितना ही गहरा आघात होता है, उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही गहरी होती है।"

जौ की रोटियां खाकर और फटे हालों रहकर धनपतराय ने मैट्रिक्यूलेशन तो पास कर लिया लेकिन उनकी मंजिल थी एम० ए० पास करना और वकील बनना। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उन्होंने साहस नहीं छोड़ा। अपनी इस मंज़िल तक पहुँचने के लिये उन्होंने बहुत-से पापड़ बेले किन्तु फिर भी असफल रहे। अपनी इस असफलता का ज़िक्र प्रेमचन्द ने स्वयं किया है और बड़े मार्मिक शब्दों में किया है :—

"मैट्रिक्यूलेशन तो किसी तरह पास हो गया लेकिन सेकिण्ड डिविज़न आया, क्विंस कॉलेज में भरती होने की आशा न रही। फीस केवल अव्वल दरजे वालों की ही मुआफ़ हो सकती थी। संयोग से उसी साल हिन्दू कॉलेज खुल गया था। मैंने इस नये कॉलेज में पढ़ने का निश्चय किया। प्रिंसिपल थे मि० रिचर्डसन। उनके मकान पर गया। वह पूरे हिंदुस्तानी वेष में थे। कुरता और धोती पहने फर्श पर बैठे कुछ लिख रहे थे। मगर मिजाज़ को तब्दील करना इतना आसान न था। मेरी प्रार्थना सुनकर—आधी ही कहने पाया था—बोले कि घर पर मैं कॉलेज की बातचीत नहीं करता, कॉलेज में आओ। ख़ैर, कालेज में गया। मुलाकात तो हुई; पर निराशाजनक। फ़ीस मुआफ़ न हो सकती थी। अब क्या करता? अगर प्रतिष्ठित सिफारशें ला सकता, तो शायद मेरी प्रार्थना पर कुछ विचार होता लेकिन देहाती युवक को शहर में जानता ही कौन था?

रोज़ घर से चलता कि कहीं से सिफ़ारिश लाऊँ; पर बारह मील की मंज़िल पार कर शाम को घर लौट आता। किससे कहूँ?

कई दिनों के बाद एक सिफारिश मिली। एक ठाकुर इन्द्र नारायणसिंह हिंदू-कालेज की प्रबंध-कारिणी सभा में थे। उनसे जाकर रोया। उन्हें मुझ पर दया आ गई। सिफारिशी चिट्ठी दे दी। उस समय मेरे आनंद की सीमा न थी। खुश होता हुआ घर आया। दूसरे दिन प्रिंसिपल से मिलने का इरादा था लेकिन घर पहुँचते ही मुझे ज्वर आ गया और दो सप्ताह से पहले न हिला। नीम का काढ़ा पीते-पीते नाक-में-दम आ गया। एक दिन द्वार पर बैठा था कि मेरे पुरोहितजी आ गये। मेरी दशा देख कर समाचार पूछा और तुरन्त खेतों में जाकर एक जड़ी खोद लाये और उसे धोकर और सात दाने काली-मिर्च के साथ पीसकर मुझे पिला दिया। उसने जादू का असर किया। ज्वर चढ़ने में घंटे ही भर की देर थी। इस औषधि ने मानो जाकर उसका गला ही दबा दिया। मैंने पंडित जी से बार-बार उस जड़ी का नाम पूछा। कहा—नाम बता देने से उसका असर जाता रहेगा।

एक महीने के बाद मैं फिर रिचर्डसन से मिला और सिफारिशी चिट्ठी दिखाई। प्रिंसिपल ने मेरी तरफ तीव्र नेत्रों मे देखकर पूछा:—

"इतने दिनों कहाँ थे?"

"बीमार हो गया था।"

"क्या बीमारी थी?"

मैं इस प्रश्न के लिये तैयार न था। अगर ज्वर बताता हूँ, तो शायद साहब मुझे झूठा समझें। ज्वर मेरी समझ में हल्की-सी चीज़ थी, जिसके लिये इतनी लम्बी ग़ैर-हाज़िरी अनावश्यक थी। कोई ऐसी बीमारी बतानी चाहिये, जो अपनी कष्टसाध्यता के साथ दया को भी उभारे। उस समय मुझे और किसी बीमारी का नाम याद न आया। ठाकुर इन्द्र नारायणसिंह से जब मैं सिफारिश के लिये मिला था, तो उन्होंने अपने दिल की धड़कन की बीमारी की चर्चा की थी। वह शब्द मुझे याद आ गया। मैंने कहा:—

"पैलपिटेशन आफ हार्ट, सर! (Pulpitation of heart sir?)"

साहब ने विस्मित होकर मेरी ओर देखा और कहा—"अब तुम बिलकुल अच्छे हो?"

"जी हाँ।"

"अच्छा प्रवेश-पत्र भरकर लाओ।"

मैंने समझा बेड़ा पार हुआ। फार्म लिया, खानापुरी की और पेश कर दिया। साहब उस समय कोई क्लास ले रहे थे। तीन बजे मुझे फार्म वापस मिला। उस पर लिखा था:—इसकी योग्यता की जांच की जाय।"

यह नई समस्या उपस्थित हुई। मेरा दिल बैठ गया। अंग्रेज़ी के सिवा और किसी विषय में पास होने की मुझे आशा न थी और बीज-गणित और रेखा-गणित से तो मेरी रूह कांपती थी। जो कुछ याद था, वह भी भूल-भाल गया था; लेकिन दूसरा उपाय ही क्या था? भाग्य का भरोसा करके क्लास में गया। प्रोफ़ेसर साहब बंगाली थे। अंग्रेज़ी पढ़ा रहे थे।

वाशिंगटन इर्विङ्ग का 'रिपिवान विंकिल' था। मैं पीछे की कतार में जाकर बैठ गया और दो ही चार मिनिट में मुझे ज्ञात हो गया कि प्रोफेसर साहब अपने विषय के ज्ञाता हैं। घंटा समाप्त होने पर उन्होंने मुझसे आज के पाठ पर कई प्रश्न किये और मेरे फार्म पर 'सन्तोषजनक लिख दिया।

दूसरा घंटा बीज-गणित का था। इसके प्रोफेसर भी बंगाली थे। मैंने अपना फार्म दिखाया। नई संस्थाओं में प्राय: वही छात्र आते हैं, जिन्हें कहीं जगह नहीं मिलती। यहाँ भी यही हाल था। क्लासों में अयोग्य छात्र भरे हुए थे। पहले रेले में जो आया, वह भरती हो गया। भूख में साग-पात सभी रुचिकर होता है। अब पेट भर गया था। छात्र चुन-चुनकर लिये जाते थे। इन प्रोफेसर साहब ने गणित में मेरी परीक्षा ली और मैं फेल हो गया। फार्म में गणित के खाने में 'असन्तोषजनक' लिख दिया।

मैं इतना हताश हुआ कि फार्म लेकर प्रिंसिपल के पास न गया। सीधा घर चला आया। गणित मेरे लिये गौरी-शङ्कर की चोटी थी। कभी उस पर न चढ़ सका। इण्टरमीडिएट में गणित में दो बार फेल हुआ और निराश होकर इम्तहान देना छोड़ दिया। दस-बारह साल के बाद जब गणित की परीक्षा ऐच्छिक हो गई तब मैंने दूसरे विषय लेकर उसे आसानी से पास कर लिया। उस समय तक यूनिवर्सिटी के इस नियम ने, कितने युवकों की आकांक्षाओं का खून किया, कौन कह सकता है! खैर, मैं निराश होकर घर तो लौट आया; लेकिन पढ़ने की लालसा अभी तक बनी हुई थी। घर बैठकर क्या करता? किसी तरह गणित को सुधारूँ और कालेज में भरती हो जाऊँ, यही धुन थी। इसके लिये शहर में रहना जरूरी था। संयोग से एक वकील के लड़कों को पढ़ाने का काम मिल गया। पाँच रुपये वेतन ठहरा। मैंने दो रुपये में अपना गुज़र करके तीन रुपये घर पर देने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी-सी कच्ची कोठरी थी। उसी में रहने की आज्ञा ले ली। एक टाट का टुकड़ा बिछा दिया। बाजार से एक छोटा-सा लैम्प लाया और शहर में रहने लगा। घर से कुछ बरतन भी लाया। एक वक्त खिचड़ी पका लेता और बरतन धो-

माँजकर लाइब्रेरी चला जाता। गणित तो बहाना था, उपन्यास आदि पढ़ा करता। पण्डित रतननाथ सरशार का "फिसाना आज़ाद" उन्हीं दिनों पढ़ा। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' भी पढ़ी। बङ्किम बाबू के उर्दू अनुवाद जितने पुस्तकालय में मिले सब पढ़ डाले। जिन वकील साहब के लड़कों को पढ़ाता था, उनके साले मेरे साथ मैट्रिक्यूलेशन में पढ़ते थे। उन्हीं की सिफारिश से मुझे यह पद मिला था। उनसे दोस्ती थी, इसलिये जब ज़रूरत होती, पैसे उधार ले लिया करता था। वेतन मिलने पर हिसाब हो जाता था। कभी दो रुपये हाथ आते, कभी तीन। जिस दिन वेतन के दो-तीन रुपये मिलते मेरा संयम हाथ से निकल जाता। तृष्णा हलवाई की दुकान की ओर खींच ले जाती। दो-तीन आने के पैसे खाकर ही उठता। उसी दिन घर जाता और दो-ढाई रुपये दे आता। दूसरे दिन से फिर उधार लेना शुरू कर देता लेकिन कभी-कभी उधार माँगने में भी संकोच होता और दिन-का-दिन निराहार व्रत रखना पड़ जाता।

इस तरह चार-पाँच महीने बीते। इस बीच में एक बजाज़ से दो ढाई रुपये के कपड़े लिये थे। रोज़ उधर से निकलता था। उसे मुझ पर विश्वास हो गया था। अब महीने-दो-महीने निकल गये और मैं रुपये न चुका सका तो मैंने उधर से निकलना ही छोड़ दिया। चक्कर देकर निकल जाता। तीन साल के बाद उसके रुपये दे सका। उसी ज़माने में शहर का एक बेलदार मुझसे कुछ हिन्दी पढ़ने आया करता था। वकील साहब के पिछवाड़े उसका मकान था। 'जान लो भैया' उसका सुखन तकिया था। हम लोग उसे 'जान लो भैया' ही कहा करते थे। एक बार मैंने उससे भी आठ आने उधार लिये थे। वह पैसे उसने मुझसे पाँच साल बाद मेरे घर गाँव में जाकर वसूल किये। मेरी अब भी पढ़ने की इच्छा थी लेकिन दिन-दिन निराश होता जाता था। जी चाहता था, कहीं नौकरी कर लूँ। पर नौकरी कैसे मिलती है और कहाँ मिलती है, यह न जानता था।

जाड़ों के दिन थे। पास एक कौड़ी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का खाकर काटे थे। मेरे महाजन ने उधार देने से इन्कार कर दिया था संकोचवश मैं उससे माँग न सका था। चिराग़ जल चुके थे। मैं एक बुकसेलर की दुकान पर एक किताब बेचने गया। एक चक्रवर्ती-गणित-कुञ्जी दो साल हुये खरीदी थी, अब तक उसे बड़े जतन से रखे हुये था; पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी; लेकिन एक रुपये पर सौदा ठीक हुआ। मैं रुपया लेकर दुकान से उतरा ही

था कि एक बड़ी-बड़ी मूँछों वाले सौम्य-पुरुष ने, जो उस दुकान पर बैठे हुये थे, मुझसे पूछा :—

"तुम कहाँ पढ़ते हो ?"

मैंने कहा—"पढ़ता तो कहीं नहीं; पर आशा करता हूँ कि कहीं नाम लिखवालूँ।"

"मैट्रिक्यूलेशन पास हो ?"

"जी हाँ ?"

"नौकरी करने की इच्छा तो नहीं है ?"

"नौकरी कहीं मिलती ही नहीं !"

यह सज्जन एक छोटे से स्कूल के हेड मास्टर थे। उन्हें एक सहकारी अध्यापक की ज़रूरत थी। अठारह रुपये वेतन था। मैंने स्वीकार कर लिया। अठारह रुपये उस समय मेरी निराशा-व्यथित कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उड़ान से भी ऊपर थे। मैं दूसरे दिन हेड मास्टर से मिलने का वायदा करके चला, तो पाँव ज़मीन पर न पड़ते थे। यह सन् १८९९ की बात है। परिस्थितियों का सामना करने को तैयार था और गणित में अटक न जाता तो अवश्य आगे जाता; पर सब से कठिन परिस्थिति यूनिवर्सिटी के मनोवैज्ञानिक जानकारी की थी, जो उस समय और उसके कई साल बाद तक उस डाकू का-सा व्यवहार करती थी, जो छोटे-बड़े सभी को एक खाट पर सुलाता था।"

धनपतराय ने निस्संदेह यही समझा होगा कि गणित ने अरमान खाक में मिला दिये और अकस्मात नौकरी मिल जाने-से वह प्रारब्ध पर भी विश्वास ले आये थे। विश्वास ले आना स्वाभाविक था क्योंकि अंधी-दरिद्रता का प्रारब्ध ही एक सहारा है।

लेकिन बाद में जब आजीवन ही कामनाएं धूलिसात् होती रहीं और प्रेमचन्द बन कर भी प्रतिकूल परिस्थितियों में इच्छा के विरुद्ध काम करना पड़ा, तो मालूम हुआ कि अरमान खाक में मिलाने वाली शक्तियाँ बहुत ही बलवान् हैं, जो गणित के पीछे छिपी हुईहैं; जिनसे लड़ना परमावश्यक है। पाँच सौ पृष्ठ का उपन्यास 'गोदान' इन्ही अरमानों के खाक में मिलने की कहानी है। होरी की असफलताए प्रेमचंद की अपनी असफलताएं हैं। इस उपन्यास में उन्होंने एक वाक्य लिखा है, जो सारे उपन्यास का निचोड़ है, और धनपतराय की इस मनोदशा को भली प्रकार व्यक्त करता है :—

"जीवन की ट्रेजेडी और इसके सिवा क्या है कि आप की आत्मा जो काम करना नहीं चाहती, वही आपको करने पड़े।"

इस 'ट्रेजेडी' को अनुभव करते हुए उन्होंने इस ज़माने के हालात छोटे-से लेख में काफ़ी विस्तार से बयान किये हैं। मगर उनके जीवन का यह चित्र अभी अधूरा है। घर पर विमाता थी जिसे वह चाची कहते थे। पति की मृत्यु से उनके अरमान भी खाक में मिले थे। धनपतराय की अपनी पत्नी थी। जब पति इस प्रकार दीन-हीन दशा में दिन काट रहा था तो इस युवा स्त्री के अरमान भी खाक में मिल रहे थे। उसके बारे में प्रेमचंद ने सीधे ढंग से कुछ नहीं लिखा; लेकिन पत्नी उनके जीवन का अंग थी, इसलिये उसके अरमानों का खून होता देखें और महसूस न करें! असम्भव था। पिता की मृत्यु के उपरान्त विमाता के जज़बात 'अलग्योझा' कहानी में भली प्रकार वर्णन किये हैं। केकिन जीवन-कथा तो नहीं होती। अपने जीवन का चित्रण करते हुए भी कहानी के आग्रह के अनुसार उसमें कुछ परिवर्तन करना पड़ता है। नाम ही भिन्न नहीं होते, कथानक की सुविधा के अनुसार वातावरण भी बदल दिया जाता है। घटनायें और पात्र इने-गिने वही नहीं होते, लेकिन उनकी तह में जो यथार्थता वर्णन की जाती है, वह एक ही होती है। इसलिये उपकरणों की बजाय यथार्थ वस्तु को ध्यान में रखने की आवश्यकता है। लिखते हैं :—

"पन्ना के चार बच्चे थे—तीन बेटे और एक बेटी। इतना बड़ा खर्च और कमाने वाला कोई नहीं। रग्घू अब क्यों बात पूछने लगा। यह मानी हुई बात थी कि वह अपनी स्त्री लायगा और अलग रहेगा। स्त्री आकर और भी आग लगायेगी। पन्ना को चारों ओर अंधेरा ही दिखाई न देता था; पर कुछ भी हो, वह रग्घू की आश्रिता बनकर घर में न रहेगी। जिस घर में उसने राज किया, उसमें लौंडी न बनेगी। जिस लौंडे को अपना ग़ुलाम समझा, उसका मुँह न ताकेगी। वह सुन्दर थी, अवस्था अभी कुछ ज्यादा न थी। जवानी अपनी पूरी बहार पर थी। क्या वह कोई दूसरा घर नहीं कर सकती? यही न होगा, लोग हँसेंगे। बला से! उसकी बिरादरी में क्या ऐसा होता नहीं। ब्राह्मण, ठाकुर थोड़े थी कि नाक कट जायेगी। वह तो संसार को दिखाकर दूसरा घर कर सकती थी। फिर वह रग्घू की दबैल बन कर क्यों रहे?

भोला को मरे एक महीना बीत चुका था। संध्या हो गई थी। पन्ना इसी चिंता में पड़ी हुई थी कि सहसा उसे विचार आया बच्चे घर में नहीं

हैं। यह बैलों के लौटने की बेला है, कहीं कोई बच्चा उनके नीचे न आ जाय। अब द्वार पर कौन है; जो उनकी देख-भाल करेगा। रग्घू को मेरे लड़के फूटी आँखों नहीं भाते। कभी हँस कर नहीं बोलता। घर से बाहर निकली, तो देखा, रग्घू सामने झोंपड़े में बैठा—ऊख की गंडेरियां बना रहा है। तीनों लड़के उसे घेरे खड़े हैं और छोटी लड़की उसकी गर्दन में हाथ डाले उसकी पीठ पर चढ़ने की चेष्टा कर रही है। पन्ना को अपनी आँखों पर विश्वास न आया। आज तो यह नई बात है। शायद दुनियां को दिखाता है कि मैं अपने भाइयों को कितना चाहता हूँ और मन में छुरी रखी हुई है। घात मिले तो जान ही ले ले। काला सांप है, काला सांप। कठोर स्वर में बोली—"तुम सब के सब वहाँ क्या करते हो? घर में आओ, साँझ की बेला है, गोरू आते होंगे।

रग्घू ने विनीत नेत्रों से देखकर कहा—मैं तो हूँ ही काकी, डर किस बात का है?

बड़ा लड़का केदार बोला—काकी, रग्घू दादा ने हमारे लिये दो गाड़ियां बनादी हैं। यह देख, एक पर हम और खुन्नू बैठेंगे, दूसरी पर लछमन और झुनियां। दादा दोनों गाड़ियां खींचेंगे।

यह कहकर वह एक कोने से दो छोटी-छोटी गाड़ियां निकाल लाया, चार-चार पहिये लगे थे, बैठने के लिये तख्ते और रोक के लिये दोनों तरफ बाजू थे।

पन्ना ने आश्चर्य से पूछा—यह गाड़ियां किसने बनाईं?

केदार ने चिढ़कर कहा—रग्घू दादा ने बनाईं, और किसने भगत के घर से बसूला और रुखानी मांग लाये थे और झटपट बना दी। खूब दौड़ती हैं काकी। बैठ खुन्नू, मैं खींचूँ।

खुन्नू गाड़ी में बैठ गया। केदार खींचने लगा। चर-चर का शोर हुआ, मानो गाड़ी भी इस खेल में लड़कों के साथ शरीक हो। लछमन ने दूसरी गाड़ी में बैठकर कहा—दादा खींचो।

रग्घू ने झुनिया को भी गाड़ी में बैठा दिया और गाड़ी खींचता हुआ दौड़ा। तीनों लड़के तालियां बजाने लगे। पन्ना चकित नेत्रों से यह दृश्य देख रही थी और सोच रही थी, कि यही वह रग्घू है या और।"

वास्तव में यह प्रेमचंद का अपना चित्र है। यह निःस्वार्थ [illegible]वा और सज्जनता, अपढ़ देहातियों के अंग-अंग में रमी रहती है, जिसका परिचय रग्घू

ने ही नहीं, 'यंत्र' का बूढ़ा भगत भी देता है और 'महातीर्थ' की गरीब दाया देती है।

धनपतराय का जीवन इन्हीं देहातियों मे व्यतीत हुआ था इसलिये त्याग और सेवा उसके जीवन का अंग बन गये थे। और इसी कारण प्रेमचंद इस नतीजे पर पहुँचे थे, 'गोदान' में लिखते हैं :—

"किसान पक्का स्वार्थी होता है, इसमें सन्देह नहीं।.........;लेकिन प्रकृति में स्थायी सहयोग है। वृक्षों में फल लगते हैं, उन्हें जनता खाती है। खेतों में अनाज होता है, वह संसार के काम आता है। गाय के थन में दूध होता है, उससे पृथ्वी तृप्त होती है। ऐसी संगति में कुत्सित स्वार्थ के लिये कहाँ स्थान।

इसी उपन्यास में दूसरी जगह लिखा है—"सभी मनस्वी प्राणियों में त्याग की भावना छिपी रहती है और प्रकाश पाकर चमक उठती है।"

धनपत ने भी प्राकृतिक दृश्यों में अपनी आत्मा को सम्पन्न किया था और प्रकाश में रहकर जीवन बिताया था, इसीलिये उनमें यह भावना आप-ही-आप पलती रही, चमकती रही, कभी क्षीण न हुई। वे विमाता और उनके बेटों की सहायता हमेशा करते रहे। विमाता अपने छोटे भाई को भी साथ लाई थी, जो वहीं रहता और पलता था। जब ट्यूशन म केवल पाँच रुपये पाते थे तो ढाई रुपयें घर दे आते थे। जब अठारह रुपये की नौकरी मिल गई, तो आधा वेतन या इससे भी अधिक घर भेजते रहे। यह बचत करते समय उन्हें कितनी कठिनता का सामना होता था, उसका अनुमान 'माँगे की घड़ी' कहानी के नायक के कठिन जीवन से लगाया जा सकता है। जो अपने मित्र की खोई हुई घड़ी का मूल्य चुका देने के लिये अपना जिगर काटकर अल्प-वेतन में से प्रतिमास आधे रुपये बचाता है।

धनपतराय मूछों वाले सज्जन और गम्भीर मनुष्य की सहायता से मास्टर हो गये। अब वहाँ कैसे रहते-सहते थे। इसका चित्रण 'माँगे की घड़ी' में इस प्रकार किया है :—

"मैं दूसरे ही दिन एक सस्ते होटल में उठ गया। यहाँ १२) रु० में ही प्रबन्ध हो गया। सुबह को दूध और चाय से नाश्ता करता था। अब छटाँक भर चनों पर बसर होने लगी। १२) रु० तो यों बचे, पान सिगरेट आदि कीमत में [illegible] रु० और कम किये और महीने के अंत में साफ पन्द्रह बचा लिये। यह विकट तपस्या थी। इन्द्रियों का निर्दय दमन ही नहीं, पूरा संन्यास था। पर जब मैंने ये १५) रु० ले जाकर दानू बाबू के हाथ में रखे,

तो ऐसा जान पड़ा, मानों मेरा मस्तक ऊँचा हो गया। ऐसे गौरव-पूर्ण आनंद का अनुभव मुझे जीवन में कभी न हुआ था।"

यह गौरव-पूर्ण आनन्द अनुभव करने वाला व्यक्ति धनपत राय है। वेतन १५) रु० नहीं तो कम-से-कम नौ-दस रुपये किसी ढङ्ग से घर भेजे हैं। घड़ी खो जाना तो एक बहानामात्र है। जो आदमी दिखाने के लिये घड़ी खोदे और उसे विवश होकर उसका मूल्य चुकाना पड़े, वह ऐसा गौरव-पूर्ण आनन्द अनुभव नहीं कर सकता। यह तो प्रेमचन्द का अपना त्याग है, जीवन का अनुभव हैं। और रुपये भेज देने के उपरान्त की मनोदशा का वर्णन चित्रण इस प्रकार किया है :—

"यहाँ से लौटा, तो मुझे अपने हृदय में एक नवीन बल, एक विचित्र स्फूर्ति का अनुभव हो रहा था। अब तक जिन इच्छाओं को रोकना कष्टप्रद जान पड़ता था, अब उनकी ओर ध्यान भी नहीं जाता था। जिस पान की दुकान को देखकर चित्त अधीर हो जाता था, उसके सामने से आज मैं सिर उठाये निकल जाता था, मानो अब मैं उस सतह से कुछ ऊँचा उठ गया हूँ। सिगरेट, चाय और चाट अब इनमें से किसी पर भी चित्त आकर्षित न होता था। प्रातःकाल भीगे हुए चने, दोनों जून रोटी और दाल। बस, इसके सिवा मेरे लिये और सभी चीजें त्याज्य थीं; सबसे बड़ी बात तो यह थी कि मुझे जीवन में विशेष रुचि हो गई थी। मैं जिंदगी से बेजार, मौत के मुँह का शिकार बनने का इच्छुक न था। मुझे ऐसा आभास होता था कि मैं जीवन में कुछ कर सकता हूँ।"

"लाटरी" कहानी के इन शब्दों से भी इस बात का समर्थन होता है :—

"मैं उन दिनों स्कूल मास्टर था। बीस रुपये मिलते थे। दस घर भेज देता था। दस में लस्टम-पस्टम अपना गुजारा करता था। ऐसी दशा में पांच रुपये का टिकट खरीदना मेरे लिये सफेद हाथी खरीदना था।"

इधर प्रेमचन्द घर वालों के लिये त्याग करके अद्वितीय महानता का अवलोकन कर रहे थे, उधर उनकी स्त्री का रवैया बिल्कुल भिन्न था। उसके रवैये की व्याख्या के लिये हम फिर 'अलग्योझा' कहानी की ओर लौटते हैं। पन्ना के कहने-सुनने से रग्घू ने पिता की मृत्यु के थोड़े समय बाद विवाह कर लिया था। उसकी स्त्री मुलिया के बारे में लिखते हैं :—

"मुलिया मैके से ही जली-भुनी आई थी, मेरा शौहर छाती फाड़कर काम करे और पन्ना रानी बनी बैठी रहे। उसके लड़के रईसजादे बने घूमें। मुलिया से यह बरदाश्त न होगा। वह किसी की गुलामी न करेगी। अपने लड़के तो

अपने होते ही नहीं; भाई किसके होते हैं। जब तक पर नहीं निकलते हैं, रग्घू घेरे हुए हैं। ज्योंही जरा सयाने हुए, पर झाड़कर निकल जायेंगे, बात भी न पूछेंगे।"

एक दिन उसने रग्घू से कहा—तुम्हें इस तरह गुलामी करनी हो तो करो, मुझ से न होगी।

रग्घू—तो फिर क्या करूँ, तू ही बता? लड़के तो अभी घर का काम करने के लायक भी नहीं हैं।

मुलिया—लड़के रावत के हैं, कुछ तुम्हारे नहीं हैं। यही पन्ना है जो तुम्हें दाने-दाने को तरसाती थी। सब सुन चुकी हूँ। मैं लौंडी बनकर न रहूँगी। रुपये पैसे का मुझे कुछ हिसाब नहीं मिलता। न जाने तुम क्या लाते हो और वह क्या करती है। तुम समझते हो रुपये घर ही में तो हैं; मगर देख लेना तुम्हें जो एक फूटी कौड़ी भी मिले।

रग्घू—रुपये-पैसे तेरे हाथ में देने लगूँ, तो दुनिया क्या कहेगी, यह तो सोच?

मुलिया—दुनियां जो चाहे कहे। दुनियां के हाथों बिकी नहीं हूँ। देख लेना भाड़ लीपकर हाथ काला ही रहेगा। फिर तुम अपने भाइयों के लिये मरो, मैं क्यों मरूँ।

लेकिन प्रेमचन्द ने अपना रवैया नहीं बदला। गो उनका अपना भी मुश्किल से पूरा पड़ता था; पर जीवन भर सौतेली माँ और भाईयों की सहायता करते रहे।

: ४ :

स्कूल--मास्टर

"वह शुभ घड़ियाँ जिनसे हमारे जीवन में नवयुग का सूत्रपात्र होता है, हमारी भावनाओं में सहृदयता और विश्वास उत्पन्न करती हैं......।"

—प्रेमचंद

अब प्रेमचंद स्कूल मास्टर थे मगर वह इससे संतुष्ट नहीं थे; क्योंकि उन्होंने नौकरी स्वेच्छा से नहीं की थी, विरोधी परिस्थितियों ने बलात् इस ओर धकेल दिया था। शिक्षा अधूरी रह जाने की फाँस मन में अटकी हुई थी। वह कोई-न-कोई बहाना करके इस जिदंगी से छुटकारा चाहते थे; लेकिन हेड मास्टर सहृदय व्यक्ति था, उसने समझा-बुझाकर उन्हें काम पर लगाये रखा। प्रेमचंद ने 'होली-की-छुट्टी' कहानी में शुरू की कैफियत पर इस प्रकार प्रकाश डाला है:—

"मैट्रिक्यूलेश पास करने के बाद मुझे एक प्राइमरी मदरसे में जगह मिल गई, जो मेरे घर से ग्यारह मील पर था। हमारे हेड मास्टर को छुट्टियों में भी लड़कों को पढ़ाने का खब्त था......अप्रैल में सालाना इम्तहान होने वाले थे। इसलिये जनवरी ही से हाय-तोबा मची हुई थी। सहकारी अध्यापकों पर इतनी कृपा थी कि रात की क्लासों में उन्हें न बुलाया जाता था; मगर छुट्टी बिलकुल न मिलती। सोमती-अमावस आई और निकल गई। शिव रात्रि आई और चली गई......इसलिये मुझे कई महीनों से घर जाने का अवसर न मिला था; मगर अब के मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि होली पर अवश्य घर जाऊँगा; चाहे नौकरी से हाथ ही क्यों न धोना पड़े। मैंने एक सप्ताह पहले ही हेड मास्टर को अल्टीमेटम दे दिया कि २० मार्च को होली की छुट्टी शुरू होगी और १९ की शाम को मैं चला जाऊँगा। हेड मास्टर साहब ने मुझे समझाया कि अभी लड़के हो, तुम्हें क्या मालूम नौकरी कितनी मुश्किलों से मिलती है और कितनी मुश्किलों से चलती

है। नौकरी पाना इतना कठिन नहीं जितना कि उसका निभाना, अप्रैल में इम्तहान होने वाले हैं। तीन-चार दिन बंद रहा, तो बताओ कितने लड़के पास होंगे। साल भर की सारी मेहनत पर पानी फिर जायेगा कि नहीं। मेरा कहा मानो इस छुट्टी में न जाओ। इम्तहान के बाद जो छुट्टी आये उसमें चले जाना। ईस्टर की चार छुट्टियाँ होंगी, मैं एक दिन के लिये भी न रोकूँगा। मैं अपने मोर्चे पर कायम रहा। उपदेश और डर किसी बात का मुझ पर कुछ प्रभाव न पड़ा। १६ को जैसे ही मदरसा बंद हुआ, मैंने हेड मास्टर को सलाम भी न की। और चुपके से अपने निवास-स्थान पर चला आया। उन्हें नमस्ते करते जाता, तो वह एक-न-एक काम निकल कर मुझे रोक लेते। रजिस्ट में फीस का जोड़ करते जाओ, औसत हाज़िरी निकालते जाओ, छात्रों की निबंध की कापियाँ जमा करके, उनमें सुधार कर दो और तारीख आदि डाल दो। जैसे यह मेरी अंतिम यात्रा हो और जीवन के सारे काम भी समाप्त कर देने चाहियें।"

इस उद्धरण में प्रेमचन्द ने स्कूल-मास्टर के ऐसे काम गिनवाये हैं, जिनमें उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं थी। वह इससे अच्छा और बेहतर काम करना चाहते थे। निबन्ध की कापियों में सुधार करने की अपेक्षा एम० ए० पास करके वकील बनना चाहते थे। अगर यह नहीं हो सका, तो वह यहाँ क्यों झक मारते रहें। नौकरी से विरक्त कर देने वाली दूसरी बात थी—अल्प वेतन। इससे वह बहुत क्षुब्ध रहते थे। 'बोझ' कहानी में लिखते हैं:—

"पण्डित चन्द्रधर ने एक अंपर प्राइमरी मुदर्रिसी तो करली थी, किन्तु सदा पछताया करते कि कहाँ से इस जंजाल में आ फँसे। यदि किसी अन्य विभाग में नौकर होते तो अब तक हाथ में चार पैसे होते, आराम से जीवन व्यतीत होता। यहाँ तो महीने भर प्रतीक्षा करने के पीछे कहीं पन्द्रह रुपये देखने मिलते हैं। वह भी इधर आये, उधर गये। न खाने का सुख, न पहनने का आराम। हमसे तो मजूर ही भले।"

खाने-पहिनने का सुख न होते हुए हम देख चुके हैं कि उन्हें सौतेली माँ और भाइयों की सहायता करके यह सन्तोष प्राप्त हो गया था कि मैं भी दुनियाँ में कुछ कर सकता हूँ। दूसरे हेडमास्टर सज्जन और सहृदय थे। इसलिए नौकर निभाते रहे मगर एम० ए० पास करने का अरमान कांटा बनकर मन में खटकता रहा और उन्होंने मानसिक रूप से परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा। अपनी एक कहानी "लाल-फीता" में लिखते हैं:—

"मगर हरिविलास के मन में पढ़ने की जो उत्कट अभिलाषा थी वह

गर्मी-सर्दी की परवाह न करती थी। उस दृढ़ निश्चय के साथ, जो प्राय: निर्धन विद्यार्थियों का विशेष गुण है, वह कालेज में भरती हो गया था। वह एक रईस के लड़के पढ़ाकर शिक्षा का खर्च पूरा कर लिया करता था। क्रमश: कई बार उसे एक साथ बड़ी रकमों की जरूरत पड़ती थी।"

प्रेमचन्द अपने मन में आगे पढ़ने की क्या-क्या योजनायें बनाते थे और उन्हें कौन-कौनसी कठिनाइयाँ दीख पड़ती थीं—यह इस उद्धरण से स्पष्ट है। हरिविलास खुद उन्हीं का प्रतिनिधि है, जो यथार्थ स्थिति के विरुद्ध अथक संघर्ष जारी रखता है। वह किसी भी परिस्थिति में हार मानने को तैयार नहीं। अंत में उसके दृढ़ निश्चय को जीन होती है। यही हरिविलास हमें फिर 'हार की जीत' कहानी में मिलता है। उस समय वह पढ़ाई समाप्त कर चुका है, एम० ए० पास करके कालेज में प्रोफेसर है और सम्पन्न-जीवन बिता रहा है। उसके बारे में उसकी बेटी लज्जावती बड़े ही गर्व से कहती है :—

"बाबूजी ने केवल अपने अविरल परिश्रम और अध्यवसाय से यह पद प्राप्त किया है।"

'आदर्श विरोध' कहानी के नायक दयाकृष्ण भी उन्हीं का प्रतिनिधित्व कर रहे मालूम होते हैं। वह वकील बनकर अपनी बुद्धि और अपना यश देश और जनता की सेवा में लगाते हैं। उनके बारे में लिखा है :—

प्रेमचन्द को सम्पन्न-जीवन बिताना सारी उम्र नसीब न हुआ लेकिन वह अपने लिए और देश की जनता के लिए सदा सम्पन्न और समृद्ध जीवन के स्वप्न देखते ही रहे। अपने इन स्वप्नों को यथार्थ बनाने के लिए संघर्ष करते रहे। उन्होंने इस प्राइमरी मदरसे की नौकरी करते हुए दो बार इंटरमीडिएट का इम्हतान दिया और दोनों बार फेल हो गए।

लेकिन पढ़ाई जारी रखने की शीघ्र ही एक दूसरी सूरत पैदा हो गई। दो तीन वर्ष की सर्विस के बाद प्राइमरी स्कूल के अध्यापकों को सरकारी तौर पर ट्रेनिंग दी जाती थी। प्रेमचन्द भी सन् १९०२ में ट्रेनिंग-कालेज, इलाहाबाद में भरती हो गए।

प्रेमचन्द के एक सहपाठी बाबू कृष्णलाल ने "ज़माना" (उर्दू) कानपुर 'प्रेमचन्द अंक' में इस बारे में एक लेख लिखा है। जिसमें वह बताते हैं :—

"महाशय दयाकृष्ण मेहता के पाँव जमीन पर न पड़ते थे। उनकी वह आकांक्षा पूरी हो गई थी जो उनके जीवन का मधुर स्वप्न थी।"

"प्रेपरेटरी क्लास (Prepratary class) में दाखिल होने वाले इंट्रेंस

पास उम्मीदवार एक साल इसी क्लास में तालीम पाते थे, और दूसरे साल जूनियर क्लास में। उस समय युक्तप्रान्त में एक ही ट्रेनिङ्ग कालेज था। उसके प्रिंसिपल सर्वप्रिय मिस्टर कैम्पलस्टर अपने शिष्यों के सच्चे शुभ-चिन्तक और सहायक थे। यहाँ से १६०५ में प्रेमचंद जूनियर क्लास की परीक्षा दरजा अव्वल में पास करके जूनियर सार्टिफिकेटिड J. C. टीचर की सनद लेकर निकले······!"

प्रिंसिपल साहब आपसे बहुत प्रसन्न थे। इसलिये उन्होंने आपको ट्रेनिंग कालेज के माडल-स्कूल का हेड मास्टर नियुक्त कर दिया। उस समय मैं भी ट्रेनिंग-कालेज सीनियर क्लास में पढ़ता था। हम सब लोग अर्थात् माडल-स्कूल के अध्यापक कालेज स्कूल के होस्टल में रहते थे। इसको आध्यात्मिक आकर्षण समझना चाहिये। मेरा मुन्शी साहब से खास तौर पर परिचय हुआ और शीघ्र ही मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गया। आप स्वभाव ही से बड़े मननशील और चतुर बुद्धि थे।"

हिंदुस्तान में अंग्रेज़ आते थे, चूकि वे शासक-वर्ग से सम्बन्ध रखते थे, इसलिये प्रेमचंद उनसे घृणा करते थे। कहीं भी अच्छे शब्दों में उनका उल्लेख नहीं किया लेकिन अपनी 'होली-की-छुट्टी' कहानी में एक अंग्रेज़ का ज़िक्र बड़े आदर-सम्मान से किया है। लिखते हैं :—

"मिस्टर जैक्सन से कई बार मिल चुका हूँ। उसकी सज्जनता ने मुझे उसका अनन्य भक्त बना दिया है। मैं उसे मनुष्य नहीं, देवता समझता हूँ।"

यह देव-तुल्य अंग्रेज़ संभवतः ट्रेनिंग कालेज का प्रिंसिपल था जो अपनें छात्रों का सच्चा शुभ-चिंतक था। उसने प्रेमचंद के मन में पढ़ने और आगे बढ़ने की प्रेरणा को उत्साह दिया था।

उनके ट्रेनिंग कालेज के जीवन पर कुछ प्रकाश सम्पादक 'ज़माना' ने भी डाला है। वह लिखते हैं :—

"उन्होंने सन् १६०४ में जूनियर इंग्लिश टीचर्ज सर्टीफिकेट का इम्तहान अव्वल दरजे में पास किया। उसके सर्टीफिकेट की तारीख पहली जुलाई सन् १६०५ में जिस पर मिस्टर जे० सी० कम्पस्टर प्रिंसिपल और मिस्टर बेकन इंस्पेक्टर मदरास अलाहाबाद सरकिल के दस्तखत हैं। ये शब्द उल्लेखनीय हैं:—

Not qualified to teach mathamatics, conduct satisfactory and regular. He worned earnestly and well.

अर्थात् परीक्षकों ने इस सर्टीफिकेट में साफ लिख दिया है कि गणित पढ़ाने की योग्यता नहीं, मगर चाल चलन संतोषजनक है। समय का पाबंद

रहकर अपना काम बड़े परिश्रम से भली प्रकार करते रहे ।

सन् १६०४ में औरियंटल इलाहाबाद यूनिवर्सिटी का स्पेशल वर्नेकुलर इम्तहान भी उर्दू-हिंदी में पास किया । इंटरमिडिएट का इम्तहान कई बार दिया; लेकिन हर बार गणित में असफल रहे । आखिर जब यह विषय आवश्यक नहीं रहा और ऐच्छिक हो गया, तो सन् १६१० में उसे भी सेकिंड डिविज़न में पास कर लिया । इस समय वह गवर्नमेंट स्कूल में सहकारी अध्यापक थे । इंटरमिडिएट में उनके विषय थे अंग्रेजी, दर्शन, फ़ारसी और वर्तमान काल का इतिहास ।

नौ साल के बाद सन् १६०६ में जब गोरखपुर में टीचर थे तो इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की परीक्षा बी० ए० भी द्वितीय श्रेणी में पास की । इस बार उनके विषय थे :—अंग्रेजी, फ़ारसी और इतिहास ।"

परीक्षाएं तो उन्होंने ज़रूर पास कीं; लेकिन वह परीक्षा पास करने के लिये नहीं पढ़ते थे । उनके लिये शिक्षा, जीवन को सफल बनाने का साधन थी । इसलिये पढ़ने के लिये परीक्षा पास करते थे । पढ़ने की लगन का अंदाज़ा उनके एक छोटे से उद्धरण से लग सकता है । अपनी 'त्यागी का प्रेम' कहानी में लिखते हैं :—

लाला गोपीनाथ को युवावस्था में ही दर्शन से प्रेम हो गया था । अभी यह इंटरमीडियेट क्लास में थे कि मिल और बर्कले के वैज्ञानिक विचार उनको कंठस्थ हो गये थे ।"

बाबू कृष्णलाल ने अपने लेख में आगे लिखा है :—

"मुन्शी प्रेमचन्द शुरू ही से पुस्तकाध्ययन के बड़े प्रेमी थे । एक दिन मेरे साथ मिस्टर सच्चिदानंद सिनहा बैरिस्टर से भेंट की ताकि समय-समय पर उनके पुस्तकालय से लाभ उठाते रहें । एक बार उन्हीं से मौलवी जकाअल्लाह साहब की 'तारीखे हिंद' ले आये और चंद ही रोज़ में उसके तीनों अथवा चारों बृहद् भाग समाप्त कर डाले और इतने ध्यान से पढ़े, जैसे इस पर कोई आलोचनात्मक लेख लिखना है ।"

दूसरे स्थान पर लिखा है:—

"जिस प्रकार उनका रहन-सहन सादा था, स्वभाव और सदाचार भी सीधा, सच्चा और आडम्बर रहित था । सहृदयता आपके स्वभाव का अंग थी । आवाज़ बुलंद थी और ख्वाह-मख्वाह किसी से दबने वाले मनुष्य न थे । होस्टल में किसी से लड़ने-झगड़ने पर बाद में उन्हें कभी किसी से अशिष्ट

और असभ्य बात-चीत करते हुए भी नहीं देखा गया। नौकरों से भी शिष्टता का व्यवहार करते थे।

पढ़ते-लिखते समय प्रायः अपना कमरा भीतर से बंद कर लिया करते थे और मनोरंजन के समय दिल खोल कर रंजन करते······।"

'फ़िराक़' गोरखपुरी ने भी उनके अध्ययन के शौक़ पर प्रकाश डाला है। लिखते हैं:—

"प्रेमचंद किसी विशेष नियम से पुस्तकें नहीं पढ़ते थे।" उन्हें, अधिकांश उन्हीं पुस्तकों और उपन्यासों से दिलचस्पी होती थी, जो रस्मो-रिवाज, परम्पराओं, ऐतिहासिक घटनाओं और जीवन के दूसरे पहलुओं को सरल और रोचक ढंग से पेश करती थीं। इसमे उनकी जिज्ञासा, खोज और साहित्य-प्रियता का भी पता चलता है।"

मिरज़ा फ़िदा अली 'खंजर' लखनवी नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में उनके सहकारी थे, वे लिखते हैं:—

"वह पुरानी कहानियों और किस्सों को बहुत ज्यादा पसन्द करते थे। चुनांचे जब कभी उनकी रुचि के अनुसार छोटी-मोटी पुस्तक मिल जाती, तो मैं उनकी सेवा में भेंट कर देता। वह प्रसन्न हो जाते और अत्यंत चाव से पढ़ते। जब वापिस करने लगते तो उसके बारे में अपने विचार प्रकट करते। यह विचार उनकी आलोचना-शक्ति के सबूत होते थे।"

ट्रेनिंग कालेज की परीक्षा पास करने के बाद, उन्हें वहीं मिडल स्कूल का हेड मास्टर, नियुक्त कर दिया। लड़के उन्हें मास्टर धनपतराय और मित्रगण बाबू धनपतराय कहते थे। लड़कपन चला गया था, जीवन और परिस्थितियों से भली प्रकार परिचित हो गये थे और उन्होंने अपने अनुभव से समझ लिया था, कि मास्टरी करते हुए भी उनके लिये आगे बढ़ने की सम्भावना है। "कर्म-भूमि" का नायक-अमरकाँत कहता है:—

"मैं अब तक व्यर्थ शिक्षा के पीछे पड़ा रहा। स्कूल और कॉलेज से अलग रह कर भी आदमी बहुत-कुछ सीख सकता है।"

: ५ :

पहली-रचना

लिखते तो वे लोग हैं, जिनके अन्दर कुछ दर्द है, अनुराग है, लगन है, विचार हैं। जिन्होंने धन और भोग-विलास को जीवन का लक्ष्य बना लिया है, वे क्या लिखेंगे ?

—प्रेमचन्द

शिक्षा, अपनी मनोभावनाओं को व्यक्त करने की योग्यता प्राप्त करने का नाम है। प्रेमचन्द ने शुरू जीवन ही में इस बात को समझ लिया था। इसी लिए वे इतने उत्साह से शिक्षा के पीछे पड़े हुए थे, वे पुस्तकें बड़े ध्यान से पढ़ते थे और जो कुछ पढ़ते थे उस पर मित्रों से वाद-विवाद करते थे। इससे उनमें वस्तु-स्थिति को समझने और उस पर अपने विचार प्रकट करने की सूझ-बूझ उत्पन्न हो गई और वे धीरे-धीरे लेखक बन गए।

उन्हें किस्से-कहानियाँ पढ़ने का शौक था ही। यह शौक सदा बढ़ता ही रहा। कारण कि किस्से-कहानियां उनके शुष्क और दरिद्र जीवन में रोमांस और रस भरती थीं। 'तिलस्मे होशरुबा' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' के कल्पित-पात्र उन्हें निष्ठुर और विषम परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष करने पर बाध्य करते थे। उनकी क्रिया-शक्ति को सजग और सचेत रखते थे, उनके भीतर जो आग छिपी हुई थी उसे एक बिन्दु पर केन्द्रित करके प्रचण्ड ज्वाला का रूप देते थे। फिर उन्होंने जमाने की गरमी-सरदी देखी थीं। जीवन को सार्थक बनाने के लिए बहुत-सी कठिनाइयाँ झेलीं थीं। इन सब बातों ने उन्हे भावुक और मननशील बना दिया। दरिद्रता और कठिनाइयों के बावजूद वे जीवन से प्यार करते थे। उनका मन, विचारों से आन्दोलित रहता था और इस भावना ने कि "मैं दुनियाँ में कुछ कर सकता हूँ, निश्चय का रूप धारण कर लिया था। मगर वस्तु-स्थिति उनके अरमानों को कुचल रही थी। जीवन की असफलताओं को सफलताओं में बदलने और कुंठित-कामनाओं को

सन्तुष्ट करने का सिर्फ एक ही साधन था, कि वे लेखक बन जायें। उन्होंनें भावनाओं को व्यक्त करने की योग्यता प्राप्त होते ही, किस्से-कहानियाँ लिखनी शुरू कर दीं।

उन्होंने कहानियाँ कब से लिखनी शुरू कीं इसके लिये कोई दूसरी सनद दरकार नहीं; स्वयं उनके ही शब्दों में:—

"मैंने पहले-पहल १९०७ में गल्प लिखना शुरू किया। डाक्टर रवीन्द्रनाथ के कई गल्प मैंने अंग्रेजी में पढ़े थे; जिनका उर्दू अनुवाद कई पत्रिकाओं में छपवाया था। उपन्यास तो मैंने १९०१ ही से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास १९०२ में निकला और दूसरा १९०४ में; लेकिन गल्प सन् १९०७ से पहले मैंने एक भी न लिखी। मेरी पहली कहानी का नाम था 'संसार का सब से अनमोल रत्न'। वह १९०७ में 'ज़माना' उर्दू में छपी। उसके बाद मैंने 'ज़माना' में चार-पाँच कहानियाँ और लिखीं।"

लेकिन जहाँ तक लिखने की बात है, 'ज़माना' कानपुर में उन्होंने पहले ही से लिखना शुरू कर दिया था। मुंशी दयानारायण निगम, सम्पादक—'ज़माना' लिखते हैं:—

"साल भर के अन्दर-ही-अन्दर प्रेमचन्द से, जिनका असली नाम धनपतराय था, ख़तो-किताबत शुरू हो गई। जिसका नतीजा हुआ कि सन् १९०४ के आखिर तक वे भी 'ज़माना' के कलमी मुआवनीन (लेखकों) में शामिल हो गये। जहाँ तक याद पड़ता है, आपने सबसे पहले एक तनकीदी मज़मून (आलोचनात्मक लेख) १९०५ में 'ज़माना' में शाया होने के लिये और एक नाविल का मसौदा बगरज मशविरा (सलाह के लिये) भेजा था।"

सन् १९०१ और १९०२ में जो दो उपन्यास प्रकाशित हुए थे उनके नाम शायद 'कृष्णा' और 'हम खुरमा और हम सबाब' थे। मगर मुंशी जागेश्वर प्रसाद वर्मा 'बेताव' बरेलवी का कहना है कि उनका पहला उपन्यास 'प्रेमा' था जो हिंदी में प्रकाशित हुआ था। उर्दू में उसका नाम 'प्रताप चंद्र' था; जिन पर लेखक का नाम धनपतराय था। लेकिन सच यही है, कि उनका पहला उपन्यास 'हम खुरमा, हम सबाब' था।

एक बात स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने कहानियों से पहले उपन्यास लिखना शुरू किया, लेकिन उनका साहित्यिक जीवन इससे भी पहले आरम्भ हो चुका था। जो कहानियाँ आदमी मन में सोचता है; लेकिन लिख नहीं सकता, वे भी तो मस्तिष्क पर अपना प्रभाव छोड़ जाती हैं। फिर शुरू की रचनायें ऐसी

भी तो होती हैं, जो लिखी जाती हैं और प्रायः प्रकाशित भी हो जाती हैं; पर उनमें कोई साहित्यिक तत्व न रहने के कारण, वे किसी शुमार में नहीं आतीं। लेकिन इमारत की नींव में खप जाने वाली ईंटों की तरह उनका एक महत्व तो है ही और इसी से लेखक को अपनी यह रचनाय प्रिय जान पड़ती हैं, जिनकी याद उसे हमेशा बनी रहती है। 'पहली रचना' शीर्षक लेख में प्रेमचन्द ने एक ऐसी ही रचना का जिक्र किया है। पहला प्रहसन था, जो उन्होंने अपने मामू के बारे में लिखा था :—

"उनके मामू गाँव में रहते थे पैतृक भूमि थी, जिससे खाने भर को आ जाता था। लेकिन वे एकांत जीवन बिताने पर मजबूर थे। सामाजिक रुकावटों के कारण विवाह नहीं हो सका। इसलिये एक चमारी से जो उनके घर में गोबर थापने और कूड़ा-करकट उठाने आती थी। इश्क लड़ाने लगे, चमारी चालाक थी। उसने इस समाज के उत्पीड़ित व्यक्ति की दुर्बलता को भांप लिया। इधर उनसे अच्छे अच्छे वस्त्र उपहार स्वरूप लेती और तर-माल खाती रही, उधर इस प्रेम अभिनय की चर्चा चमार-बस्ती में चली इसीलिये जिस दिन मामू साहब की चिर-संचित कामना पूरी करनी थी, इस अभिनेत्री से मनोवांछित वरदान पाता था, उनकी खूब मरम्मत हुई। चमारी के भीतर आते ही ज्योंही उन्होंने सांकल लगाई कि लट्ठबंद चमारों ने किवाड़ तोड़ना शुरू कर दिया। वे भय के मारे भूसे वाले कमरे में जा छिपे। पर चमार अपनी सी करने पर तुले हुए थे। उन्हें अन्दर निकाल कर खूब पीटा।

सारे गाँव में खिल्ली उड़ी। वहाँ रहना दूभर हो गया। इसलिये वे बहनोई के घर उठ आये। पहले भी, जब कभी एकांत के जीवन से मन उकता जाता था, अकसर आ जाते थे। प्रेमचंद की उम्र उस समय बारह-तेरह साल की थी। वे उन पर सदा रौब गांठते थे। प्रेमचंद का ख्याल था कि इस घटना के बाद मामू साहब का रवैया नर्म पड़ जायेगा, पर जब देखा कि यह बात नहीं, मामू साहब बदस्तूर रौब गाँठ रहे हैं तो उन्होंने इस घटना के आधार पर एक प्रहसन लिखा, जिसमें चमारों के हाथों से मामू साहब की मरम्मत का ज़िक्र मजे ले लेकर किया गया था।

वह सुबह स्कूल जाते समय यह नाटक मामू साहब के सिरहाने रख गये। छुट्टी मिलने पर वे यह सोचते हुए लौट रहे थे, कि देखें नाटक पढ़ने के बाद उन पर उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई है, लेकिन घर पहुँचे तो देखा—कि न मामू साहब वहाँ मौजूद हैं; न वह नाटक। शायद वे जाते समय उनकी 'पहली-रचना' को अग्नि-देवता की भेंट कर गये थे।"

इससे प्रमचंद की प्रतिभा और मनोवृत्ति का पता चलता है। वे सारी उम्र सामाजिक बुराइयों और निर्मम सत्ता पर चोट करते रहे। इसके एक साल बाद, चौदह वर्ष की अवस्था में उन्होंने एक नाटक लिखा। जिसका नाम 'होनहार विरवान के चिकने-चिकने पात' इस दृष्टि से दिलचस्प है कि यह नाम खुद उनके अपने ऊपर लागू होता था। चार साल बाद एक उपन्यास 'इसरारे-मुहब्बत' अखबार 'आवाजे-खल्क़' में छपा। यह अखबार बनारस से प्रकाशित होता था। प्रेमचंद की शुरू की कहानियां और उपन्यास, हर नये लेखक के रचनाओं की तरह कला की कसौटी पर पूरी नहीं उतरतीं। उनकी भाषा अपने से पहले उर्दू लेखकों की भाषा की तरह कठिन और कृत्रिम थी। उस पर 'किस्साये-चहार-दरवेश' और रत्ननाथ सरशार के 'फिसानाये-आज़ाद' का रंग चढ़ा हुआ था।

सैय्यद अलीजाद ज़ैदी ने प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य पर एक काफी बड़ा लेख लिखा है जिसमें उनकी शैली के बारे में यह राय प्रकट की है:—

"जितने बड़े-बड़े लिखने वाले हैं, वे सब यह कोशिश करते हैं, कि वे एक इनफरादी हैसियत (व्यक्तिगत स्थान) हासिल करें। यही वजह है, कि अगर मुन्शी प्रेमचन्द की तसानीफ (कृतियों) को इस नुक्ता-नजर (दृष्टिकोण) से न देखा जाये तो ऐसा मालूम होगा, कि यह तमाम अफसाने एक ही शख्स के लिखे हुये नहीं, बल्कि मुख्तलिफ़ मुसन्नफ़ीन के जोरे क़लम (विभिन्न रचियताओं की लेखनी) का नतीजा है। कहीं सरशार का रंग निखर आयेगा तो कहीं बिशननारायण दर का और कहीं रवीन्द्रनाथ टैगोर का। इसकी वजह यह है, कि प्रेमचन्द का यह अक़ीदा (विश्वास) था कि इबारत और ख्यालात तथा विचारों में हत्तुलवसा हम-आहंगी (जहाँ तक सम्भव हो समन्वय) पैदा की जाये। जिस किस्म के ख्यालात का वे इजहार (व्यक्त) करना चाहते थे उसके लिये वैसे ही तरजे-अदा (रचनाशैली) का इन्तखाब (चुनाव) भी करते थे।"

हर एक लेखक अपने पूर्ववर्ती और समकालीन साहित्यकारों से प्रभावित होता है। पहिले-पहल उन्हीं के रंग में लिखता है। अपनी एक विशेष-शैली बनाने में समय लगता है, और उसके लिए सतत् और प्रबल प्रयत्न करना पड़ता है। प्रेमचन्द को इस बात का पूरा अनुभव था। 'ज़माना' के सम्पादक मुन्शी दयानारायण निगम लिखते हैं:—

"सन् १९१४ तक वे अपनी तहरीर (रचनाओं) के बारे में दुविधा मे थे। ४ मार्च सन् १९१४ का खत उनकी दिली जज़्बात (आन्तरिक-

भावना) का आईना (दर्पण) है। लिखते हैं—"मुझे अभी तक यह मालूम नहीं हुआ, कि कौन-सी तरजे-तहरीर (रचनाशैली) अख्तियार करूँ ? कभी तो बंकिम की नकल करता हूँ, कभी आज़ाद के पीछे चलता हूँ। आज-कल टालस्टाय के किस्से पढ़ चुका हूँ, तब से कुछ इसी रंग की तरफ तबियत मायल (झुकी हुई) है। यह अपनी कमजोरी है, और क्या ? यह किस्सा जो मैं रवाना कर रहा हूँ, इसमें लुत्फे-तहरीर (शब्दाडम्बर) की मुतलक कोशिश नहीं की गई। सीधी-सादी बातें लिखी हैं। मालूम नहीं, आप पसंद करेंगे या नहीं।"

वह किस्सा क्या था, मालूम नहीं। लेकिन यह बात साफ है कि वह कृत्रिम और कठिन शैली से धीरे-धीरे सादा और स्वाभाविक रचनाशैली की तरफ आते गये। प्रेम-पचीसी, प्रेम-बतीसी और प्रेम-चालीसी की कहानियों में जो शब्द विन्यास है, वह बाद की कहानियों में नहीं रहा। बाद में उनकी जबान सादा, मगर अधिक प्रभावशाली और सुन्दर हो गई। दोनों शैलियों के उदाहरण प्रस्तुत हैं। लिखना उन्होंने उर्दू में शुरू किया, इसलिए उर्दू के उद्धरण दिए जाते हैं :—

"जाह और सरवत (धन-ऐश्वर्य) कमाल और शोहरत (निपुणता-और ख्याति) यह सब सिफली और माद्दी हैं। (निकृष्ट तथा सांसारिक) नफ्स की नाज बरदारियाँ इस क़ाबिल नहीं कि हम उनके सामने फरके नियाज़ झुकायें। तरक और तस्लीम ही वे उलवी सिफ्फात हैं जो जाहोहशम को बादाए ग़रूर के मुतवालों को, और ताजे मुरस्सा को अपने क़दमों पर गिरा सकती है।"

[प्रेम-बतीसी, हिस्सा अव्वल, 'सरे पुर ग़रूर' कहानी]

यह दूसरा उद्धरण बाद की कहानियों से दिया जाता है :—

"लोग कहते हैं—जुलूस निकालने से क्या होता है। इससे मालूम होता है हम ज़िन्दा हैं, मुस्तैद हैं, मैदान से हटे नहीं। हमें अपनी हार न मानने वाली खुद्दारी (स्वाभिमान) का सबूत देना था। यह दिखा देना था कि हम तशद्दुद (दमन) से अपने मुतालबाए आजादी से दस्तबरदार होने वाले नहीं। हम इस निजाम को बदल देना चाहते हैं, जिसकी बुनियाद खुद-गरजी और खून-चूसने पर रखी हुई है।"

[किताब-जादेराह, 'आशियां-बरबाद' कहानी]

इसका यह अर्थ कदाचित् नहीं, कि 'प्रेम-चालीसी' के उपरान्त भाषा एकदम बदल गई; बल्कि 'प्रेम-पचीसी' में जो भाषा है, 'प्रेम-बतीसी में उससे

सरल है; और 'प्रेम-चालीसी' में 'प्रेम-बतीसी' से सरल हो गई है। कुछेक कहानियों में बाद में भी भाषा कठिन मिलती है, जिसका कारण कहानियों का विषय है। इसके विपरीत कहानियों की भाषा की अपेक्षा 'प्रेम-बत्तीसी' हिस्सा अव्वल की कहानी "पंचायत" अर्थात् 'पंच-परमेश्वर' की काफी आसान है। एक उद्धरण देखिए:—

"घण्टा भर के बाद जुम्मन शेख़, अलगू चौधरी के पास आये और उनके गले से लिपट कर बोले—"भैया! जब से तुमने मेरी पंचायत की है, मैं दिल से तुम्हारा जानी-दुश्मन था, मगर आज मुझे मालूम हुआ; कि पंचायत की मसनद पर बैठकर न कोई किसी का दोस्त होता है और न दुश्मन। इन्साफ के सिवा और उसे कुछ नहीं सूझता।"

विषय, शैली को प्रभावित करता है। मुंशी प्रेमचंद जैसे-जैसे जनता के सम्पर्क में आते गये, उनकी शैली सादा, सुथरी और साफ़ होती गई। जब उन्होंने अलगू चौधरी और हरिधन या शेख़ जुम्मन को अपनी कहानियों का विषय बनाया था, तो उनकी भाषा अपनाना भी आवश्यक था। हम देखते हैं कि गो-दान में उन्होंने बहुत ही सरल भाषा प्रयोग की है। लेकिन इससे बहुत साल पहले 'प्रेमाश्रम' की भाषा भी हिंदी और उर्दू दोनों में समझी जा सकती है; क्योंकि वे किसानों की बोलचाल की भाषा है।

शुरू में जब वे तिलस्मी-कहानियों की भाषा प्रयोग करते थे तो उनकी अपनी कहानियाँ भी एक तरह तिलस्मी होती थीं; जिनमें विचित्र और अप्राकृतिक घटनाओं की भरमार रहती थी। उनका प्लाट भी परियों की कहानियों की तरह विचित्र होता था घटनायें बहुत रहती थीं। उदाहरणार्थ उनकी एक प्रारम्भ की कहानी सौभाग्य के कोड़े हैं। इसका प्लाट यह है:—

"राय भोलानाथ, लखनऊ के बहुत बड़े रईस हैं। नथवा नाम का एक लड़का उनका नौकर है जो उनकी लड़की रत्ना के कमरे की सफाई करता है और कभी-कभी उसके साथ खेलता भी है। एक दिन नथवा के दिल में न जाने क्या आई कि वह चादर तान कर रत्ना के पलंग पर सो गया। रायसाहब ने उसे देख लिया। बस फिर क्या था—क्रोध के मारे आपे से बाहर हो गये, और कोड़े मार-मार ग़रीब नथवा की चमड़ी उधेड़ दी।"

इसके बाद किस्सा इस प्रकार चलता है:—

"नथवा भंगियों की एक बस्ती में जाकर रहने लगा। वहाँ उसने गाना सीखा। वह इतना निपुण हो गया कि ग्वालियर के एक संगीत-सम्मेलन में अपनी योग्यता का लोहा मनवाया और स्कूल में प्रवेश किया। वहाँ से संगीत

विद्या के सर्व-प्रथम प्रमाण-पत्र प्राप्त करके अपने उस्ताद के साथ योरोप की यात्रा को चला गया। वहाँ उसने पश्चिमी-संगीत-कला का ज्ञान प्राप्त किया। लौट कर हिंदुस्तान के बड़े-बड़े शहरों का दौरा किया। उसकी प्रसिद्ध फूल की सुगंध की तरह फैल रही थी। हर स्थान पर उसका स्वागत हो रहा था। वह लखनऊ भी आया, रत्ना ने उसे फूल-माला पहनाई और उसकी कला पर मुग्ध भी हुई! अंत में राय भोलानाथ ने अपनी पुत्री रत्ना का विवाह नत्थूराम संगीताचार्य से कर दिया।"

मानो, यह भी 'हार की जीत' थी। प्रेमचंद को जीवन में भी बार-बार पराजय से दो चार होना पड़ा था, इन्हें वे कल्पना के बल से जीत में बदल रहे थे; और अपनी कहानियों द्वारा संघर्ष को मंज़िल की ओर आगे बढ़ा रहे थे।

बाद में भी उनकी कहानियों और उपन्यासों में विचित्र और अलौकिक घटनायें प्रायः आती हैं। वे उन्हें जान बूझ कर लाते हैं क्योंकि वे उनके औचित्य में विश्वास रखते थे। इस सम्बन्ध में सम्पादक 'ज़माना' ने एक घटना का उल्लेख किया है:—

"मुकर्मी अब्दुल्ला आसफअली खाँ साहब ने सन् १९१८ में लिखा था, प्रेमचंद से मेरी तरफ से कह दीजिएगा कि मैं उनके तरजे-तहरीर (शैली) का बड़ा मद्दाह (प्रशंसक) हूँ। लेकिन उन्हें ऐसे किस्से और नावल लिखने चाहियें, जिनसे कौमी जज़्बा की नश्वो-नमा (राष्ट्रीय भावनाओं की अभि-वृद्धि) में मदद मिले। फौकल-आदत वाक़आत (अस्वाभाविक घटनाओं) से पाक हों।

इसका जबाब उन्होंने यह दिया:—"मिस्टर अब्दुल्ला की राय पर अमल करूँगा, हालांकि Super natural elements **आदमी की ज़िंदगी में शामिल है।"**

निस्संदेह, वैचित्र्य-मनुष्य को घुट्टी में मिला है। वह बहुत ही अजीब और अनोखे स्वप्न देखता है। स्वप्न देखना उसके लिये लाभदायक है। 'अलिफ़-लैला' के इंसान ने जो भव्य-भवन अलाउद्दीन के चिराग़ की सहायता से बताये थें, वे अब उसने अपने परिश्रम और प्रयत्न से धरती पर निर्माण कर लिये हैं, वह अब परियों की कहानियों के राजकुमार की तरह तख्ते-सुलेमान या जादू के खटोले पर नहीं उड़ता, उसने सचमुच वायुयान का आविष्कार कर लिया है।

प्रेमचन्द ने यथार्थ परिस्थितियों के प्रहारों से आत्मा की रक्षा के लिये

अस्वाभाविक और विचित्र घटनाओं के महत्व को समझ लिया था लेकिन इसके बारे में एक मानवीय दृष्टिकोण रखते थे। अपने 'कहानी-कला' लेख में वे लिखते हैं :—

"कहानी का जन्म तो उसी समय से हुआ, जब आदमी ने बोलना सीखा लेकिन, प्राचीन कथा-साहित्य का हमें जो कुछ ज्ञान है, वह 'कथा-सरित्-सागर', 'ईसप की कहानियाँ' और अलिफ-लैला' आदि पुस्तकों से हुआ है। ये सब उस समय के साहित्य के उज्ज्वल रत्न हैं। उनका मुख्य उद्देश्य कथा-वैचित्र्य था। मानव-हृदय को घटना-वैचित्र्य से सदा प्रेम रहा है। अनोखी घटनाओं और प्रसंगों को सुनकर हम अपने बाप-दादों की भांति ही आज भी प्रसन्न होते हैं। हमारा खयाल है कि जन-रुचि जितनी आसानी से 'अलिफ-लैला' की कथाओं का आनन्द उठाती है, उतनी आसानी से नवीन उपन्यासों का आनन्द नहीं उठा सकती। फिर भी यह कहना असत्य नहीं है कि विद्वानों और आचार्यों ने कला के विकास के लिये जो मर्यादायें बना दी हैं, उसमें कला का रूप अधिक सुन्दर और अधिक संयत हो गया है। प्रकृति में जो कला है वह प्रकृति की है, मनुष्य की नहीं। मनुष्य को तो वही कला मोहित करती है जिस पर मनुष्य की आत्मा की छाप हो, जो गीली मिट्टी की भांति मानव-हृदय के साँचे में पड़ कर परिष्कृत हो जाय।"

इसी लेख में आगे लिखते हैं :—

"पुरानी कथा-कहानियाँ अपने घटना वैचित्र्य के कारण मनोरंजक तो हैं पर, उनमें उस रस की कमी है जो शिक्षित-रुचि, साहित्य में खोजती हैं। अब हमारी साहित्यिक रुचि कुछ परिष्कृत हो गई है। हम हर एक विषय की भाँति साहित्य में भी बौद्धिकता की तलाश करते हैं। अब हम किसी राजा की अलौकिक वीरता वा रानी के हवा में उड़कर राजा के पास पहुँचने या भूत-प्रेतों के काल्पनिक चरित्रों को देखकर प्रसन्न नहीं होते। हम उन्हें यथार्थ के कांटे पर तौलते हैं और जौ भर भी इधर उधर नहीं देखना चाहते। आज-कल के उपन्यासों और आख्यायिकाओं में अस्वाभाविक बातों के लिये गुंजाइश नहीं है। उनमें हम अपने जीवन का ही प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं। उसके एक-एक वाक्य को, एक-एक पात्र को यथार्थ के रूप में देखना चाहते हैं। उनमें जो कुछ भी लिखा हो, वह इस तरह लिखा हो कि साधारण बुद्धि े यथार्थ समझे।

......जो कुछ स्वाभाविक है, वही सत्य है। स्वाभाविकता से दूर हो कर कला अपना आनन्द खो देती है; जिसे समझने वाले थोड़े से कलाविद्

ही रह जाते हैं। उसमें जनता के मर्म को स्पर्श करने की शक्ति नहीं रह जाती।"

प्रेमचन्द ने भी जब जनता के अधिक निकट आकर, जनता के लिय लिखा तो उनकी कहानियाँ और उपन्यासों में अस्वाभाविक घटनायें नहीं रहीं। 'नसीहत-के ताजियाने' कहानी परियों की कहानी से मिलती-जुलती तो है; पर, नायक रत्ना के पलंग तक पहुँचने के लिये जो संघर्ष करता है, वे अद्भुत और कौतूहलपूर्ण तो हैं; पर, अस्वाभाविक नहीं है।

दरअसल कहानी का जन्म आदमी के कौतूहल और उसकी उत्सुकता से हुआ है। अपने सृष्टि काल से ही उसने सोचना शुरू किया,—बादल क्यों गरजता है? भूचाल क्यों आते हैं? और उसके सीमित-ज्ञान और कल्पना ने इस "क्यों"? का जो उत्तर दिया, वह कहानी बन गया। उसका ज्ञान और अनुभव ज्यों-ज्यों व्यापक होता गया, उसकी कहानी में भी व्यापकता आती गई। कहानी का तथ्य तथा घटनाओं का विस्तार ही मनुष्य की खोज-वृत्ति है। प्रेमचन्द ने यही बात अपनी 'डिग्री के रुपये' कहानी के नायक कैलाश के लेखों की प्रशंसा करते हुए इस प्रकार लिखी हैं :—

"उसके लेखों में विस्तार कम, पर सार अधिक होता था।"

सार की प्रधानता ही, प्रेमचन्द की कहानियों की विशेषता है।

: ६ :

कानपुर में

"हम उस महान् सत्ता के सूक्ष्मांश हैं, जो समस्त संसार में व्याप्त है। अंश में पूर्ण के गुणों का होना लाजिमी है। इस लिये कीर्ति और सम्मान, आत्मोन्नति और ज्ञान की ओर हमारी स्वाभाविक रुचि है।"

—प्रेमचंद

ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद के माडल-स्कूल से तबदील होकर, प्रेमचंद सन् १९०५ में कानपुर आ गये। यहीं से वास्तव में उनका साहित्यिक-जीवन आरम्भ होता है। 'ज़माना' के सम्पादक-मुंशी दयानारायण निगम से पहले ही परिचित थे। सन् १९०४ में उन्होंने अपना एक आलोचनात्मक लेख 'ज़माना' में प्रकाशित कराया था और निगम साहब से पत्र-व्यवहार शुरू हो गया था।

मुंशी दयानारायण निगम बहुत ही सज्जन और उदार प्रकृति के व्यक्ति थे। 'ज़माना' का सम्पादन वे बड़ी मेहनत और ईमानदारी से करते थे। वे जानते थे कि सम्पादक का धर्म साहित्य को सँवारना और उसका प्रसार करना है। एक सुयोग्य सम्पादक का ध्येय जहाँ पाठकों की सीमा को विस्तृत करना होता है वहाँ नये और होनहार लेखकों को प्रोत्साहन देना भी उसका धर्म है। निगम साहब अपने इस धर्म को भली भांति निभा रहे थे। मैं (लेखक) अपने निजी अनुभव से उनकी सहृदयता और मानवता का क़ायल हूँ। सन् १९३७ में मैंने उन्हें अपनी एक कहानी 'पछतावा' प्रकाशनार्थ भेजी। तब मेरी उनसे जान-पहचान नहीं थी। वह मेरे कहानी-लेखन की शुरूआत थी। उन्होंने न सिर्फ वह कहानी 'ज़माना' में प्रकाशित ही की, बल्कि सफल-कहानी लिखने पर बधाई देते हुए प्यार और उत्साह से भरा हुआ खत भजा और बराबर लिखते रहने का तकाज़ा किया फिर जब तक निगमजी जीवित रहे उनसे मेरा पत्र-व्यवहार रहा। वे सिर्फ लेखक को प्रोत्साहित ही न करते थ अपितु

अपने नेक-मश्विरे भी देते थे। सन् १९४३ में, जब मैं जेल में था; उनका देहान्त हो गया।

बात कुछ असंगत सी है; लेकिन इसलिये लिख दी कि प्रेमचंद के साथ उनके व्यवहार को समझने में पाठकों को मदद मिलेगी। उन्होंने प्रेमचंद की प्रतिभा को पहचान लिया था और उसे संवारने तथा निखारने में, जितनी हो सकी, सहायता करते रहे। बाद के पत्र-व्यवहार से मालूम होता है, वे उनके जीवन का एक अंग बन गये थे। वैसे निगम जी उम्र में प्रेमचंद से छोटे थे पर प्रेमचंद उन्हें बड़े भाई की तरह मानते थे और ज़िंदगी के हर मामले में उनसे सलाह मशविरा करते रहते थे।

प्रेमचंद की मृत्यु पर 'ज़माना' के 'प्रेमचंद-अङ्क' में उन्होंने 'प्रेमचंद-की-बातें' शीर्षक से एक लेख लिखा है। उसके शुरू के अंश ही से उनके आपसी सम्बंध पर काफी प्रकाश पड़ता है। लिखते हैं :—

'मेरे लिये प्रेमचंद पर कोई (प्रामाणिक और विस्तृत) मज़मून लिखना कोई आसान काम नहीं है। उनका ख्याल आते ही सालहा-साल की सैकड़ों पुरानी बातें याद आने लगती हैं; जिनमें मैं गुम-सा हो जाता हूँ।

तीन साल के क़रीब मेरा उनका दोस्ताना नहीं, बल्कि हक़ीक़ी तौर पर बिरादराना ताल्लुक रहा। जेहनी तौर पर (बौद्धिक रूप में) हम दोनों हर मामले में हम ख्याल नहीं तो एक-दूसरे के हमदर्द ज़रूर थे। वे अकसर असूली और ज़रूरी बातों में मेरी राय को बड़ा महत्त्व देते थे।

अजीब बात है कि वे उम्र में मुझ से कुछ बड़े थे लेकिन शुरू से आखिर तक वे मुझे बड़े भाई की तरह समझते रहे। जिन दिनों हर वक्त की बेतकल्लुफी और हंसी-दिल्लगी रहती थी, उस वक्त भी वे मेरी बातों की बड़ी क़द्र करते और मेरा बहुत लिहाज़ रखते थे। मेरे अजीज़ उनके अजीज़ और मेरे अहबाब (मित्र) उनके अहबाब थे। मुझे भी उनके किसी मामले में दखल देने में कभी पसोपेश नहीं हुआ। बहुत से अमूर (मामलों) में तो जो मेरी राय होती, उसी पर वे कारबंद होते थे।

प्रमचंद, जब १९०५ मं कानपुर आये तो बहुत दिनों तक मुँशी दया-नारायण निगम के साथ एक ही मकान में रहे और फिर पड़ौस में एक दूसरा मकान किराये पर ले लिया। सन् १९०७ तक वे उसी मकान में रहते रहे। इसके बाद उनका तबादला हमीरपुर में हो गया, और वे कानपुर से चले गये। यह तीन वर्ष का अल्प समय बहुत ही सुन्दर समय था। 'ज़माना' के दफ़्तर में साहित्यिक-गोष्ठियां होती थीं। खूब वाद-विवाद और आलोचना होती।

निगम साहब इस सिलसिले में लिखते हैं:—

"कई साल एक साथ रहने का इत्तफ़ाक़ हुआ और यह मेरी ज़िंदगी का बेहतरीन ज़माना था। प्रेमचन्द, नौबतराय 'नज़र' दुर्गासहाय 'मसरूर' और कई अहबाब व अज्जा (मित्र और सम्बन्धी) शाम के वक्त दो-तीन घण्टे के लिए यकजा (एकत्रित) हो जाते और जिंदगी का कोई मरहला और दीन-दुनियाँ का कोई मसला (समस्या) याराने-बे-तक़ल्लुफ़ के ग़ौरो-फ़िक्र से (विचार-विनियम) महफूज न रहता। वाकआते आलम (सांसारिक घटनाओं) पर बहसें होतीं, हर मामले पर रद्दोबदद (वाद-विवाद) होती, हर मसले की छान-बीन की जाती। एक-दूसरे की नुक्ताचीनी होती, खूब मज़ाक होता, कहकहे पर कहकहे उड़ते······।"

प्रेमचन्द बहुत ही उदारचित्त और विनोद-प्रिय व्यक्ति थे। मित्रगण उनके सौजन्य और नम्रता के कायल थे। बातें करने और मित्रों का जी बहलाने का उनमें विशेष गुण था। मुन्शी प्यारेलाल 'शाकिर' मेरठी इन्हीं दिनों कानपुर आकर रहने लगे थे। उन्हें प्रेमचन्द की मित्रता का सौभाग्य प्राप्त था। उन्होंने, प्रेमचन्द से अपनी पहली मुलाकात का जिक्र इस प्रकार किया है:—

"प्रेमचन्द से मेरी पहली मुलाकात, कानपुर रेलवे-स्टेशन पर जून सन् १६०७ में हुई थी। मुझे मुन्शी दयानारायण निगम ने बन्नू (सीमा-प्रान्त) से बुलाया था। प्रेमचन्द जी मेरे इस्तक़बाल (स्वागत) को स्टेशन पर आये थे। मैं सामान उतरवाने की गरज से ब्रेक की तरफ चल दिया और बीबी-बच्चे एक तरफ प्लेट-फार्म पर खड़े होकर मेरा इन्तज़ार करने लगे। मुन्शी साहब इधर-उधर देखते हुए वहीं आ निकले। मेरी बीबी से, बच्चों के बाप का नाम पूछा। जब मालूम हुआ कि वे मेरे ही बच्चे हैं तो बड़े तपाक से मिले और हँस-हँसकर बातें करने लगे। थोड़ी देर के बाद, मैं आया तो मेरी बीबी ने उनका तआरुफ (परिचय) कराया—आप 'मुन्शी नवाबराय' हैं। कुछ देर तो प्लेट-फार्म पर ही बातें होती रहीं, बाद में बाहर निकलकर गाड़ी पर सवार हुए। स्टेशन से नयाचौक काफी दूर था लेकिन प्रेमचन्द की वजह से दूरी मुतलक (बिल्कुल) महसूस न हुई। वे, रास्ते भर बे-तकल्लुफी से बातें करते रहे, गोया पुराने मिलने वाले हैं।"

शाकिर साहब आगे लिखते हैं:—

"कानपुर में लगभग डेढ़-दो साल तक मेरा उनका साथ रहा। करीब-करीब हर रोज मुलाकात होती थी और अपने दुःख-दर्द की बात एक-दूसरे से कहते थे। उनकी तबियत में हद दरजा इनकसार (नम्रता) और इस्त-

गना (उदारता) था। अगरचे खुद भी कुछ खुशहाल न थे, मगर दूसरों की मदद को फौरन तैयार हो जाते थे। तसन्ना (आडम्बर) से उनको नफ़रत थी। साफ़दिली और साफ गोई (स्पष्टवादिता) शियार हद्दरजा बजलासंज (लतीफे कहने वाले) और जरीफ-उल्तबा (विनोद-प्रिय) थे। हमेशा कहकहा मारकर हँसते थे और इस जोर से हँसते थे कि देखने वाले को भी हँसी आ जाती थी।"

उनकी नम्रता, सादगी और मिलनसारी में आगे चलकर भी कोई फर्क नहीं आया। सन् १९३० में जब वे 'माधुरी' हिन्दी, लखनऊ के सम्पादक थे, कहानीकार जैनेन्द्रकुमार उनसे मिलने गए। गाड़ी प्रातःकाल जाती थी। प्रेमचन्द कैसर बाग में एक मकान को ऊपर की मंज़िल में रहते थे। जैनेन्द्र कुमार ने मकान पर नीचे से आवाज दी। फौरन जवाब मिला और धोती-कुर्ता पहने, बिखरे बालों वाला एक पतला-दुबला आदमी नीचे आया और लिवा ले गया। उन्हें एक कमरे में बैठाकर वह स्वयं उनके नहाने-धोने का प्रबन्ध करने चला गया। इस बीच जैनेन्द्र कुमार ने, प्रेमचन्द के बड़े लड़के श्रीपतराय से कहा:—

'प्रेमचन्द जी कहाँ है ? मैं उनसे मिलना चाहता हूं।'

'आप ही तो थे।' लड़के ने उत्तर दिया।

जैनेन्द्र कुमार, चकित रह गये।

प्रेमचन्द की उदारता, सहृदयता और मित्रों के प्रति व्यवहार के बारे में दयानारायण निगम ने काफी कुछ लिखा है। एक उद्धरण यहाँ अंकित है :—

"दोस्तों से मसलूक होना (सद् व्यवहार करना) चाहते थे। जहाँ तक हो सकता था, लोगों की हाजतरवाई (आवश्यकता पूर्ति) करते थे। मगर इसमें कभी-कभी तकलीफ हो जाती थी। जैसा कि मामूल जरारा (साधन) रखने वाले हर दोस्तनवाज़ और हमदर्द-इन्सान शख्श को बारहा तजुरुबा हुआ होगा। उन्हें भी खिलाफ़े-तवक्का (आशा के विपरीत) नुकसान पेश आ जाते थे और वे अज़राहे-बशरियत (मानव-स्वभाव से) कभी-कभी दिल में पछताने लगते थे; और खुद अपनी नुक्ताचीनी करने लगते थे। चुनाचे एक खत में लिखते हैं :—

ऐसे मौके भी आये हैं, जब मुझे दोस्तों की खातिर अपने ऊपर इन्तहाई जब्र (असीम संयम) करने पड़ते है। लेकिन मैंने अपनी असली हालत को शायद उन पर जाहिर होने नहीं दिया, और उन्हें यह भ्रम रहा, कि मैं कोई मुतमव्वल (सम्पन्न) आदमी हूँ। फ़िज़ूल-खर्ची से मुझे आशनाई नहीं, लेकिन

तमव्वल (सम्पन्नता) का इजहार मुझे पनपने नहीं देता।

दरअसल यह तमव्वल (सम्पन्नता) का इजहार न था, बल्कि इन्सानी ग़ैरत और दूसरों के साथ हमदर्दी का तक़ाज़ा था, कि कोई खास सरमाया न होने के बावजूद और अपनी आइन्दा जरूरतों को नजर-अंदाज़ करके भी वे ज़रूरतमन्द दोस्त-आशनाओं की कारबर-दारी (काम पूरा करना) को तैयार रहते थे।

बीसों दफा ऐसा हुआ कि वे अपने लिये कोई जरूरी चीज खरीद कर लाये; मगर किसी अज़ीज़ ने उसे पसंद किया और वे दम-बखुद (चुपसाधना) हो गये। लोगों ने उन्हें धोखा भी दिया, खुद-गरज अहबाब से भी उन्हें सामना पड़ा; मगर वे सबको हँसी-खुशी निभाते रहे।······जब प्रेमचन्द, कानपुर में स्कूल-मास्टर थे और क़लील तनख्वाह (अल्प वेतन) पाते थे, वे अपने लिये एक नया कोट सिलवा लाये और एक नया जूता भी खरीद लाये। मगर दोनों चीज़ें उनके एक नादार-अज़ीज़ (निर्धन मित्र) जो उन दिनों उनके साथ रहते थे, बे पूछे इस्तेमाल करने लगे। प्रेमचन्द ने उसका कोई खयाल न किया और खुशी खातिर से अपना पुराना कोट और पुराना जूता पहनते रहे।···"

श्री प्रेमचन्द की पत्नी, शिवरानी देवी ने भी अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द घर में' में कुछ ऐसी ही घटनाओं का उल्लेख किया है। जिनसे उनके त्याग, सहानुभूति और व्यवहार का पता चलता है। एक बार शिवरानी देवी ने बड़ी मुश्किल से कुछ रुपये जोड़कर कोट सिलवाने को दिये, लेकिन वे वह रुपये अपने प्रेस के मजदूरों में बाँट आये। उनके लिये कोट सिलवाने का प्रबन्ध फिर से करना पड़ा। जो अच्छा इंसान नहीं है, वह लेखक भी नहीं हो सकता। प्रेमचन्द के इस उद्धरण से पता चलता है कि प्रेमचन्द कितने सहृदय और महान् व्यक्ति थे। यही उनके महान् लेखक होने की दलील है। साहित्य में उनकी महानता को समझने के लिये जिन्दगी के इस पहलू को भी समझ लेना जरूरी है।

कानपुर में, उन्होंने बहुत कुछ सीखा। पढ़ने का शौक उन्हें पहले ही था, यहाँ आकर इस शौक़ को और आगे बढ़ाने, अपने विचारों को एक साँचे में ढालने और संयत करनें का अवसर मिला, उनका अध्ययन व्यापक होता गया। शाकिर साहब, मेरठी लिखते हैं:—

"मुंशी प्रेमचन्द को मुताला (अध्ययन) का बहुत शौक़ था। शायद ही कोई ऐसा मौजूदा (विषय) हो, जिस पर एक आध किताब उनकी दृष्टि से

न गुजरी हो। इसके साथ ही हाफ़ज़ा (स्मरण शक्ति) भी बलाका था। किस्सा-कहानी की किताबें पढ़ना और उन्हें याद रखना तो कोई काबिले-तारीफ़ बात नहीं, लेकिन मुंशी प्रेमचन्द इल्मी व सयासी कुतबों, रसायल (ग्रंथों और पत्रिकाओं) के अहम मतालब (विशेष आशय) इस तरह दोहरा दिया करते थे, गोया पढ़कर सुना रहे हैं। सयासी (राजनीति) मामलात में उनका दिमाग़ खूब काम करता था। रसाला 'ज़माना' में अहम सयासी वाकाआतों-हालात (विशेष घटनाओं) पर एक माहाना तवस्सरा (मासिक-आलोचना) 'रफ़तारे-ज़माना' के नाम से छपा करता था···लोग तवज्जा व शौक़ से इसको पढ़ते थे। १९०७–८ का बाज़ तवस्सरों का बड़ा जुज्व (भाग) मुंशी प्रेमचन्द ही लिखते थे। उन्होंने बाज़ किताबों पर तनक़ीदें (आलोचनाएं) भी लिखी, और वे तनक़ीदें 'ज़माना' की बेहतरीन तनकीदों में शुमार की जा सकती हैं।"

सैयदअली जवाद ज़ैदी लिखते हैं:—

"कानपुर में प्रेमचन्द को खुदा-दाद सलाहियतों (स्वाभाविक शक्तियों) के इस्तेमाल के काफ़ी मौके हासिल हुए। 'आज़ाद' और 'ज़माना' के सफहात (पृष्ठ) हमेशा उनके लिये खुले रहते रहे और इसी मश्क़ ने अदारत (सम्पादन) के तमाम मुबदियात (आवश्यक बातें) और असूलों से वाकिफ़ कर दिया हफ्तावार अखबार 'आज़ाद' मुंशी दयानारायण निगम था। 'आज़ाद' अखबार भी 'ज़माना' ही के दफ्तर से निकलता था। प्रेमचन्द इन दिनों 'नवाबराय' के नाम से लिखते थे। मज़मून नवीसी (निबन्ध-रचना) का उन्हें ज्यादा शौक़ न था। लेकिन मुंशी दयानारायण निगम की सुहबत और हुस्ने-सलूक (सुन्दर व्यवहार) उन्हें ज्यादा लिखने की तरफ मायल करता रहा। जब मुंशी दया नारायण निगम से भी उनके इतने गहरे ताल्लुक़ात हो गये थे तो यह दोनों पर्चे भी एक तरह उनके अपने ही थे, इसलिये उनके लिये लिखना जरूरी था।"

प्रेमचन्द से अपने ताल्लुकात की इब्तदा (आरंभ) की चर्चा करते हुए, मुंशी दयानारायण लिखते हैं:—

"···दोही साल के बाद उनका तबादला गवर्नमेंट-हाई-स्कूल, कानपुर में हो गया···इस तरह बेजाब्ता हैसियत से आपको 'ज़माना' की असिस्टेंट एडीटरी की पोजीशन हासिल हो गयी।"

इस बेजाबता सम्पादन ने प्रेमचन्द को बहुत कुछ सिखा दिया। यहाँ उन्होंने जो कुछ लिखा, वह उनके साहित्य का अंग भले न हो; पर उनके

व्यक्तित्व का विशेष अंग अवश्य बन गया। उन्होंने यहां जो परिश्रम किया, उससे उनका राजनैतिक और सामाजिक ज्ञान बढ़ा, विचार संयत और व्यापक हुए। उन्होंने बहुत बड़ी बात को संक्षेप में कहना सीखा जो एक लेखक के लिये परमावश्यक है। जब तक भावनाओं को व्यक्त करने की योग्यता न हो, राजनीतिक और सामाजिक ज्ञान पर्याप्त न हो, कोई लेखक, लेखक कहलाने का दावा नहीं कर सकता। प्रेमचन्द में हमें, जो जहाँ-तहाँ मनोहर उपमायें और सुन्दर मुहावरे मिलते हैं, वे इस प्रकार के परिश्रमों के फलस्वरूप हैं।

आम आदतों के बारे में मुंशी दयानारायण निगम लिखते हैं:—

प्रेमचन्द, खाने-पीने में परहेज़ के आदी न थे। यही कारण है कि पेट के रोग का सफलता से मुक़ाबिला नहीं कर सके। भोजन के बारे में, उनसे देर तक कोई पाबंदी न होती; तनिक सी प्रेरणा पर बद-परहेजी कर बैठते थे।

मिजाज़ भी कभी-कभी चिड़-चिड़ा हो जाता था। प्रायः तनिक सी बात इच्छा के विरुद्ध हो जाने पर खिन्न हो जाते थे। लेकिन अगर दूसरे व्यक्ति ने अपनी ग़लती मान ली, अथवा खिन्नता का कारण दूर करने की तनिक भी कोशिश की, तो फौरन पानी हो जाते थे। जब उन्हें यह ख्याल होता, कि दूसरे को उनकी कोई परवाह नहीं तो उनके दिल पर जरूर चोट लगती थी।

शुरू ज़िंदगी की घटनाओं और अनुभवों के आधार पर प्रेमचन्द ने जीवन की समस्याओं और आवश्यकताओं के बारे में कुछ सिद्धान्त बना लिये थे'''शुरू में ये सिद्धान्त इतने स्पष्ट न थे, लेकिन उम्र के साथ सिद्धान्त उनके लेखों भाषणों और व्यवहार-बरताव का अंग बनते गये।

: ७ :

सोज़े-वतन

"वही तलवार, जो केले को भी नहीं काट सकती; सान पर चढ़-कर लोहे को भी काट सकती है। मानव-जीवन में लाग बड़े महत्व की वस्तु है। जिसमें लाग है, वह बूढ़ा भी होकर जवान है। जिसमें लाग नहीं, गैरत नहीं, वह जवान होकर भी मृतक है।"

—प्रेमचन्द

कानपुर से प्रेमचन्द सन् १६०८ में महोबा, जिला हमीरपुर, में डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के सब-इंस्पेक्टर होकर चले गए। महोबा में छ: साल तक बराबर रहे, और यहीं उन्होंने अपनी प्रसिद्ध ऐतिहासिक कहानियाँ 'राजा हरदौल' 'आल्हा' 'रानी सारंधा' और 'विक्रमादित्य का तेगा' आदि लिखीं। इनमें बुन्देले राज-पूतों की वीरता और त्याग का चित्रण किया गया है, और उनका संक्षिप्त उपन्यास 'रूठी-रानी' भी इन्हीं बुन्देले राजपूतों की निर्भीकता और शूरता से सम्बन्धित है। इन कहानियों के पात्रों के लिए, आन पर मिटना मामूली बात है; लेकिन राजपूतों के इस त्याग और बलिदान की प्रशंसा से प्रेमचन्द का अभिप्राय पुनरुत्थान कदापि न था। इन कहानियों द्वारा वे हिन्दुस्तान की जनता के स्वाभिमान और साहस को सजग करते हैं, सोई हुई गैरत को जगाते हैं और उदासीनता को भंग करते हैं।

सन् १६०५ में विश्व-व्यापी आर्थिक-संकट फैला। पूँजीवादी व्यवस्था का यह सबसे पहला भयानक संकट था। उपनिवेशों का विभाजन पूरा हो चुका था। जर्मनी आदि देशों के नये पूँजीवाद को फैलने के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। इस आर्थिक अव्यवस्था का आन्तरिक विरोध पूर्ण रूप से उभर आया था। आगे चलकर यही विरोध सन् १६१२ का विश्व-व्यापी युद्ध बन गया।

इस आर्थिक-संकट के साथ ही सन् १९०५ में दुनियाँ भर में बेकारी फैल गई। नतीजा यह हुआ कि एशिया के देशों में पश्चिमी-साम्राज्यवादियों के विरुद्ध स्वतन्त्रता-संग्राम संगठित और तेज होने लगा। हिन्दुस्तान में इस स्वतन्त्रता-संग्राम ने वंग-भंग के विरुद्ध आन्दोलन का रूप धारण किया। कांग्रेस, जिसका काम अब तक प्रस्ताव पास करना और रिआयतें मांगना था, 'स्वराज्य' की बातें करने लगी और उसमें गर्म-दल की बुनियाद पड़ गई। अंग्रेज शासकों ने शिक्षणालयों पर कब्जा करके हिन्दुस्तान के इतिहास को सर्वथा बिगाड़ दिया था। वे नव-विकसित दिमागों में निरुत्साह की यह भावना भर देना चाहते थे। हिन्दुस्तानी कौम सदैव से पिछड़ी हुई है, और वह सिर्फ दास बनी रहने के लिए पैदा हुई है। इस भ्रान्तिपूर्ण धारणा का खंडन करने के लिए रानाडे, तिलक और लाजपतराय आदि कांग्रेसी नेताओं और बुद्धि-जीवियों ने इतिहास को फिर से लिखा, जिससे इस हीन-भावना को दूर किया जाय। इतिहास वह शस्त्र-गृह है, जहाँ से शासित जातियों को अपने विदेशी शासकों के विरुद्ध लड़ने के लिए संघर्ष की प्रेरणा मिलती है। प्रेमचन्द ने भी शायद इसी उद्देश्य से ऐतिहासिक-कहानियाँ लिखी थीं। लेकिन उनके जेहन की साख्त (मानसिक बनावट), कांग्रेसी नेताओं से मुख्तलिफ थी। वे जनता में से उत्पन्न हुए थे और जनता के लिए संघर्ष को आगे बढ़ाना चाहते थे; इसलिए इतिहास के बारे में उनका दृष्टिकोण नेताओं से भिन्न था। उन्होंने अपनी ऐतिहासिक-कहानियों में जनता को सम्बोधित किया है।

अगर लेखक अपने समय से आगे न जा सके, तो कम-से-कम अपने समय का साथ देना तो उसका परम-कर्त्तव्य है। प्रेमचन्द ने अपनी इस समय की कहानियों में देश-प्रेम की भावनाओं को उभारा है। 'संसार का सबसे अमूल्य रत्न' में, जिसे वे अपनी पहली कहानी कहते हैं, और जो, सन् १९०५ में प्रकाशित हुई थी; रक्त के उस बिंदु को अमूल्य रत्न कहा गया है, जो देश-प्रेम में बहाया जाता है। उनके उपन्यास 'वरदान' का आरम्भ इस प्रकार होता है:—

"माँ, देवी की पूजा निरन्तर करती है। जब देवी उसकी अर्चना और आराधना से प्रसन्न हो जाती है, तो माँ वरदान माँगती है मुझे ऐसा बेटा प्रदान कर? देवी ने पूछा जो बहुत धनवान् हो, बलवान हो, अथवा संसार भर में विख्यात हो। माँ ने उत्तर दिया—"नहीं, जो अपने देश का उपकार करे।"

यह उपन्यास इन्हीं दिनों लिखा गया था और सन् १९१२-१३ में प्रका-

शित हुआ था। इस उपन्यास से पहले उनकी एक पुस्तक 'सोज़े वतन' के नाम से उर्दू में छपी थी, जो उनके जीवन में बड़ा महत्त्व रखती है। इस पुस्तक से विदेशी शासकों के विरुद्ध, उनके संघर्ष का सूत्रपात हुआ था, जिसे फिर वे आजीवन पूरी लगन के साथ आगे बढ़ाते रहे, एक इंच भी पीछे नहीं हटे, उनका पग सदैव आगे पड़ता रहा। अंत में यह संघर्ष हर प्रकार के राजनीतिक और सामाजिक शोषण और प्रतिक्रियावाद के विरुद्ध संघर्ष बन गया। यह संघर्ष उनकी साहित्यिक रचनाओं को प्रतिभा प्रदान करता रहा।

'सोज़े-वतन' प्रेमचंद की कहानियों का पहला संग्रह था। उसमें कुल मिला कर पाँच कहानियाँ प्रकाशित हुई थीं। 'दुनियाँ का सबसे अनमोल रत्न' के अतिरिक्त चार कहानियाँ और शामिल थीं। यह संग्रह 'ज़माना-प्रेस', कानपुर द्वारा मुद्रित हुआ था, जिसका मूल्य पाँच आने था। इन सब कहानियों में किसी-न-किसी ढंग से देश-प्रेम की भावना को प्रोत्साहन दिया गया था। अब देश के शासक अंग्रेज़ बहादुर यह कैसे सहन कर सकते थे कि कोई लेखक हिन्दुस्तानियों में भी देश-प्रेम को जगाने का दुस्साहस करे। उन्होंने सिर्फ किताब ही ज़ब्त न की बल्कि उन्हें जितनी किताबें उनके हाथ लगीं, उसी समय जला दिया गया। यह पहला अवसर था कि किसी लेखक की पुस्तकों को उसकी आँखों के सामने, यों अग्नि की भेंट कर दिया गया हो। शायद वे समझते थे, कि इससे लेखक की देश-प्रेम की भावना भी जल जायेगी; लेकिन यह गोरे शासकों की भूल थी। इस जब्र का यह शोला और भी भड़क उठा।

'सोज़े-वतन' की कहानियाँ कला की कसौटी पर पूरी नहीं उतरतीं। फ़िराक़ गोरखपुरी ने लिखा है:—

"तीस बरस हुए, उनकी पाँच कहानियां 'सोज़े-वतन' के नाम से ज़माना प्रेस, कानपुर से प्रकाशित हुईं। प्रेमचंद और उनके समकालीन अन्य लेखकों ने उर्दू-हिन्दी-भाषा में कहानी-कला को उस शिखर पर पहुँचा दिया है, जहाँ आज हम उसे देखते हैं। इस समय की उच्च कोटि की रचनाओं के उज्वल प्रकाश में, इस पुस्तक के हल्के और धीमे प्रकाश को साये में डाल देगा। मगर कला-साहित्य में एक उच्च-निशान है। देश-प्रेम की उत्कृष्ट भावना इन पृष्ठों में सांस ले रही है। इन कहानियों में कोई बात आपत्तिजनक नहीं है। वे निहायत इत्मीनान से लड़के-लड़कियों की पाठ्य-पुस्तकों में दरज की जा सकती हैं;लेकिन तीस वर्ष पहले की दुनिया और थी। चौकस और अपनी ही करतूतों से डूबने वाली सरकार ने लेखक से जवाब तलबी की। मुझे उनसे परिचित हुए बहुत दिन नहीं बीते थे, जब इन्होंने अपनी स्पष्ट और सादी

भाषा में मुझ से बयान किया, कि इंस्पेक्टर आफ स्कूल्ज़ ने उन्हें किस प्रकार अपनी पुस्तकों की पांच सौ प्रतियों में आग लगा देने के लिये मज़बूर किया।"

प्रेमचंद के मन पर इस घटना का गहरा प्रभाव पड़ा था। कोई भी मित्र और सम्बन्धी ऐसा न होगा, जिससे उन्होंने इस घटना का ज़िक्र न किया हो और इस घटना का वर्णन करते समय उनके हृदय की वेदना और जलन न उबल पड़ती हो। एक घाव था, जो हर समय रिस्ता रहता था और निदान का मरहम नहीं मिलता था।

मुंशी प्यारे लाल शाकिर मेरठी लिखते हैं :—

"सन् १९१० या १९११ का ज़िक्र है। मुन्शी साहब उस समय स्कूलों के डिप्टी-इंस्पेक्टर थे और हमीरपुर में रहते थे। किसी ख़ास ज़रूरत से मुझे कानपुर जाना पड़ा। संयोगवश बाज़ार में मुन्शी प्रेमचन्द से भेंट हो गई। एक घंटे तक साथ रहा। इसी एक घंटे में दुनियां भर की बातें हो गईं। मैंने 'सोज़े-वतन' के बारे में कैफ़ीयत दरियाफ्त की तो कहा—क्या कहूँ ?" बड़ी मुसीबत में फंस गया था। वह तो खैरीयत हुई कि किताबें देकर पीछा छूट गया, वरना जान पर आ बनी थी। "जान बची और लाखों पाये" कहकर बड़े ज़ोर का क़हक़हा लगाया। इसके बाद फ़रमाया—"मुन्शी दयानारायण निगम के प्रेस से पहली पुस्तक 'सोज़े-वतन' छपी थी, मालूम नहीं किस कारण से पुस्तक पर प्रकाशक और मुद्रक का नाम नहीं छपा। ज़ाहिर है कि ऐसी गलती जान-बूझकर नहीं हुआ करती; मगर सुनता कौन है ? जांच-पड़ताल हुई, तो इस सिलसिले में मेरा नाम भी खुल गया। खुद ही सोचो कि एक सरकारी मुलाज़िम और 'सोज़े-वतन' जैसी विषैली पुस्तक का लेखक ! तौबा ! तौबा !! वह तो अच्छा हुआ कि पुस्तकों पर बला टल गई, वरना क्या ताज्जुब था कि मांडले की हवा खानी पड़ती।" इतना कहकर फिर इतने ज़ोर का क़हक़हा लगाया कि बाज़ार वाले भी हक्का-बक्का रह गये।"

शाक़िर साहब आगे लिखते हैं :—

"सोज़े-वतन छोटी-सी पुस्तक थी। जिसमें पांच-छः कहानियां थीं और कीमत भी पांच-छः आने से अधिक नहीं थी। लेकिन, यह वह पुस्तक है, जिसने उन्हें प्रेमचन्द बना दिया। ये कहानियां, जैसा कि पुस्तक के नाम से विदित है, देश-प्रेम और राष्ट्रीय-भावनाओं को व्यक्त करती थीं। आम तौर पर उनको बहुत पसंद किया गया था। मुन्शी साहब शिक्षा-विभाग से सम्बन्धित थे। 'सोज़े-वतन' पर न सिर्फ़ एतराज़ हुआ, बल्कि मुलाज़मत तक के लाले पड़ गये। खुदा-खुदा करके वह बला टल गई और उसी के साथ

मुन्शी साहब की भी काया पलट गई ।''

अब तक वे 'नवाबराय' के नाम से लिखते थे। इस घटना के पश्चात् उन्होंने प्रेमचन्द के नाम से लिखना शुरू किया। नाम परिवर्तन करते हुए उन्हें मानसिक वेदना हुई। मुन्शी दयानारायण निगम को भी 'सोजे-वतन' पर प्रिंट-लाईन न छापने के अपराध में पचास रुपये जुर्माना अदा करने पड़े थे। इस घटना से उनका भी सीधा सम्बन्ध था और 'प्रेमचन्द' नाम उन्होंने तजवीज किया था। लिखते हैं :—

''प्रेमचन्द' शुरू में 'नवाब राय'' के नाम से लिखा करते थे और यह नाम उन्हें बहुत प्रिय था, क्योंकि उनके पिता प्यार से उन्हें 'नवाब' के नाम से पुकारा करते थे। यह नाम हिंदू-मुसलमानों की सामाजिक एकता की भी याद ताज़ा रखने वाला था; मगर जब 'सोज़े-वतन' की बेज़ाब्ता-ज़ब्ती के बाद उनके अफसरों ने उन्हें लिखने और किताबें छापने की मनाही कर दी, तो उनको यह नाम छोड़ना पड़ा। संकीर्ण-हृदय अफसरों का बस चलता, तो आज हिन्दुस्तानी साहित्य में प्रेमचन्द का वजूद ही न होता; मगर नदी का प्रवाह किसने रोका है? हवा का रुख कौन बदल सकता है? 'नवाब राय' की आत्मा ने 'प्रेमचन्द' का चोला पहनकर जन्म लिया। यह नाम इन शब्दों के लेखक ने तजवीज किया था, और चिरकाल तक वे इस नाम से केवल 'ज़माना' ही में लिखते रहे। यह पाबंदी खुद उनकी मुहब्बत ने उन पर आयद की थी, वरना कोई मुतालबा या मुआहिदा (समझौता) न था।

''प्रेमचन्द इस बात में विश्वास नहीं रखते थे कि सरकार चाहे जितनी ज्यादती करे और वे उसके साथ ईमानदारी बरतते रहें। 'सोज़े-वतन' की जितनी प्रतियां उनके पास थीं, वे उन्होंने अफसरों के हवाले करदीं; मगर मेरे पास जो स्टाक बाक़ी रह गया था, उसकी किसी ने खबर न ली, यह पुस्तकें नष्ट होने से बच गईं, और धीरे-धीरे बिकती रहीं। अफसरों ने प्रेमचन्द के लिखने और संकलन आदि करने पर जो पाबंदी लगादी थी, उसे वे उचित नहीं समझते थे। खुले तौर पर विरोध न कर सकने पर 'प्रेमचन्द' का नाम अख़्तयार करके पहले से भी अधिक उत्साह से लिखने लगे। 'प्रेमचन्द' नाम के विषय में उनके एक पत्र का उद्धारण यहाँ देना अनुचित न होगा, जो उन्हीं दिनों उन्होंने मुझे लिखा था:—

'जनाबेमन्! एक कार्ड लिख चुका हूँ। अब मुफ़स्सल (विस्तृत) खत लिख रहा हूँ। मैंने 'विक्रमादित्य का तेगा।' एक किस्सा लिखना शुरू किया

है। बाहर-तेरह पृष्ठ लिख चुका हूं। शायद पांच छः पृष्ठ और चलें, जल्दी ही खतम करके भेजूंगा।

'प्रेमचन्द' अच्छा नाम है, मुझे भी पसंद है। अफ़सोस सिर्फ यह है, कि पांच छ. साल में 'नवाबराय' को फिरोग देने (प्रसिद्ध करने) की जो मेहनत की गई, वह सब अकारत (व्यर्थ) गई। यह हज़रत क़िस्मत के हमेशा लंडूरे रहे, और शायद रहेंगे।

यह किस्सा (विक्रमादित्य का तेग़ा) मेरे खयाल में कई महीने से था। मैंने अपने खयाल में रवीन्द्रनाथ की तरज (शैली) की कामयाबी के साथ पैरवी की है; मगर बुरी नक़ल नहीं, प्लाट बिलकुल ओरिजनल (मौलिक) है। मैंने तो कई कलमें तोड़ दीं और दस पांच वरक भी काले कर डाले। मालूम नहीं, आपको पसंद आता है या नहीं। यह किस्सा मिलाकर मेरे पांच किस्सों का मजमूआ (संग्रह) निकालने का काफी मसाला जमा हो जायेगा······इस मजमूआ का नाम मैंने "बर्गे-सब्ज़" सोचा है। शायद आं-जनाब को पसंद आये इसलिये, कि नामों की पसंद के बारे में आपकी पसंद का कायल हूँ।"

इसके नाद वे 'एजूकेशनल गज़ट' इलाहाबाद में लेख लिखने का विचार प्रगट करते हैं, और उसे दूसरे नाम से भेजना तजवीज़ करते हैं। लिखते हैं:—

"मेरे लिये कलक्टर को हर एक मजमून दिखाने की ऐसी पख़ लगी है कि एक मजमून महीनों में लौट कर आता है···ऐजूकेशनल गज़ट में प्रेमचन्द का नाम नहीं देना चाहता मालूम नहीं यह हज़रत हाथ-पांव संभालने पर क्या लिखें-पढ़ें। इन्हें किस्सा-गो (कहानीकार) ही रहने दीजिये। बैठे-बैठे प्रेम-रस और वीर-रस के किस्से लिखा करें।"

इससे पहले कुलपहाड़ ज़िला हमीरपुर से लिखा:—

'नवाबराय तो कुछ दिनों के लिये इस जहान से गये। दोबारा याद-दहानी हुई है कि तुमने मुआहिदे में गो अखबारी मजामीन(लेख) नहीं लिखे; मगर इसका मंशा हर किस्म की तहरीर से था, गोया खाह मैं किसी उनवान (विषय) पर लिखूँ, खाह वह हाथी दाँत ही क्यों न हो, मुझे पहले जनाब फैज-मआब (माननीय) कलक्टर साहबबहादुर की खिदमतमें पेश करना होगा और मुझे छटे-छमाहे लिखना नहीं। यह तो मेरा रोज का धंधा ठहरा। हर माह एक मजमून साहब बहादुर की खिदमत में पहुँचे तो वह यह समझेंगे कि मैं अपने सरकारी फ़रायज़ (कर्तव्य) में खयानत करता हूं। और काम सिर पर थोपा जायेगा, इसलिये नवाबराय मरहूम (स्वर्गवासी) हुए, उनके जाँ

जाँनशीन (उत्तराधिकारी) कोई और साहब होंगे।"

प्रेमचन्द ने 'जीवन-सार' के नाम से जो संक्षिप्त-जीवन-कथा लिखी है, उसमें 'सोज़े-वतन' की जब्ती का ज़िक्र विस्तार से किया है, क्योंकि कालेज में पढ़ने का अरमान दिल में रह जाने की तरह इस घटना ने भी उनके मन को विशेष रूप से प्रभावित किया था। लिखते हैं :—

"उस वक्त मैं शिक्षा-विभाग में सब-डिप्टी-इन्सपेक्टर था और हमीरपुर जिले में तैनात था। पुस्तक को छपे छः महीने हो चुके थे। एक दिन मैं रात को अपनी रावटी में बैठा हुआ था, कि मेरे नाम जिलाधीश का परवाना पहुँचा कि मुझसे तुरन्त मिलो। जाड़ों के दिन थे, साहब दौरे पर थे। मैंने बैलगाड़ी जुतवाई और रातों-रात ३०-४० मील तय करके, दूसरे दिन साहब से मिला। उनके सामने 'सोज़े-वतन' की एक प्रति रखी हुई थी। मेरा माथा ठनका। उस वक्त मैं 'नवाबराय' के नाम से लिखा करता था। मुझे इसका कुछ-कुछ पता मिल चुका था कि खुफिया पुलिस इस किताब के लेखक की खोज में है। समझ गया, उन लोगों ने मुझे खोज निकाला और उसी की जवाबदेही करने के लिए मुझे बुलाया गया है। साहब ने पूछाः—यह पुस्तक तुमने लिखी है?

मैंने स्वीकार किया।

साहब ने मुझसे एक-एक कहानी का आशय पूछा और अन्त में बिगड़कर बोले—तुम्हारी कहानियों में 'सिडीशन' (राजद्रोह) भरा हुआ है। अपने भाग्य को बखानो कि अंग्रेजी अमलदारी में हो। मुगलों का राज होता, तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिए जाते। तुम्हारी कहानियाँ एकांगी हैं, तुमने अंग्रेजी-सरकार की तौहीन की है, आदि। फैसला यह हुआ कि मैं 'सोज़े-वतन' की सारी प्रतियाँ सरकार के हवाले कर दूँ और साहब की अनुमति के बिना कभी कुछ न लिखूँ। मैंने समझा, चलो सस्ते छूटे। एक हजार प्रतियाँ छपी थीं। अभी मुश्किल से तीन सौ बिकी थीं, शेष ६०० प्रतियाँ मैंने 'ज़माना-कार्यालय' से मँगवा, साहब की सेवा में अर्पण कर दीं।

मैंने समझा था, बला टल गई; किन्तु अधिकारियों को इतनी आसानी से सन्तोष न हो सका। मुझे बाद को मालूम हुआ कि साहब ने इस विषय में जिले के अन्य कर्मचारियों से परामर्श किया। सुपरिन्टेण्डेण्ट पुलिस, दो डिप्टी कलेक्टर और डिप्टी इन्स्पेक्टर—जिनका मैं मातहत था—मेरी तकदीर का फैसला करने बैठे। एक डिप्टी कलेक्टर साहब ने गल्पों से उद्धरण निकाल कर सिद्ध किया कि इनमें आदि से अन्त तक सिडीशन (राजद्रोह) के सिवा और कुछ नहीं है; सिडीशन भी साधारण नहीं, बल्कि संक्रामक रोगके समान।

पुलिस के देवता ने कहा—ऐसे खतरनाक आदमी को ज़रूर सख्त सज़ा देनी चाहिये। डिप्टी इंस्पेक्टर साहब मुझसे बहुत स्नेह करते थे, इस भाव से कि कहीं मुआमला तूल न पकड़ ले, उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि वे मित्र-भाव से मेरे राजनीतिक विचारों की थाह लें और कमेटी में रिपोर्ट पेश करें। उनका विचार था कि मुझे समझा दें और रिपोर्ट में लिख दें कि लेखक केवल कलम का उग्र है, और राजनीतिक-आन्दोलन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। कमेटी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार किया, हालांकि पुलिस के देवता उस समय भी पैंतरे बदलते रहे।"

मुआमला रफ़ा-दफ़ा हो गया, लेकिन प्रेमचन्द ने अच्छी तरह समझ लिया कि अंग्रेज यों ही नहीं बिगड़ता। साहित्य, स्वतन्त्रता-संग्राम को आगे बढ़ाने में जबर्दस्त हथियार है और उन्होंने इस हथियार को पहलेसे अधिक तेज़ और प्रभाव-शाली बनाकर लड़ने का दृढ़ निश्चय कर लिया। अब लड़ाई जारी रखने के लिए उन्होंने जो नीति अपनाई, उसका ज़िक्र उन्होंने अपनी कहानी 'रानी सारन्धा' में किया है। यह कहानी उन्हीं दिनों लिखी गई थी। लिखते हैं :—

"संसार एक रण-क्षेत्र है। इस मैदान में उसी सेनापति को विजय-लाभ होता है, जो अवसर को पहचानता है। वह अवसर पर जितने उत्साह से आगे बढ़ता है, उतने ही उत्साह से आपत्ति के समय पीछे हट जाता है। वह वीर-पुरुष, राष्ट्र का निर्माता होता है और इतिहास उसके नाम पर यश की वर्षा करता है।"

: ८ :

बम्बूक़

"जीवन को सुखी बनाना ही भक्ति और मुक्ति है, यदि तुम हँस नहीं सकते, रो नहीं सकते, तो तुम इंसान नहीं हो।"

—प्रेमचन्द

माता-पिता ने प्रेमचन्द का नाम धनपतराय रखा, यह एक आम रिवाज है, कोई विशेष बात नहीं। सभी माता-पिता अपने बच्चे का एक नाम रखते हैं; लेकिन जब यह नाम सबकी जबान पर चढ़ जाता है, तो माँ-बाप अपना प्यार जताने के लिए कोई और नाम रख लेते हैं। अजायबलाल अपने बेटे को दुलार से 'नवाब' कहा करते थे। धनपतराय ने बाद में इसे अपना 'उपनाम' बनाया और देर तक 'नवाबराय' के नाम से लिखते रहे। बाद में वे प्रेमचन्द बन गए। पर, इसके अतिरिक्त उनका एक और भी नाम था, जो मित्रों ने रखा था। मित्र जो नाम रखते हैं, वह बहुत ही समझ-सोचकर रखते हैं। उसकी एक कहानी होती है, और वह नाम मनुष्य के व्यक्तित्व को अपने भीतर समेटे हुए होता है। प्रेमचन्द का मित्रों द्वारा रखा हुआ नाम था—'बम्बूक़'।[1] यह नाम कैसे पड़ा? इसकी कहानी उनके एक सहपाठी मित्र बाबू कृष्णलाल ने इस तरह कही है:—

"पढ़ते-लिखते वक्त अक्सर अपना कमरा अन्दर से बन्द कर लिया करते थे। तफ़रीह के वक्त दिल खोलकर तफ़रीह करते। आपकी और मरहूम (स्वर्गीय) बाबू गिरजाकिशोर साहब, असिस्टेंट-कमिश्नर-आबकारी की वजह से हमारा एक छोटा-सा लाफिंग-क्लब बन गया था। जिसका रोजाना इजलास मेरे ही कमरे में हुआ करता था। इसमें शायद और भी एक-दो साहब थे; लेकिन इस वक्त ख्याल नहीं आता। बहरहाल उनमें सभी

---

[1]बहुत हँसने और कहकहे लगाने वाला।

हँसने वाले थे। मगर धनपतराय गजब करते थे। जब हँसते तो खूब हँसते कहकहों पर कहकहे लगाते चले जाते। इसी वजह से हम लोग, खासकर यह अकिंचन उन्हें 'बम्बूक' कहा करते थे। मुमकिन है, यह लक़ब (उपाधि) मेरा ही इखतरा (आविष्कार) हो। अक्सर इसी नाम से मेरी उनसे खतो-किताबत भी हुआ करती थी।"

यह उन दिनों की बात है, जब प्रेमचन्द ट्रेनिंग-कालेज, इलाहाबाद में पढ़ते थे। मुन्शी प्यारेलाल शाकिर, कानपुर की एक धटना का जिक्र करते हैं :—

"बनावट से उनको घृणा थी। वे साफ बात कहने और सुनने के अभ्यस्त थे। बहुत ही सजीव और विनोदप्रिय व्यक्ति थे। सदा कहकहा मारकर हँसते थे और इतनी ज़ोर से हँसते थे, कि देखने वालों को भी हँसी आ जाती थी। एकबार का जिक्र है, कि मुन्शी दयानारायण निगम के घर कुछ मित्र जमा थे। मुन्शी नौबतराय 'नजर', मुन्शी प्रेमचन्द और इन पंक्तियों के लेखक आदि मौजूद थे। करीब ही किसी छत पर ग्रामोफोन में बर्ट शेफर्ड का प्रसिद्ध लाफिंग सौंग (I sat in a corner) बजने लगा। कुछ देर मुन्शी प्रेमचन्द खामोश रहे, फिर यह कहकर कि लीजिये इस क़हक़हे में मैं भी उसका साथ देता हूँ, कहकहा मारने लगे।"

यह कहकहे कुछ प्रिय मित्रों और चिरकाल तक साथ रहने वाले लोगों तक ही सीमित नहीं थे, बल्कि जिस व्यक्ति को उनसे पहली बार मिलने का सौभाग्य प्राप्त होता था; वह भी उनकी मनोरंजक और विनोद प्रिय प्रकृति से भली-भाँति परिचित हो जाता था। वे जरा मौका मिलते ही, आदमी की उदासीनता को अपने कहकहों से उल्लसित कर देते थे। उनसे भेंट करके लौटने वाला व्यक्ति, ऐसा महसूस करता था, जैसे उसके जीवन में किसी आसाधारण उल्लास का स्थायी समावेश हो गया है।

पण्डित श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, भूतपूर्व सम्पादक 'विशाल-भारत' ने उनसे अपनी भेंट का वर्णन इस प्रकार किया है :—

"मुझे सब से पहले, सन् १९२४ में प्रेमचन्द जी से लखनऊ में मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।......उस समय वे "रंग-भूमि" उपन्यास लिख रहे थे। फिर भी उन्होंने मुझे क़ाफी समय दिया। हम देर तक विभिन्न साहित्यिक समस्याओं पर बातचीत करते रहे। जो बात उनकी मुझे सब से अधिक पसंद आई वह यह थी कि उनके स्वभाव में बनावट और आडम्बर का नाम भी नहीं था।......उन्हें, अपने मिलने वालों का संकोच दूर

करने का विशेष गुण प्राप्त था। थोड़ी ही देर की बातचीत में उनके मिलने वालों की उनसे मित्रता हो जाती थी।

इसके बाद मुझे सन् १९३२ में उनसे बनारस में मिलने का संयोग हुआ। और दो दिन तक उन्हीं के मकान पर रहा। इस सहवास के आनन्द को मैं आजीवन न भूल सकूंगा।"

उनके साथ रहने के इस मधुर आनंद को स्मरण करते हुये चतुर्वेदी जी लिखते हैं:—

"प्रेमचन्द बड़े विनोदशील, हाज़िर जवाब और सजीव व्यक्ति थे। वे आपके साथ घंटों हँस सकते थे और अपनी बातों पर भी हँस पड़ते थे।... एक बार बातों-ही-बातों में, दिन के दो बज गये और खाना खाने की सुध न रही; यह देख कर प्रेमचन्द जी कहने लगे, कि यह अच्छा है—श्रीमती जी के पास घड़ी नहीं; नहीं तो इस देरी के लिये झाड़ बतातीं।"

मिरज़ा मुहम्मदहसन अस्करी ने, जो बाद में नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में उनके सहकारी रहे, प्रेमचन्द से अपनी पहली मुलाकात का हाल इस प्रकार लिखा है:—

"मुंशी प्रेमचन्द से मेरी पहली मर्तबा मौलाना ज़फ़रुल मुल्क एडीटर 'अलमनाजर' की हमराही में मुलाकात हुई। मुंशी साहब को देखकर मेरे ऊपर एक खास असर पड़ा। दरम्याना कद, छरहरा बदन, किताबरू (भव्य) चेहरा, नाक-नकशा निहायत दुरुस्त आँखें बड़ीं और नुमायाँ, सफेद साफा बांधे हुए, जो उन पर बहुत जेब देता था। यह साफा मैंने अकसर बांधे देखा है। मुझ पर मुंशी साहब की जहनियत (मनोवृत्ति) और काबलियत का यक वक्त बड़ा असर हुआ। हरचन्द उन्होंने गुफ्तगू में कम हिस्सा लिया। मगर हँसी और मज़ाक की बातों में हमारे साथ शामिल रहे। अगर सच पूछा जाय तो हम दोनों से ज्यादा हँसे। मुंशी साहब की यह खसूसीयत (विशेषता) थी जो उनकी जिंदादिली और नेक दिली की खास इलामत (चिह्न) थी कि अकसर हँसते थे और जोर से क़हकहे के साथ हँसते थे। और बाद में जब एक साथ काम करने का मौका मिला तो मैंने उनको दो-तीन बरस के दौरान में हमेशा शिगुफ्ता (प्रफुल्लित) और हँस-मुख पाया। कभी गुस्सा उनके चेहरे पर न देखा। कभी-कभी मैं उनसे मजाक में कहता था, क्यों साहब—क्या आपको गुस्सा कभी नहीं आता? क्या आप कभी घर में भी गुस्सा नहीं करते? इस पर वे हँस देते थे।"

उनके एक अन्य सहकारी मिरज़ा फ़िदाअली खंजर ने लिखा है:—

"मुंशी साहब बेहद खलीक (सुशील) हँस-मुख, मुंकसर (नम्र) आदमी थे। मैंने उन्हें हमेशा, मुस्कराते हुए पाया। पब्लिशिंग डिपार्टमेंट में मेरा कयाम १९२८ तक रहा; इसलिये वक्तन फवक्तन मुंशी साहब से नयाज़ (भेंट) हासिल करने का शरफ (सौभाग्य) हासिल होता रहा। जब उन्हें कोई काम न होता, तो पब्लिशिंग-डिपार्टमेंट में चले आते और अपनी गुल फिशानियों (उल्लास पूर्ण बातों) से हमारे दिमाग को ताजा कर देते। कलम की तरह उनकी ज़बान में भी जोर था—गुफ्तगू बहुत सलीस (सरल) और दिलचस्प होती, कि उसके सुनने का दिल से इश्तियाक (चाव) रहता।"

यह तो, समवयस्क और सहयोगी मित्रों की बातें थी, लेकिन वे बच्चों और लड़कों से भी इसी विनोद प्रियता का व्यवहार करते थे। क्लास में पढ़ाते समय भी, मुक्त भाव से हँसते थे। जब वे गोरखपुर में मास्टर थे, उस समय के उनके एक शिष्य मुंशी मंजूरअलहक हकीम लिखते हैं:—

"क्लास में उनके आते ही ऐसी ज़िंदादिली पैदा हो जाती थी, कि हर एक उनकी तरफ मुखातिब (आकृष्ट) हो जाता। यह जरूरी न था कि जो सबक पढ़ाना है, वही पढ़ाया जाय, बल्कि जिस मौजू (विषय) की तरफ उनका रुजहान या लड़कों का तकाजा हुआ, बयान फ़रमाने लगे। अगर क्लास में पढ़ाते समय कोई हँसी की बात आ गयी, तो बे-अख्तयार हँसने लगते। किसी का खौफो हिरास (भय और डर) नहीं था। एक मर्तबा का वाकया है इंस्पेक्टर साहब, मुआइने के लिये आये। बाबू बच्चूलाल साहब हैडमास्टर मरहूम, जो बहुत सीधे आदमी थे, कुछ परेशान से थे। तमाम लड़के भी अपनी-अपनी ड्रेस से आरास्ता (सजेहुए) थे। मगर हमारे उस्ताद साहब का वही आलम था, जो पहले लिख चुका हूँ। नंगेसिर, बाल परेशान, कोट का कालर खुला हुआ। इन्सपेक्टर साहब क्लास में आये, मगर उसका भी कुछ असर न हुआ।"

ये क़हक़हे उनके व्यक्तित्व को प्रगट करते हैं। फूल की तरह एक स्वाभाविक मुस्कराहट उनके होठों पर खेलती रहती थी; जो कभी जुदा नहीं होती थी। ज़िंदगी में इतनी विपत्तियां और कठिनाइयां सहन करने के बाद भी, अगर वे हँस सकते थे, क़हक़हे बुलंद कर सकते थे, तो यह स्पष्ट है कि उन्होंने जीवन के महत्त्व को समझ लिया था। उनके दृष्टिकोण से जीने का अभिप्राय, रोना नहीं अपितु हँसना था। इसलिये मुसीबतों के बावजूद वे खुद हँसते थे और दूसरों को भी हँसाते थे।

उनकी कहानियों और उपन्यासों के मुख्य-पात्र भी जीवन के प्रति यही दृष्टिकोण रखते हैं। "कर्मभूमि" की मुन्नी पर क्या-क्या मुसीबतें नहीं टूटीं ? गोरों ने उसके साथ बलात्कार किया, मुकदमा चला, घर बार छूटा, पति और बच्चे से सम्बन्ध-विच्छेद हुआ, फिर भी वह हँसती है, मुस्कराती है और उपन्यास के नायक अमरकांत से कहती है :—

"लाला, तुम मुझे रोना सिखाना चाहते हो, मैं तुम्हें नाचना सिखाऊँगी ?"

इस उपन्यास में अमर अपने बाप से कहता है—

"दादा, आपके घर में मेरा इतना जीवन नष्ट हो गया, अब मैं उसे और नष्ट नहीं करना चाहता आदमी का जीवन केवल खाने और मर जाने के लिये नहीं होता, न धन-संचय उसका उद्देश्य है। जिस दशा में मैं हूँ, वह मेरे लिये असह्य हो गई है। मैं एक नये-जीवन का सूत्रपात करने जा रहा हूं; जहां मज़दूरी लज्जा की वस्तु नहीं। जहां, स्त्री-पति को नीचे की तरफ़ नहीं घसीटती, उसे पतन की ओर नहीं ले जाती; बल्कि उसके जीवन में आनन्द और प्रकाश का संचार करती है। मैं, रूढ़ियों और मर्यादाओं का दास बनकर नहीं रहना चाहता। आपके घर में मुझे नित्य बाधाओं का सामना करना पड़ेगा, और उसी संघर्ष में मेरा जीवन समाप्त हो जायेगा।"

यथार्थ के इस ज्ञान, नये जीवन की आशा, और भविष्य के अटल-विश्वास से यह क़हक़हे उत्पन्न होते थे। प्रेमचद, परिस्थितियों से कभी हताश नहीं हुए; उन्होंने हंसते-हंसते प्रसन्न मुख से वस्तु-स्थिति और घटनाओं का मुक़ाबिला किया। जीवन, खिलाड़ी की भांति व्यतीत किया।

मुन्शी दयानारायण निगम का एक बच्चा छोटी उम्र में ही मर गया था। प्रेमचद ने इस सम्बन्ध में उन्हें जो सान्त्वनामय पत्र लिखा था, उससे उनके जीवन—दर्शन और इन क़हक़हों का सार समझ में आ जाता है। प्रेमचंद जी लिखते हैं :—

"भाई जान; तस्लीम ! कल सुबह एक खत लिखा। शाम को आपका कार्ड मिला, जिसे पढ़कर निहायत सदमा हुआ। बीमारियां और परेशानियां तो ज़िंदगी का खासा हैं। लेकिन बच्चे की हसरतनाक मौत एक दिल-शिकन हादसा (हृदय विदारक घटना) है। और बरदाश्त करने का, अगर कोई तरीक़ा है तो यही कि दुनिया को एक तमाशागाह या खेल का मैदान समझ लिया जाय। खेल के मैदान में वही शख्श तारीफ का मुस्तहिक (अधिकारी) होता है, जो जीत से फूलता नहीं, और हार में रोता नहीं। जीते तब भी खेलता है, और हारे तब भी खेलता है। जीत के बाद यह कोशिश होती है

कि हारे नहीं, हार के बाद जीत की आरज़ू होती है। हम सब-के सब खिलाड़ी हैं, मगर खेलना नहीं जानते। एक बाज़ी जीती, एक गोल जीता, तो हिप्-हिप्-हुर्रों के नारों से आस्मान गूँज उठा। टोपियाँ आस्मान में उछलने लगीं। भूल गये कि यह जीत दायमी (स्थायी) फतह की गारंटी नहीं है। मुमकिन है कि दूसरी बाज़ी में हार हो। अलहज़्ा (किन्तु) हारे तो पस्तहिम्मती पर कमर बांध ली, रोये, किसी को धक्के दिये, फाऊल (गलत) खेला और ऐसे पस्त हो गये गोया फिर जीत को सूरत देखना नसीब न होगी। ऐसे ओछे, तंग-नज़र आदमी को मैदानमें खड़े होनेका भी मिजाज़(अधिकार)नहीं। उसके लिये गोशाए-तारीक(अंधेरा कोना)है, और फिक्रेशिक्म (पेट की चिंता)। बस यही उसकी ज़िन्दगी की कायनात (दुनिया) है। हम क्यों खयाल करें कि हमसे ज़िंदगी ने बेवफ़ाई की! खुदा का शिकवा क्यों करें? क्यों इस खयाल से मलूल (उदासीन) हों कि दुनियाँ हमारी नियामतों से भरी थाली को, हमारे सामने से खींच लेती है। क्यों इस फ़िक्र से मुतव्वहश (परेशान) हों कि कज़ाक हमारे ऊपर छापा मारने की ताक में हैं। ज़िंदगी को इस नुक्तए-निगाह (दृष्टिकोण) से देखना अपने इत्मीनान-कल्ब (मन की शांति) से हाथ धोना है। बात दोनों तरह एक ही है। कज्ज़ाक (डाकू) ने छापा मारा तो क्या? हार में सारे घर की दौलत खो बैठे तो क्या? फर्क सिर्फ यह है, कि एक जब्र है और दूसरा अख्तयार। कज्ज़ाक ज़बर्दस्ती माल पर हाथ बढ़ाता है; लेकिन हार ज़बर्दस्ती नहीं आती। खेल में शरीक होकर हम खुद हार और जीत को बुलाते हैं। कज्ज़ाक के हाथों लूटे जाना ज़िंदगी का मामूली हादसा (घटना) नहीं है; लेकिन खेल में हारना और जीतना मामूली बात है। जो खेल में शरीक होगा, वह बखूबी जानता है कि हार और जीत दोनों ही सामने आयेंगी। इसलिये उसे हार से मायूसी नहीं होती, जीत से फूला नहीं समाता। हमारा काम तो सिर्फ खेलना है, खूब दिल लगाकर खेलना, खूब जी तोड़कर खेलना, अपने को हार से इस तरह बचाना गोया हम कोनैन (संसार) की दौलत खो बैठेंगे; लेकिन हारने के बाद पटखनी खाने के बाद गर्द झाड़कर खड़े हो जाना चाहिये और फिर खम ठोंककर हरीफ़ (प्रतिद्वन्दी) से कहना चाहिये कि एक हार और!

खिलाड़ी बनकर आपको वाकई इत्मीनान होगा। मैं खुद इस मयार (मापदण्ड) पर पूरा उतरूँगा या नहीं! मगर कम-से-कम अब के पीछे किसी नुकसान पर इतना रंज न होगा, जितना आज से चंद साल कब्ल (पहले) हो सकता था। मैं अब शायद न कहूँगा कि हाय ज़िन्दगी अकारत (व्यर्थ) गई।

कुछ न किया, ज़िन्दगी खेलने के लिए मिली थी, खेलने में कोताही नहीं की। आप मुझसे ज्यादा खेले हैं। हार और जीत दोनों देखी हैं। आप जैसे खिलाड़ी के लिए शिकवाए-तकदीर की जरूरत नहीं। कोई गोल्फ और पोलो खेलता है, कोई कबड्डी खेलता है। बात एक ही है। हार और जीत, दोनों ही मैदानों में है। कबड्डी खेलने वाले को जीत की खुशी कुछ कम नहीं होती। इस हार का ग़म न कीजिए। आपने खुद ही न किया होगा। आप मुझसे मश्शाक़ (निपुण) हैं। मैं ५ या ६ मई तक कानपुर आने वाला हूँ, यहाँ की कोई चीज दरकार हो तो बे-तकल्लुफ लिखियेगा। दीगर हालात मेरे पहले खत से मालूम हुए होंगे।"

खिलाड़ीपन का फलसफा (दर्शन) समूचे रूप से दुरुस्त नहीं है। फिर भी अगर यह फलसफा प्रेमचन्दके विश्वासका आधार न बन गया होता, तो उन्हें जो विपत्तियां सहन करनी पड़ी थीं, वे वस्तुस्थिति के विरुद्ध उनके संघर्ष की कमर तोड़ देतीं और वे निश्चित ही लाखों करोड़ों विवश और वंचित अन्य देश-वासियों की तरह व्यक्तिवादी बन जाते, सामाजिक समस्याओं का हल अपने भीतर ढूंढ़ते, स्वर्ग-नरक और मुक्ति की चाह में जीवन व्यर्थ खो देते। इसके बिल्कुल विपरीत प्रेमचन्द ने समझ लिया था:—

"यह मुक्ति और भक्ति तो केवल स्वार्थ है, जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालता है।"

और एक दूसरे स्थान पर 'नोंक-झोंक' में वे लिखते हैं:—

"स्वर्ग और नरक के ख्याल में वे रहते हैं, जो आलसी हैं, मुर्दा हैं। हमारा स्वर्ग और नरक सब इस धरती पर है। हम इस कर्म-प्रधान विश्व में कुछ करना चाहते हैं।"

यह दर्शन और विश्वास प्रेमचन्द के साहित्य की बुनियाद है, उनके पात्र कर्म-शील व्यक्ति हैं। यद्यपि वे निचले छोटे वर्ग के निर्धन और पीड़ित इंसान हैं, इस शोषण-व्यवहार में उनकी मामूली अभिलाषाएं भी पूरी नहीं होतीं; फिर भी वे जीना अपना अधिकार समझते हैं, हिम्मत से जीते हैं। क्योंकि उन्हें जीवन और कर्म में अटल विश्वास है, इसलिये हमें उनके क़हक़हे भी कहीं बुलन्द, कहीं खामोश सुनाई देते हैं, कहीं व्यंग और उपेक्षा प्रकट करते हैं, कहीं वे आडम्बर और पाखंड पर चोट कर के बरबस हँस पड़ते हैं।

उनकी एक कहानी बड़े "भाई साहब" है। जिसमें बड़ा भाई हर समय पढ़ते रहने के बावजूद हर साल फेल होता है; लेकिन छोटा भाई प्रायः खेलते रहने के बावजूद हरसाल अच्छे नम्बरों से पास होता है फिर भी बड़ा भाई

छोटे को इसलिये नसीहत करता और रोब गांठता है, कि वह बड़ा भाई है। यह कहानी छोटे भाई ने बयान की है और इस प्रकार शुरू होती है:—

"मेरे बड़े भाई साहब मुझ से पाँच साल बड़े थे; लेकिन केवल तीन दरजे आगे। उन्होंने भी उसी उम्र में पढ़ना शुरू किया था, जब मैंने शुरू किया था, लेकिन शिक्षा जैसे महत्त्व के मामले में वह जल्दबाजी से काम लेना पसन्द न करते थे। इस भवन की बुनियाद खूब मजबूत डालनी चाहते थे, जिस पर आलीशान महल बन सके। एक साल का काम दो साल में करते थे। कभी-कभी तीन साल भी लग जाते थे। बुनियाद भी पुख्ता न हो तो मकान कैसे पायेदार बने!"

सारी कहानी पढ़जाने के लिये मन उतावला होने लगता है। "विनोद" कहानी में—महाशय चक्रधर की वेशभूषा का इस प्रकार उल्लेख किया है:—

"महाशय चक्रधर सिर घुटाते थे; किंतु लम्बी चोटी रख छोड़ी थी, जो चटीयल मैदान के किसी झंकाड़ वृक्ष की तरह दीख पड़ती थी। उनका कथन था कि चोटी के रास्ते शरीर की अनावश्यक उष्णता बाहर निकल जाती है और विद्युत-प्रवाह शरीर में प्रविष्ट होता है।"

महाशय उस व्यक्ति को कहते हैं, जो वस्तुस्थिति से मुँह मोड़ कर अंतर्मुखी हो जाय। समय के परिवर्तनों को न समझे और उसके साथ चलने से इनकार करदे। फिर ऐसे लोग निरे मूर्ख और तुच्छ होते हुए भी बड़े दार्शनिक और धर्मात्मा होने की डींग मारते हैं। प्रेमचन्द ऐसे लोगों की, जैसा कि इस कहानी के नाम "विनोद" से प्रकट है, खूब खबर लेते थे। उन्हें झूठी साधुता और कट्टरपन से अत्यन्त चिढ़ थी। वे इस पर चोट करने से कभी नहीं चूकते थे। अपनी "बालक" कहानी में उन्होंने एक ऐसा पात्र प्रस्तुत किया है जो अपढ़ है और दूसरों का भोजन बनाकर पेट पालता है; लेकिन उसे अपने ब्राह्मण होने पर गर्व है। उसके बारे में लिखा है:—

"...**वह ब्राह्मण है और चाहता है कि दुनिया उसकी प्रतिष्ठा तथा सेवा करे और क्यों न चाहे? जब पुरखाओं की पैदा की हुई सम्पत्ति पर आज भी लोग अधिकार जमाये हुए हैं, और उसी शान से; मानो खुद पैदा की हो, तो वह क्यों उस प्रतिष्ठा और सम्मान को त्याग दे, जो उसके पुरखाओं ने संचय किया था? यह उसकी बपौती है।"**

इस कहानी के पात्र गंगू का यह झूठा गर्व फिर भी क्षम्य है, क्योंकि वह अपढ़ और अबोध होते हुए भी नेक और भला मानस है और मेहनत-मजूरी करके रोजी कमाता है; लेकिन ऐसे ब्राह्मणों की एक पूरी फौज है, जिन्होंने

पुरुखाओं की इस प्रतिष्ठा और सम्मान को दुकानदारी बना रखा है। जिनकी दुकान पर पाखंड, आडम्बर, बिड़म्बना, झूठ और नीचता के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है। बनारस, हिन्दू धर्म की इस निकृष्टता का केन्द्र है। प्रेमचन्द के यहां मोटेराम शास्त्री इस निकृष्टता और नीचता का प्रतीक स्वरूप है, जिसे उन्होंने सारी उम्र खूब रगेदा है। उनकी 'निमंत्रण' कहानी इसी लिये प्रसिद्ध है कि उसमें इस पेटू और डकारू ब्राह्मण की हविस और दुराग्रहता की खिल्ली उड़ाई गई है। 'सत्याग्रह' कहानी में भी इसी लोलुप और पेटू ब्राह्मण को अधिकारी वर्ग ने किराये पर लिया है। उसके स्वांग और नीचता को देखकर ऐसे ब्राह्मणों के पूरे समाज पर हँसी आती है।

'प्रेमाश्रम' में धार्मिक सम्मेलन का ज़िक्र करते हुए धर्म और सभ्यता के ठेकेदारों का, तिलकधारी पंडितों और संन्यासियों का वास्तविक रूप चित्रित किया है। इन लोगों की प्रतिक्रियावादिता और 'अहं' का खूब मज़ाक उड़ाया है। लिखते हैं :—

"जलसे से एक दिन पहले उपदेशक गण आने लगे। उनके लिये स्टेशन पर मोटरें खड़ी रहती थीं। इनमें कितने ही महानुभाव संन्यासी थे। वे तिलकधारी पंडितों को तुच्छ समझने थे और मोटर पर बैठने के लिये अग्रसर हो जाते थे। एक संन्यासी महात्मा, जो विद्यारत्न की पदवी से अलंकृत थे, मोटर न मिलने से इतने अप्रसन्न हुए कि बहुत आरज़ू-मिन्नत करने पर भी फिटन पर न बैठे। सभा-भवन तक पैदल आये।"

और फिर 'अंजुमने-इत्तहाद' के मिर्ज़ा ईजाद अली और पंडितों में जो होड़ चलती है, वह और भी दिलचस्प है :—

"एक संन्यासी महात्मा ने चट् अपना व्याख्यान शुरू कर दिया। यह महाशय वेदान्त के पंडित और योगाभ्यासी थे। संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे। वे सदैव संस्कृत में ही बोलते थे। उनके विषय में किंवदन्ती थी कि संस्कृत ही उनकी मातृ-भाषा है। उनकी वक्तृता को लोग उसी शौक़ से सुनते थे, जैसे चण्डूल का गाना सुनते हैं। किसी की भी समझ में कुछ न आता था, उनकी विद्वता और वाक्य प्रवाह का रोब लोगों पर छा जाता था। वे एक विचित्र जीव समझे जाते थे और यही उनकी सर्वप्रियता का मंत्र था..."

'सेवा सदन' में जब सुमनबाई ने अपने पेशे को छोड़ने का निश्चय कर लिया, तो विठ्ठलदास से कहा कि मैं चलते-चलाते ज़रा अपने आशिकों की मिजाज़-पुरसी तो कर लूं।

अब सुहाने रसिया मियां अब्बुलवफ़ा, भैंसा क़द लाला **चमनलाल** और

बगुला भक्त पंडित दीनानाथ एक-एक करके आते हैं और वहां उनकी जो गत बनती है, वह उपन्यास में नाटकीय रंग पैदा कर देती है। हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जाते हैं।

क़हक़हे नश्तर हैं, जो समाज की नसों से गंदा मवाद निकालने के लिये चीरा लगाने का काम देते हैं। यह क़हक़हे कहीं भी व्यर्थ नहीं हैं। जैसे-जैसे प्रेमचंद की सूझ और कला में प्रौढ़ता आती गई, ये नश्तर ज्यादा तेज़ और ज्यादा उपयोगी होते गये। उनके इस्तेमाल का ढंग भी बदल गया।

उन्होंने धार्मिक, सामाजिक, और राजनीतिक हर विषय पर लिखा है; लेकिन वे कहीं भी अरुचिकर और शुष्क उपदेशक नहीं बने। विषय जितना गम्भीर और जटिल होता है, शैली उतनी ही सुन्दर और सजीव हो जाती है। आदमी यह निर्णय ही नहीं कर पाता कि जो कुछ वह पढ़ रहा है, उस पर हँसे या रोये। बड़ी देर तक द्विविधा की दशा रहती है, और पाठक जितना सोचता है उतना ही अधिक प्रभावित होता है। मज़े की बात यह है कि प्रेमचंद बहुत बड़ी बात अत्यन्त संक्षेप में कह जाते हैं। उदाहरणत: यह बहुत बड़ी बात थी कि गांधी ने चौराचौरी की घटना से क्रुद्ध होकर सविनय-भंग-आंदोलन को एकाएकी बंद कर दिया, जिसका नतीजा यह हुआ कि इतनी बड़ी राष्ट्रीय एकता टूटकर छिन्न-भिन्न हो गई। स्वतंत्रता-संग्राम ने शुद्धि और तब्लीग़ का रूप धारण कर लिया। मुमकिन नहीं राष्ट्र का यह पतन देखकर प्रेमचंद का भावुक-हृदय न रोये; लेकिन उनका रोने का ढंग भिन्न था। 'बड़े बाबू' कहानी पढ़िये तो मालूम होगा कि उन्होंने किस तरह अपने मन की वेदना को हास्य और व्यंग में समो दिया है। लिखते हैं :—

"अगर देश में ग्रेजूएटों की यह अफसोसनाक कमी न होती, तो सविनय भंग का आंदोलन क्यों इतनी जल्दी बंद हो जाता? क्यों बने हुए, रंगे हुए सियार ज़रपरस्त लीडरों को डाकाज़नी के ऐसे मौक़े मिलते?"

दर असल यह उनका व्यक्तिगत दु:ख नहीं, पीड़ित और भ्रांत मानवता का दु:ख था।

छः सौ पृष्ठों का उपन्यास 'गोदान' क्या है? इसी मानवता के दु:ख का चित्रण है। गांधी का नमक-सत्याग्रह, जिसका प्रेमचन्द ने प्राणपण से समर्थन किया था, गांधी-इरवन-पैक्ट में खत्म हो गया। गांधी अछूतोद्धार में जा लगे, और किसान बेचारे को जो इस आन्दोलन का प्राण था, विवश छोड़ दिया गया। अब उसका दुखड़ा कौन रोये? लेकिन प्रेमचंद का उद्देश्य रोना नहीं था। रोना अकर्मण्यता की निशानी है, और उनके पात्र होरी, गोबर, धनिया

ग्रौर झुनिया भी रोते नहीं, कठिनाइयों के बावजूद हंसते हैं; जीवन-संघर्ष जारी रखते हैं ग्रौर ग्रपने छोटे-छोटे कामों ग्रौर संघर्षो द्वारा ग्रनजाने ही मंजिल की ग्रोर बढ़ रहे हैं।

संघर्ष इन पात्रों के जीवन का ग्रविछिन्न ग्रंग है। इसी प्रकार कहकहे भी उनके जीवन का ग्रंग बनकर सामने ग्राते हैं। जैसे – झुनिया, गोबर को ग्रपने जीवन की घटनायें सुना रही है कि वह दूध लेकर जाती थी तो लोग किस तरह लोलुप निगाहों से उसकी रसभरी जवानी को देखते थे। एक बार एक तिलकधारी पंडित तो इतने ग्रागे बढ़े कि झुनिया को जबर्दस्ती पकड़ना चाहा; लेकिन चालाक झुनिया ने दूध की मटकी पंडित के सिर पर पटक दी। यहां प्रेमचंद लिखते हैं:—

"गोबर कहकहा लगाकर बोला—बहुत ग्रच्छा किया तुमने। दूध से नहा गया होगा? तिलक-छापा भी धुल गया होगा। मूंछें भी क्यों न उखाड़ लीं।"

कहकहे संघर्ष को ग्रागे बढ़ा रहे हैं। पाठक के मन में प्रेरणा उत्पन्न होती है कि समाज के रंगे-सियारों की सचमुच मूछें उखाड़ ली जायें।

इसी उपन्यास की मिस मालती जब बने हुए साधुस्वभाव ग्रोंकारदास को शपथ तोड़कर शराब पिलाने में सफल हो जाती है, तो राय साहब की महफिल में जान सी पड़ जाती है:—

"हाल में ऐसा शोर-गुल मचा, कि कुछ न पूछो! जैसे—पिटारी में बन्द कहकहे निकल पड़े हों। वाह देवी जी! क्या कहना! कमाल है मिस मालती! कमाल है!! नमक का कानून तोड़ दिया, तो धर्म का किला तोड़ दिया, नेम का घड़ा फोड़ दिया।"

जब सम्पादक महोदय खिसियाने होकर दलीलबाजी करने लगे तो चपत पड़ी:—

"कानून भी तो बंधन है; उसे क्यों नहीं तोड़ते? बस वही बंधन तोड़ो, जो ग्रपनी लालसाग्रों में रुकावट डालते हों उसको सांप बनाकर पीटो, ग्रौर तीसमारखां बनो।"

प्रेमचन्द की महफ़िलों में पढ़-ग्रपढ़, बड़े-छोटे, मर्द ग्रौर ग्रौरतें सब हँसते हैं। जो हंस नहीं सकते, उनसे प्रेमचन्द को तनिक भी सहानुभूति नहीं। ग्रब ज़रा ग्रौरतों की महफ़िल देखिये। 'लांछन' कहानी की जगनूबाई पूरी शैतान की ख़ाला है। लोगों की छोटी-छोटी त्रुटियां ग्रौर दोष जमा करना, ग्रौर उन्हें इधर-उधर फैलाना उसका काम है। इसी कारण महिलाश्रम की छोटी-

बड़ी अध्यापिकायें सभी उससे डरती हैं; लेकिन नयी हेडमिस्ट्रेस मिस खुरशीद ने उसकी सारी शेखी किरकिरी कर दी। उसे बनाने के लिये बिलियम किंग से प्रेम का नाटक रचा। अब जुगनू को यह बात कहां पचती। रातभर बड़ी मुश्किल से काटी। सुबह होते ही आश्रम में यह खबर घुमा दी और लगी मिस खुरशीद पर मनमाने लांछन लगाने। लेकिन जब अन्त में मालूम हुआ कि रात को खुरशीद के पास शराब के नशे में धुत्त, जो बिलियम किंग आया था, और जिससे डरकर जुगनूबाई भीगी बिल्ली बनाकर कोंने में दुबक गई थी, वह वास्तव में आश्रम की डाक्टर लीलावती है, और मिस खुरशीद और लीलावती ने सिर्फ जुगनू को बनाने और परास्त करने के लिये यह नाटक खेला था तो—

"......चारों ओर क़हक़हे बुलन्द हुए। कोई तालियां बजाती थी। कोई डाक्टर लीलावती की गर्दन में चिपटी जाती थी, कोई मिस खुरशीद की पीठपर थपकियां देती थी। कई मिनट हू-हक मचा रहा। जुगनू का मुंह इस रोशनी में ज़रा-सा निकल आया, जबान बन्द हो गई। ऐसा चरका उसने कभी न खाया था। इतनी ज़लील कभी न हुई थी।

उस दिन से फिर किसी ने जुगनू की सूरत नहीं देखी। आश्रम के इतिहास में यह घटना आज भी मनोरंजन का विषय बनी हुई है।"

: ९ :

नया-विवाह

"मैं, विवाह को आत्म-विकास का साधन समझता हूँ, स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का अगर कोई अर्थ है, तो यही है। वरना मैं, विवाह की कोई जरूरत नहीं समझता।"

—प्रेमचन्द

देहात में विशेषतः और बहुधा शहरों में भी छोटी उम्र के विवाह का रिवाज था। प्रेमचन्द भी इस पुराने रिवाज के शिकार हुए। पिता ने उनका विवाह तेरह-चौदह वर्ष की अवस्था में कर दिया था। प्रेमचन्द को इस बात का बड़ा ही खेद था। जवान-पत्नी मन में तरह तरह के अरमान लेकर आई थी, वे पूरे न हो सके। इधर प्रेमचन्द के अपने ही अरमान पूरे न होते थे; कालेज में पढ़ने की साध मन में रह गई थी। वे पत्नी के अरमानों का ख्याल क्या रखते? स्कूल-मास्टर हुए तो विमाता और उसके बच्चों का बोझ सिर पर आ पड़ा। पत्नी को इस बात की बड़ी डाह थी और वह हमेशा कुढ़ती रहती थी। वह चाहती थी कि पति अब कमाने लगा, वह घर की मालकिन बने, प्रत्येक मास का वेतन उसे लाकर दे और वह उसे अपनी इच्छानुसार खर्च करे। मगर घर में, सौतेली माँ का राज रहा, वह अपने आपको उसकी आश्रिता समझती रही। इसका क्रोध प्रेमचन्द पर उतरता था।

'मांगे-की-घड़ी' के नायक में, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, प्रेमचन्द ने बहुत हद तक अपने ही जीवन को अंकित कर दिया है। वह ससुराल जाता है, तो पत्नी से भेंट का हाल इस प्रकार वर्णन किया गया है:—

"रात को देवी जी ने पूछा—सब रुपये उड़ा आये कि कुछ बचा भी है।"

मेरा सारा प्रेमोत्साह शिथिल पड़ गया, न क्षेम-कुशल, न प्रेम की कोई बातचीत, बस, हाय रुपये! हाय रुपए!! जी में आया कि इसी वक्त

उठकर चलदूँ। लेकिन जब्त कर गया। बोला—"मेरी आमदनी जो कुछ है, वह तो तुम्हें मालूम है।"

"मैं क्या जानूँ तुम्हारी क्या आमदनी है ? कमाते होगे अपने लिए, मेरे लिये क्या करते हो ? तुम्हें तो भगवान ने औरत बनाया होता, तो अच्छा होता। रात-दिन कंघी-चोटी किया करते। तुम नाहक मर्द बने। अपने शौक-सिंगार से बचता ही नहीं, दूसरों की फिक्र तुम क्या करोगे ?"

मैंने झुँझलाकर कहा—"क्या तुम्हारी यही इच्छा है कि इसी वक्त चला जाऊँ ?" देवी जी ने भी त्योरियाँ चढ़ाकर कहा—चले क्यों नहीं जाते। मैं तो तुम्हें बुलाने न गई थी या मेरे लिए कोई रोकड़ लाये हो।

मैंने चिंतित स्वर में कहा—तुम्हारी निगाह में प्रेम का कोई मूल्य नहीं है, जो कुछ है वह रोकड़ है।

देवी जी ने त्यौरियाँ चढ़ाये हुए ही कहा—प्रेम अपने आपसे करते होंगे, मुझसे नहीं करते।

"तुम्हें पहले तो यह शिकायत कभी न थी।"

"इससे यह तो तुमको मालूम ही हो गया कि मैं रोकड़ की परवा नहीं करती; लेकिन देखती हूँ कि ज्यों-ज्यों तुम्हारी दशा सुधर रही है, तुम्हारा हृदय भी बदल रहा है। इससे तो यही अच्छा था कि तुम्हारी वही दशा बनी रहती। तुम्हारे साथ उपवास कर सकती हूँ, फटे चीथड़े पहनकर दिन काट सकती हूँ। लेकिन यह नहीं हो सकता कि तुम चैन करो और मैं मैके में पड़ी भाग्य को रोया करूँ। मेरा प्रेम इतना सहनशील नहीं है।"

उस वक्त प्रेमचन्द स्कूल-मास्टर नियुक्त हुए थे और अठारह रुपये मासिक वेतन मिलता था। इस कहानी का नायक हू-बहू प्रेमचन्द नहीं है, लेकिन इस कहानी में उसकी आर्थिक दशा का जो वर्णन किया गया है, वह प्रेमचन्द की अपनी दशा से मिलती-जुलती है। फर्क सिर्फ यह है कि इस कहानी का नायक अपने मित्र दानू से घड़ी मांगकर और बन-ठनकर ससुराल गया है। लेकिन प्रेमचन्द ने शायद ऐसा न किया हो, और मुमकिन है कि ऐसा किया भी हो। और इस घटना के उपरान्त ही उन्हें यह नसीहत हुई हो, कि दिखावे और आडम्बर की हविस व्यर्थ है। जब तुम वाकई गरीब हो, तो गरीब कहलाने में शर्म क्यों ! और यों ही अमीर कहलाने से लाभ ?

इस कहानी से यह भी पता चलता है कि पत्नी मैके में या सौतेली सास के पास पड़े रहने की अपेक्षा, उनके पास आकर रहने की इच्छा रखती थी; लेकिन थोड़ी तनखाह के कारण प्रेमचन्द ऐसा न कर सके। लाचारी और मजबूरी

थी और इन्हीं लाचारियों और मजबूरियों के कारण दिलों में गाँठ पड़ती गई, द्वेष बढ़ता रहा।

"जीवन का शाप" कहानी का मुख्य-पात्र कावसजी एक ऐसा व्यक्ति है, जो प्रेमचन्द का जीवन-आदर्श पेश करता है। निर्धन कावसजी की धनी शापूर जी से इस प्रकार तुलना की गई है :—

"कावसजी ने पत्र निकाला और यश कमाने लगे। शापूरजी ने रूई की दलाली शुरू की, और धन कमाने लगे। कमाई दोनों कर रहे थे। शापूरजी प्रसन्न थे, कावसजी विरक्त। शापूरजी को धन के साथ सम्मान और यश आप-ही-आप मिल रहा था। कावसजी को यश के साथ धन दूरबीन से देखने पर भी दिखाई न देता था; इसलिये शापूरजी के जीवन में शांति थी, सहृदयता थी, आशा थी, क्रीड़ा थी। कावसजी के जीवन में अशांति थी, कटुता थी, निराशा थी, उदासीनता थी। धन को तुच्छ समझने की वह बहुत चेष्टा करते थे, लेकिन प्रत्यक्ष को कैसे झुठला देते? शापूरजी के घर में विराजने वाले सौजन्य और शांति के सामने उन्हें अपने घर के कलह और फूहड़पन से घृणा होती थी। मृदु-भाषिणी मिसेज शापूरजी के सामने उन्हें अपनी गुलशन बानू संकीर्ण और ईर्ष्या की देवी सी लगती थी। शापूरजी घर में आते, तो शीरी बाई मृदुहास से उनका स्वागत करती। वह खुद दिन भर के थके-मांदे घर आते, तो गुलशन अपना दुखड़ा सुनाने बैठ जाती, और उनको फटकारें बताती—तुम भी अपने को आदमी समझते हो! मैं तो तुम्हें, बैल समझती हूँ, बैल बड़ा मेहनती है, ग़रीब है, संतोषी है, माना; लेकिन उसे विवाह करने का क्या हक़ है?

"कावसजी से एक लाख बार यह प्रश्न किया जा चुका था जब तुम्हें समाचार-पत्र निकाल कर अपना जीवन बरबाद करना था, तो तुमने विवाह क्यों किया? क्यों मेरी ज़िंदगी तलख़ करदी? जब तुम्हारे घर में रोटियां न थीं, तो मुझे क्यों लाये? इस प्रश्न का जवाब देने की कावसजी में शक्ति न थी। उन्हें कुछ सूझता ही न था। वह सचमुच अपनी ग़लती पर पछताते थे।"

मगर प्रेमचन्द के मामले में यह गलती खुद उन्होंने नहीं, बल्कि उनके पिता मुंशी अजायबलाल ने की थी; इसीलिये प्रेमचन्द ने उनके सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है आखिरी उम्र मे खुद भी ठोकर खाई और एक धक्का देकर उन्हें भी गिरा दिया। प्रेमचन्द गलतियों पर सिर्फ पछताते रहने और निराश हो जाने वाले व्यक्ति नहीं थे। वे मानव सुलभ दुर्बलताओं को समझते थे

श्रौर यह भी जानते थे, कि प्रेम महज शून्य में नहीं पल सकता; उसके लिये भी भोजन दरकार है। सौजन्य अथवा संकीर्णता भी मनुष्य का जन्म सिद्ध स्वभाव अथवा प्रकृति नहीं, परिस्थितियों की उपज है। कटुता, ईर्ष्या और चिड़चिड़ापन, प्रतिकूल परिस्थितियों से उत्पन्न होता है। इसलिये कटुता और फूहड़पन के लिये वे पत्नी को दोषी नहीं मानते थे, और सदैव मेलजोल और समझौते का प्रयत्न करते रहते थे; लेकिन समझौते की सूरत पैदा न होते देखकर उन्हें वास्तव में दुःख होता था।

जब समझौते और मेल-मिलाप की कोई सम्भावना नहीं, बल्कि इसके विपरीत मन-मुटाव बढ़ रहा था, तो इसका एक ही इलाज रह जाता था, कि वे पत्नी से सम्बन्ध विच्छेद कर लें, और हमेशा के लिये अलग-अलग रहें। प्रेमचंद जैसे सहृदय और सज्जन मनुष्य के लिये यकायक यह क़दम उठाना सम्भव नहीं था। वह इस समाज में औरत को सबसे पीड़ित जीव समझते थे और अपने उपन्यासों और कहानियों में उस पर सदियों के अत्याचारों और दमन का विरोध करते थे। फिर यह कैसे सम्भव था कि वे अपनी स्त्री से एकदम सम्बन्ध-विच्छेद कर लें। इसी 'जीवन का शाप' कहानी में कावसजी पत्नी के प्रति अपनी उपेक्षा और उदासीनता पर पछताते हुए सोच रहे हैं :—

"गुलशन पर वह क्यों बिगड़ जाते हैं? इसीलिये कि वह उनके आधीन है, रूठ जाने के सिवा कोई दंड नहीं दे सकती? कितनी नीच कायरता है कि हम सबलों के सामने दुम हिलायें और जो हमारे लिये अपने जीवन का बलिदान कर रहा है, उसे काटने दौड़ें।"

पत्नी के बारे में उनके मन में प्रश्न उत्पन्न होता था—"छोड़ें या न छोड़ें?" और चिरकाल तक वे इसी दुविधा में पड़े रहे। उनकी मनोदशा को समझने के लिये स्त्री और पुरुष के सम्बंध के बारे में उनके दृष्टिकोण को समझ लेना ज़रूरी है। इसके लिये सिर्फ़ एक-दो उदाहरण क़ाफ़ी होंगे।

'जीवन का शाप' कहानी ही को लीजिये। इसमें उन्होंने अपने दृष्टिकोण को बड़े ही सुन्दर और स्पष्ट ढंग से पेश किया है। इस कहानी का एक टुकड़ा देखिये। शापूर जी रात भर रंग-रेलियां मनाने के बाद घर लौटते हैं। वहां कावसजी के पूछने पर बताते हैं कि उन्हें खाने में देर हो गई; लेकिन कावसजी ने, जैसा कि पत्रकारों की आदत है, वे सिर्फ़ बात ही नहीं पूछते, बात की जड़ भी खोजते हैं, दरियाफ़्त किया :—

"दावत में मेज़बान कौन साहब थे?"

उत्तर मिला—"मिस गौहर।"

"मिस गौहर ?"

"जी हाँ, वही। आप चौंके क्यों ? क्या आप इसे तस्लीम नहीं करते कि दिन-भर रुपया-आने-पाई से सिर मारने के बाद मुझे कुछ मनोरंजन करने का भी अधिकार है, नहीं तो जीवन भार हो जाय।"

"मैं इसे नहीं मानता।"

"क्यों ?"

"इसीलिये कि मैं इस मनोरंजन को अपनी ब्याहता स्त्री के प्रति अन्याय समझता हूँ।"

शापूर जी नक़ली हँसी हँसे:—"वही दक़ियानूसी बात। आपको मालूम होना चाहिये; आज का समय कोई ऐसा बंधन स्वीकार नहीं करता।"

"और मेरा ख़याल है कि कम-से-कम इस विषय में आज का समाज एक पीढ़ी पहले के समाज से कहीं परिष्कृत है। अब देवियों का यह अधिकार स्वीकार किया जाने लगा है।"

यही बात कुछ अधिक स्पष्टता के साथ "दो सखियां" कहानी में कही गई है। इस कहानी का नायक विनोद औरत को बराबर के अधिकार देने का पक्षपाती है। उसका विवाह पढ़ी-लिखी लड़की पद्मा से होता है। पद्मा आत्माभिमानिनी है, और वह इस अभिमान और संकुचित विचारों के कारण, पति को समझने में असफल रहती है; और उसे जान-बूझकर तंग करती है। लेकिन विनोद हमेशा बनाये रखने का प्रयत्न करता है, और पत्नी के अशिष्ट, अन्यायपूर्ण व्यवहार को न सिर्फ सहन करता है, बल्कि बड़ी उदारता से भुला देता है। लेकिन पद्मा की ओर से उपेक्षा बढ़ती जाती है, यहां तक कि इकट्ठे रहने में दुःख और अपमान ही रह जाता है, तो विनोद घर छोड़ देता है। जाते समय पत्नी के नाम जो पत्र छोड़ जाता है, उसके ये शब्द विचारणीय हैं :—

"मुझे जाने का लेश-मात्र भी दुःख नहीं है, क्योंकि मैं जानता हूँ, तुम खुश होगी। जब तुम मेरे साथ सुखी नहीं रह सकतीं, तो मैं ज़बरदस्ती क्यों पड़ा रहूँ। इससे तो यह कहीं अच्छा है, कि हम और तुम अलग हो जायें। मैं जैसा हूँ, वैसा ही रहूंगा। तुम जैसी हो वैसी ही रहोगी। फिर सुखी जीवन की सम्भावना कहाँ। मैं विवाह को आत्म-विकास का साधन समझता हूँ। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का अगर कोई अर्थ है, तो यही है, वरना मैं विवाह की कोई ज़रूरत नहीं समझता।···विवाह का उद्देश्य यही है और केवल यही है, कि स्त्री और पुरुष एक-दूसरे की आत्मोन्नति में सहायक हों।"

इन शब्दों से प्रेमचंद के मन की टीस प्रकट है। वे नहीं चाहते थे कि स्त्री,

पुरुष की उन्नति में बाधक हो। इसलिये वे एक नवजीवन और नवव्यवस्था की अभिलाषा करते थे, जिसमें पति और पत्नी में हार्दिक प्रेम हो, उनका जीवन हर्ष और उल्लास से भरा हो। 'कर्म-भूमि' के नायक—अमरकान्त के वे शब्द जो उसने घर से अलग होते समय, पिता से कहे थे, प्रेमचंद की इस अभिलाषा को व्यक्त करते हैं। अमर कहता है :—

"मैं, एक नये जीवन का सूत्रपात करने जा रहा हूँ...जहां स्त्री, पति को केवल नीचे नहीं घसीटती, उसे पतन की ओर नहीं ले जाती; बल्कि उसके जीवन में आनन्द और प्रकाश का संचार करती है।"

विनोद उक्त पत्र में आगे लिखता है:—

"मैं, धर्म और नीति का ढोंग नहीं मानता, केवल आत्मा का संतोष चाहता हूँ, अपने लिये भी, तुम्हारे लिये भी जीवन का तत्व यही है, मूल्य यही है।"

और एक दूसरे स्थान पर इससे पहले विनोद ने कहा था:—

"मैं, वर्तमान वैवाहिक-प्रथा को पसंद नहीं करता। इस प्रथा का आविष्कार उस समय हुआ था, जब मनुष्य सभ्यता की प्रारंभिक दशा में था। तब से दुनियाँ बहुत आगे बढ़ी है। मगर विवाह प्रथा में जौ भर भी अंतर नहीं आया। यह प्रथा वर्तमान-काल के लिये उपयोगी नहीं है।"

आखिर कावसजी का गुलशन बानू से और विनोद का पद्मा से समझौता हो गया; क्योंकि पद्मा ने और दूसरे शब्दों में गुलशन बानू ने भी ऐलान किया।

"आज से मेरे जीवन का नवयुग आरम्भ होता है; जिसमें भोग और विलास की नहीं, सहृदयता और आत्मीयता की प्रधानता होगी।"

लेकिन प्रेमचन्द की पत्नी में यह परिवर्तन नहीं आया। उनके जीवन में सहृदयता और आत्मीयता का अभाव वही रहा; इसलिये उन्होंने ऐसा क़दम उठाया जो वह उठाना नहीं चाहते थे। इस सिलसिले में मुन्शी दयानारायण निगम लिखते हैं:—

"प्रेमचन्द, अपनी ज़िंदगी अमनो-सकून से बसर करना चाहते थे। वे न खुद किसी के साथ सख्ती करना पसन्द करते थे, और न किसी की कोई कड़ी बात बरदाश्त कर सकते थे। निजी मामलात में वे हमेशा एतदाल पर कायम रहना चाहते थे। उनकी सबसे बड़ी आजमायश शादी के मौके पर हुई। जहां तक मालूम हो सका है, उनकी पहली बीबी बहुत बदसलीका थीं। जिसकी वजह से उनकी ज़िन्दगी तलख़ हो गई थी। आये दिन के

झगड़ों के अलावा कुछ और वाकयात भी पेश आये। जिनके सबब से मसालहित (समझौते) का कोई मौका बाकी न रहा। जब उन्होंने मुझे मुफ़स्सल हालात बतलाये तो मैं भी उन्हें इलज़ाम न दे सका। इत्तफाक़ से इस बारे में उनका एक खत महफ़ूज़ रह गया है, जिस पर कोई तारीख नहीं है। यह यकीनन सन् १६०५ का लिखा हुआ मालूम होता है:—"ब्रादरम, अपनी बीती किससे कहूँ? ज़ब्त किये कोफ्त हो रही है। ज्यों-त्यों करके एक अशर (पखवाड़ा) काटा था कि ख़ानगी तरद्दुदात (घरेलू झमेले) का तांता बँधा···बीबी साहबा ने ज़िद पकड़ी कि यहाँ न रहूंगी, मैके जाऊँगी। मेरे पास रुपया न था। लाचार खेत का मुनाफा वसूल किया। उनकी रुखसती की तैयारी की, वे रो-धोकर चली गईं। मैंने पहुँचाना भी पसंद न किया। आज उनको गये आठ रोज हो गये। खत न पत्र। मैं उनसे पहले ही नाखुश था, अब तो सूरत से बेज़ार हूं। गालबन उनकी बिदाई दायमी (स्थायी) साबित हो। खुदा करे ऐसा ही हो। मैं बिला बीवी के रहूंगा। इधर नन्हिाल की तरफ से और वालिदा की तरफ से ज़िद है, कि ब्याह रचे; और जरूर रचे। जब कहता हूँ मुफलिस हूँ···तो वालिदा कहती हैं कि तुम अपनी रजामंदी दे दो, तुमसे एक कौड़ी न मांगी जायेगी। बहरहाल अब के तो गला छुड़ा ही लूँगा। आयंदा की बात नारायण के हाथ है। जैसी आपकी सलाह होगी, वैसा करूँगा। इस बारे में अभी फिर मशविरा करने की ज़रूरत बाक़ी है।"

इस खत में वालिदा, विमाता के लिये लिखा है, जिसका मतलब है कि पत्नी से अधिक उनकी चाची अर्थात् विमाता से पटती थी, और उससे पहली सी घृणा न रह गई थी। 'घर-जमाई' कहानी में विमाता के बारे में यही विचार प्रकट किये गये है। एक किसान हरिधन से कहता है:—

"तुम नई अम्माँ से नाहक डरते थे। बड़ी सीधी हैं बेचारी, बस अपनी अम्माँ ही समझो, तुम्हें पाकर तो गद्‌गद् हो जायेंगी।"

हरिधन विमाता को पसन्द नहीं करता था, इसलिए ससुराल में जाकर रहने लगा। जो रुपया पैसा साथ ले गया था, उसके समाप्त होते ही सास, साले और खुद उसकी पत्नी—उससे घृणा करने लगी। सारा-सारा दिन घरका और बाहर का काम करता था, फिर भी नौकरों से अधिक बुरा व्यवहार होता था, और पेट भर खाने को नहीं मिलता था। तंग आकर उसने ससुराल का घर छोड़ दिया और पत्नी से साथ चलने को कहा; लेकिन वह निर्धन पति का साथ देने को तैयार न हुई। यही किसान जो हरिधन को ससुराल से लौटते समय रास्ते में मिल गया था, पूछता है:—P. G.

"अच्छा घरवाली को भी तो लाओगे ?"

हरिधन—'उसका मुंह अब न देखूँगा। मेरे लिये वह मर गई, मंगरू (किसान का नाम)—'तो दूसरी सगाई हो जायेगी। अबके ऐसी औरत ला दूँगा कि उसके पैर धोकर पियोगे। पर कहीं पहली आ गई तो ?' हरिधन—'वह न आयेगी।'

प्रेमचन्द ने भी दूसरा विवाह कर लिया। लेकिन इस विवाह में उन्होंने जिस सिद्धान्त का परिचय दिया, वह प्रशंसनीय है। निगम साहब लिखते हैं—

"....विवाह के बारे में सोच-विचार और बहुत कुछ वाद-विवाद के बाद तय पाया कि विवाह हो तो किसी विधवा से। प्रेमचंद का उस समय चढ़ता यौवन था और वे एक हंसमुख, विनोदशील, सुन्दर, स्वस्थ नौजवान थे। श्रीवास्तव जाति में जिससे उनका सम्बन्ध था, सगाई पर टीका लेने की प्रथा आम थी, और हजार-दो हजार नकद तो उन्हें आसानी से मिल सकता था। यह रकम उस समय उनके लिये बड़ी रकम थी। उनके सम्बन्धी विधवा-विवाह के खिलाफ थे; मगर वे अपने फैसले पर अटल रहे और जिला-फतहपुर में सलीमपुर (कंवारा) गांव में श्रीमती शिवरानी देवी के साथ उनकी दूसरी शादी हो गई....।"

श्रीमती शिवरानी देवी का विवाह इतनी छोटी उम्र में कर दिया गया था कि वे बचपन ही में विधवा हो गई थी। शिवरानी देवी अब भी जीवित हैं, और बड़ी अच्छी तथा साहसी औरत हैं। प्रेमचंद की उनसे खूब निभी। पहली पत्नी जब तक जीवित रहीं, वे उसे हर महीने खर्च भेजते रहे, मगर सम्बन्ध विच्छेद का उन्हें आजीवन खेद ही रहा क्योंकि ऊपरलिखित दोनों कहानियां 'जीवन का शाप' और 'दो सखियाँ' बहुत बाद की रचनायें हैं। जो समझौता वास्तविक जीवन में न हो सका, वह कल्पित संसार में—इन कहानियों में किया गया है। शिवरानी देवी को जब मालूम हुआ, तो उसने बहुत कोशिश की कि वे पहली पत्नी को भी ले आयें; लेकिन ऐसा न हो सका। अपनी खुशी से वह न आई और लिवाने प्रेमचंद नहीं गये।

प्रेमचंद ने एक कहानी "नया-विवाह" शीर्षक से भी लिखी है। उसका प्लाट तो कुछ और ही है; लेकिन ब्याह के सम्बन्ध में प्रेमचंद का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। पहली पत्नी लीला से सेठजी की तबीयत न भरी, दूसरी विवाह लाये। नई-पत्नी आशा, उम्र में बहुत छोटी है, उन्हें दादा से कम नहीं समझती और उन्हें 'आप' कहकर सम्बोधित करती है। इससे सेठजी की आत्मा को कष्ट पहुँचता है, वे एतराज करते हैं :—

"तुम मुझे 'आप' क्यों कहती हो। मैं अपने घर में देवता नहीं, चंचल बालक बनना चाहता हूँ……आशा ने जैसे भीतर से जोर लगाकर कहा 'तुम' और उसका मुख-मण्डल लज्जा से आरक्त हो गया।"

प्रेमचंद इस प्रकार के बेमेल-विवाह की हमेशा निंदा करते थे। विधवा से विवाह करके उन्होंने मानसिक संतोष प्राप्त किया और अपने घर में चंचल बालक बनकर रहे। शिवरानी देवी के साथ उनके गृहस्थ-जीवन का ज़िक्र आगे आयेगा, अब ज़रा इसी 'नया-विवाह' कहानी का एक उद्धरण और देखिये:—

"ब्याह क्या है? जीवन का आनन्द उठाने के लिये झिलमिलाते हुए दीपक में तेल डालना, उसे और तेज़ करना। अगर दीपक का प्रकाश तेज़ न हो, तो तेल डालने से लाभ?"

: १० :

इस्तीफा

"हमारे असाधारण कार्य, फैसलों से नहीं हुआ करते, हम अंतिम समय तक असमंजस और दुविधा में पड़े रहते हैं।"

—प्रेमचन्द

हमीरपुर में प्रेमचन्द प्रायः बीमार रहते थे। वहाँ खाने-पीने का ठीक प्रबन्ध नहीं था; जिस कारण उन्हें एकबार कई दिन तक सूखी घुइयाँ खानी पड़ीं। एक दिन पेट में ऐसा दर्द हुआ कि तमाम दिन मछली की तरह तड़पते रहे। लिखते हैं :—

"फंकियां खायीं, पेट पर गर्म बोतल फेरी, जामुन का अर्क पिया। देहात में जितनी दवाएं मिल सकती थीं, खायीं, मगर दर्द कम न हुआ! दूसरे दिन से पेचिश हो गई। मल के साथ आंव आने लगी, लेकिन दर्द जाता रहा।"

प्रेमचन्द स्वादिष्ट भोजन सामने देखकर संयम नहीं रख सकते थे। इस घटना के एक महीने बाद, जब वह दौरे पर थे, तो एक थाना में ठहरना हुआ। दरोगा ने उनकी आवभगत की। ज़िमीकंद पकवाया, दही-बड़े, पकौड़ियाँ, पुलाव सब कुछ बनवाया और प्रेमचन्द ने भी जी भरकर खाया। लेकिन जब खा-पीकर सोये तो ढाई घंटे बाद ही पेट में दर्द शुरू हो गया। सोडे की दो बोतलें पीने के बाद कै हुई, तब कहीं दर्द को आराम हुआ; लेकिन पेचिश सदा के लिये जीवन का रोग बन गई। यह सब ज़िमीकंद की कारस्तानी थी। उस दिन से प्रेमचन्द ज़िमीकंद और घुइयों के पास तक नहीं फटके, सूरत देख कर कांप जाते थे।

प्रेमचन्द ने इस मर्ज के कारण सन् १९१४ में तबादले की दरखास्त दी। खयाल था कि किसी अच्छी जगह तबादला होगा; लेकिन उन्हें बस्ती के जिला में पटका गया। यह इलाका नैपाल की तराई में स्थित है। यहां आकर

पेचिश का रोग और बढ़ गया। इस दूर स्थान म पढ़े-लिख लोगों की संगति भी न रही। लेकिन डुमरियागंज के तहसीलदार पं० मन्नन द्विवेदी गजपुरी विनोदशील व्यक्ति थे, साहित्य और ज्ञान सम्बन्धी समस्याओं से दिलचस्पी रखते थे। उनसे खूब वाद-विवाद होता था, खूब साहित्य चर्चा रहती थी। यहीं से उन्होंने "अनाथ लड़की", "खून सफेद", "शिकारी और राजकुमार", "ग़ैरत की कटार" और "मरहम" आदि कहानियाँ लिखीं। इन कहानियों का प्लाट इतिहास से नहीं लिया गया, पर उन दिनों की उनकी ज्ञान-चर्चा और जिज्ञासा इन रचनाओं में झलकती है।

पेचिश इतनी बढ़ी कि असह्य हो गई। तब वह छः महीने की छुट्टी लेकर लखनऊ आये और मेडिकल-कालेज में इलाज कराते रहे। कुछ लाभ न हुआ। तो बनारस आकर एक हकीम का इलाज शुरू किया। तीन-चार महीने के लगातार इलाज से लाभ तो हुआ; पर रोग जड़ से न गया। छुट्टी समाप्त कर के जब बस्ती में आये तो फिर वही हालत हो गई। उनके लिये दौरों पर जाना सम्भव नहीं रहा; इसलिये मुदर्रिसी (अध्यापकी) पर जाने की दर-ख्वास्त दी।

इसके अतिरिक्त घर की चितायें भी बढ़ गई थीं। पहले उनके एक सम्बन्धी जयनारायण लाल उनके पास रहा करते थे। उन्हें लिखने-पढ़ने से भी रुचि थी। प्रेमचन्द को उनका बड़ा सहारा था। उन्हें अकसर दौरे पर रहना पड़ता था; लेकिन उनके रहते घर की ओर से निश्चिन्त रहते थे। वे थोड़ी-सी बीमारी के बाद महूबा में ही चल बसे। सन् १९१५ में एक मित्र को महूबा से एक पत्र में लिखा :—

"इस सदमे से कमर टूट गई। हिम्मत-पस्त हो गई। जिस इन्स्पेक्टरी को बड़ी आरजुओं और तमन्नाओं के बाद हासिल किया था, वही अब जी का जंजाल हो रही है। बीबी को तनहा(अकेली) छोड़कर दौरे पर कैसे जाऊँ...।"

जुलाई सन् १९१५ में वह गवर्नमेन्ट स्कूल, बस्ती के असिस्टेंट टीचर नियुक्त हुए और तीन वर्ष तक इसी स्कूल में रहे। दौरों से अवकाश पाकर उन्होंने साहित्य रचना की ओर ध्यान दिया। "धोखा", "दो भाई", "बेटी का धन", "पाँच-परमेश्वर", "जुगनू की चमक", "शंखनाद" आदि कहानियाँ इन दिनों लिखीं। इन कहानियों के पढ़ने से पता चलता है, कि जनता से उनका सम्पर्क गहरा होता जा रहा था, जिसकी अच्छाई और महत्ता में उनका विश्वास बढ़ गया था।

अगस्त सन् १९१८ में वह बस्ती से गोरखपुर आये। वहां उनका परि-

चय महावीर प्रसाद पोद्दार से हो गया। वह हिन्दी साहित्य के विख्यात विद्वान देश-भक्त और कर्मठ व्यक्ति थे। प्रेमचन्द को उनकी संगति से यथेष्ट लाभ हुआ। उन दिनों प्रेमचन्द ने स्वयं भी हिंदी में लिखना आरम्भ कर दिया था। उनका उपन्यास 'सेवा-सदन' (बाजारे हुस्न) शायद १९१४ में छपा था, बहुत पसन्द किया गया। इससे पहले भी हिन्दी में उनकी कुछेक कहानियाँ और दो-तीन छोटे-छोटे उपन्यास छप चुके थे; लेकिन 'सेवा-सदन' लिखकर उन्होंने अपना लोहा मनवा लिया।

इस प्रोत्साहन और लोकप्रियता से प्रेरित होकर उन्होंने अपना प्रथम लम्बा उपन्यास 'प्रेमाश्रम' लिखना शुरू किया। इस उपन्यास में उस समय के देहात का सही और सच्चा चित्र सामने आ जाता है और यह भी मालूम हो जाता है कि प्रेमचन्द को अपने देश की दरिद्र और किसान जनता से कितनी सहानुभूति थी। वे उनके लिये स्वराज्य और सुख की कितनी अभिलाषा रखते थे।

ब्रिटिश-साम्राज्य की लूट-खसोट के कारण हमारे देहाती-समाज का ढाँचा बिलकुल टूट गया था। इससे पहले भी राज्य बदलते रहे, लेकिन उनका देहातों पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। अगर पड़ा तो बहुत मामूली। उन्हें राज्य से कोई सरोकार नहीं था। वे अलग-अलग रहते थे, जिस कारण उनमें एक प्रकार का अंध-विश्वास, प्राचीनता और रूढ़िवाद का मोह उत्पन्न हो गया था। तो भी एक प्रकार की समृद्धता उनके जीवन में थी। फिर परस्पर मेल-जोल, एकता, स्वाभाविक प्रेम और एक महानता थी।

ब्रिटिश-साम्राज्यवादी यहाँ व्यापार की नीयत से आये थे। देहात भी अंग्रेज व्यापारियों की लोलुपता से न बच सके। व्यापार को सारे देश में फैलाने और राजसत्ता को भली प्रकार स्थापित करने के उद्देश्य से यातायात के साधनों को विस्तृत किया गया। रेल, डाक और तार के महकमे स्थापित किये गये। इन सब बातों का प्रभाव देहात पर भी पड़ा। जाहिर है कि अब वे अलग-अलग नहीं रह सकते थे। एक प्रकार से यह अच्छा ही था, क्योंकि इससे सभ्यता और संस्कृति का रूप निखरता, उनका रूढ़िवाद और अंध विश्वास टूटता, मशीनों के साथ जो नई सभ्यता आई थी, देहात में भी उसका प्रकाश जाता।

अंग्रेजों ने यह सब कुछ नहीं होने दिया। सारे देश को अपने आधिपत्य में लाकर देहात में पुरानी सामंती व्यवस्था कायम रहने दी। हिन्दुस्तान में मिलें और कारखानें लगाना तो एक ओर रहा, देहात में जो घरेलू-उद्योग-धंधे थे, उन्हें भी नष्ट कर दिया। हिन्दुस्तान को केवल कृषि-प्रधान देश रहने दिया,

ताकि ब्रिटन में चलने वाले कारखानों के लिये कच्चा माल उत्पन्न होता रहे, जो अंग्रेज शासक-वर्ग बहुत ही सस्ते दामों में खरीदता था और उसके मुकाबिले में विदेश म बना हुआ मशीनी माल बहुत महंगा बिकता था। उससे हिन्दुस्तान के किसानों की आर्थिक व्यवस्था दिन-दिन खराब होती गई। स्वयं अंग्रेज अर्थ शास्त्रियों का कथन है, कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक भारत की पहली सम्पन्नता नष्ट हो गई थी, और देहात विशेष-रूप से दरिद्र, विपन्न थे। रजनीपामदत्त ने अपनी पुस्तक "नया-भारत" (India To-day) में इस बारे में एक अंग्रेज इतिहासकार एम० एल० डार्लिग का कथन उद्धृत किया है।

"हिन्दुस्तान के बारे में, सब से अचम्भे की बात यह है कि उसकी मिट्टी उपजाऊ है और उसकी जनता निर्धन।"

इसके अतिरिक्त उन पर करों का बोझ भी बढ़ गया था। मुगलों के राज्य-काल में जिन लोगों को भूमि कर वसूल करने के लिये इलाका का मुख्तार नियुक्त किया गया था, अंग्रेजों ने उन्हें जमींदार बना दिया। इससे उनकी राजसत्ता दृढ़ होती थी। ये लोग भूमि-पति थे और किसान उनके मुजारे थे। जमींदार तरह-तरह के कर वसूल करते थे। उनके मुख्तार और गुमाश्ते किसानों को अलग लूटते थे। इसके अतिरिक्त सरकारी अफसर डिप्टी कमि-श्नर से लेकर तहसीलदार तक देहात को अपनी लूट-खसोट और घूसखोरी से दरिद्र बना रहे थे। पटवारियों, छोटे कर्मचारियों, प्यादों ओर चौकीदारों की तो बात ही जाने दीजिये, वे तो किसान के शरीर से स्थायी रूप से चिपटी रहने वाली जोकें थीं। इस दशा में किसान कैसे पनप सकता था! उसकी विपत्तियों का क्या ठिकाना। मामूली-मामूली इच्छायें मनमें घुट कर रह जाती थी; और हृदय में ज्वाला-मुखी जलता रहता था।

इन बातों का उल्लेख इसलिये आवश्यक था कि इस पृष्ठ भूमि को सामने रखकर प्रेमचन्द को समझने में सुविधा होती है। वे देहात में उत्पन्न हुए थे और अब दौरों के कारण देहात म रहना होता था, इसलिये वे अपने देश की देहाती जनता से और उसके सुख-दुखों से भली प्रकार परिचित हो गये थे। एक मित्र के कथनानुसार उन्होंने देश की जनता को सूँघ कर देखा था, उसकी आत्मा को पहचान लिया था।

नौकरी के सम्बन्ध में अफसरों और शिक्षितवर्ग से भी उनका वास्ता पड़ता था। जनता के प्रति इस वर्ग की निर्दयता और उपेक्षा देखकर प्रेमचन्द को बड़ा दुःख होता था। क्या डाक्टर, क्या वकील, क्या जज—सब पैसों

के लिये गरीबों का गला काटने वाले, पैसों के लिये आत्मा का खून करने वाले स्वार्थी लोग थे। "कर्म-भूमि" में लिखते हैं :—

"इतनी अदालतों की जरूरत क्या ? यह बड़े-बड़े महकमे किस लिये ? ऐसा मालूम होता है, गरीबों की लाश नोंचने वाले गिद्धों का समूह है। जिसके पास जितनी ही बड़ी डिग्री है, उसका स्वार्थ भी उतना ही बढ़ा हुआ है। मानों लोभ और स्वार्थ ही विद्वत्ता के लक्षण हैं ! गरीबों को रोटियां मयस्सर न हों, कपड़ों को तरसते हों; पर हमारे शिक्षित भाईयों को मोटर चाहिए, नौकरों की एक पलटन चाहिये। इस संसार को अगर मनुष्य ने रचा है, तो अन्याय है; ईश्वर ने रचा है, तो उसे क्या कहें।"

नौकरी के अनुभवों से प्रेमचन्द की यह भावना बहुत ही तीव्र हो गई थी। अदालत, अफसर, जमींदार और उनके प्यादे सब किसानों को लूटते थे। फिर सूदखोर थे, जिनकी संरक्षण शक्ति भी यही सरकार और अदालतें थीं। एक गरीब किसान थे, जो दिन रात परिश्रम करते थे और सरगर्मी से रचनात्मक कार्य में व्यस्त रहते थे तो दूसरी ओर स्वार्थी और निकम्मे लोगों का यह समूह था, जो किसानों की हड्डियाँ तक चबा जाने के लिये गिद्धों के समान उनके सिरों पर मंडराता था। फिर विश्वव्यापी युद्ध छिड़ गया। युद्ध का विध्वंस कार्य सिर्फ यही नहीं कि असंख्य मनुष्य मारे जाते हे, हजारों-लाखों बच्चे अनाथ और स्त्रियाँ विधवा होती हैं, सुन्दर नगर और भव्य इमारतें खंडहर हो जाती है, साहित्य और संस्कृति के खजाने—पुस्तकालय धूल में मिल जाते हैं, बल्कि समस्त श्रमजीवीवर्ग के लिये जीवन-निर्वाह कठिन हो जाता है। सरकार नोट छापकर उसकी मेहनत पर डाके डालती है। मशीनी माल और मंहगा हो जाता है। इस जंग में भी ऐसा ही हुआ। यद्यपि अनाज के दाम भी बढ़े थे; पर उससे जमींदार और धनी किसानों को लाभ पहुँचा; लेकिन गरीब किसानों और मुजारों का मंहगाई के मारे कचूमर निकल गया। इसी के परिणाम-स्वरूप युद्ध के कारण देश में स्वतन्त्रता-संग्राम भी तीव्र हो गया और अंग्रेजी सेना की हार से उसकी शक्ति में से जनता का विश्वास उठ गया। युद्ध जहाँ जनता का कचूमर निकालता है वहां उसमें जागृति भी लाता है। जीवन रक्षा के लिये संघर्ष तीव्र हो जाता है।

प्रेमचन्द ने इस शोषण-व्यवस्था को भली प्रकार समझ लिया था। उनकी सहानुभुति सदैव जन-साधारण के साथ रही। वह सरकारी मुलाजिम होते हुए भी कभी शासक वर्ग के साथी नहीं रहे। शिक्षितवर्ग के जो स्वार्थान्ध लोग आम तौर पर जनता को जाहिल, मूर्ख और गंदा कहकर घृणा प्रकट करते हैं, प्रेमचन्द उन्हें बहुत ही नीच और कमीना समझते थे। उन्होंने जन-

साधारण के निस्वार्थ प्रेम, त्याग, बलिदान और विपत्तिसहन करने की शक्ति और योग्यता को समझ लिया था। वह सदैव उनकी महत्ता और मानवता को उभारते और प्रेरित करते थे। अगर उनमें कुछ दुर्बलतायें थीं तो यह उनकी अपनी नहीं थीं, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की उत्पन्न की हुई थीं। अपनी एक कहानी 'मूढ़' में लिखते हैं :—

"जिसे रोटियों के लाले हों, कपड़ों को तरसे, जिसकी आकांक्षा का भवन सदा अन्धकारमय रहा हो, जिसको इच्छायें कभी पूरी न हुई हों, उसकी नीयत बिगड़ जाये, तो आश्चर्य की बात नहीं।"

यह सत्य, उनकी समस्त कहानियों और उपन्यासों में ओत-प्रोत है। वह प्रकृति के तकाज़ों को कभी नहीं झुठलाते। वह मानव दुर्बलताओं को समझते हैं और उनसे अपार सहानुभूति रखते हैं। जो समाज इन दुर्बलताओं के लिये जिम्मेदार है, उस पर हर पहलू से भरपूर चोट करते हैं। इन्हीं दिनों की एक कहानी "अनाथ लड़की" है। उसका एक पात्र कहता है :—

"बाप कर्ज खाकर मर जाय, बेटा कौड़ी-कौड़ी भरे, धर्म की दृष्टि में यह न्याय होगा, मैं इसे अत्याचार समझता हूँ। इस न्याय की आड़ में गाँठ के पूरे महाजन की लूट-खसोट साफ दिखाई देती है।"

संक्षेप में परम्परा, सरकार, धर्म, आडम्बर और सूदखोर सब को लताड़ दिया। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों और उनके गठबन्धन को समझ लेने के बाद ही यह चेतना उत्पन्न होती है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द ने इस सजग-चेतना के साथ जीवन के समस्त पहलुओं का निरीक्षण किया है।

'सेवा सदन' से यह उपन्यास दो कदम आगे जाता है। इस उपन्यास में आर्थिक समस्याओं की भली प्रकार विवेचना की गई है, और वर्ग-संघर्ष अपने असल रूप में और पूरी तीव्रता के साथ उभर कर सामने आता है। इसमें दो प्रकार के किसान दिखाये गये हैं। एक समझौता करने वाले और दूसरे लड़ने वाले; लेकिन लूट-खसोट से दोनों ही तंग आ चुके हैं। ज्वाला भीतर-ही-भीतर धधक रही है। लगान-वसूली के दिनों में जमींदार के कारिंदों के अत्याचार देखकर विद्रोह की भावना चरम सीमा पर पहुँच जाती है। इन्हीं दिनों लड़ाके किसानों के नेता मनोहर को पता चलता है कि ज़मींदार ज्ञानशंकर के कारिंदे ग़ौस खां ने उसकी स्त्री का अपमान किया है। वह क्रोध के मारे आपे से बाहर हो जाता है, उसके भीतर की ज्वाला फूट निकलती है। सत्ताधारी वर्ग और उसकी संरक्षक सरकार ने उसके भीतर जो झिझक उत्पन्न कर दी थी, वह एक दम दूर हो जाती है। वह अपने बेटे बलराज से कहता है:—

"कोई परवा नहीं। कुल्हाड़ा हाथ में लोगे, तो सब ठीक हो जायेगा। तुम मेरे बेटे हो, तुम्हारा कलेजा मज़बूत है। तुम्हें अभी जो डर लग रहा है, वह ताप के पहले का जाड़ा है। तुमने कुल्हाड़ा कंधे पर रखा, महावीर का नाम लेकर उधर को चले, तो तुम्हारी आंखों से चिनगारियां निकलने लगेंगी।"

अब गौसखां की हत्या के उपरान्त न सिर्फ़ मनोहर और उसके बेटे को, बल्कि तमाम गांव को बांध लिया जाता है। ज़मींदार ज्ञानशंकर और उसकी सहायता करने वाली सरकारी सेना और पुलिस उसके बाद किसान पर जो जुल्म ढाती है, स्वार्थी डाक्टर और पैसे के लोभी वकील जो झूठी शहादतें देते हैं, इससे तमाम समाज दो वर्गों में विभाजित हुआ साफ दिखाई देता है। पाशविक और निर्दय दमन से किसानों के दिल कांप जाते हैं और वे मनोहर को लानत-मलामत करते हैं। इस अवसर पर सबसे बुद्धिमान और विनम्र किसान क़ादिर उनसे कहता है :—

"यारो! ऐसी बातें न करो। बेचारे ने तुम लोगों के लिये, तुम्हारे अधिकारों की रक्षा के लिये यह सब कुछ किया है। उसके जीवट और हिम्मत की तारीफ़ तो नहीं करते, उलटा उसकी बुराई करते हो। हम सब-के-सब डरपोक हैं, वही एक मर्द है।"

कादिर की यह आवाज प्रेमचंद की आवाज़ है। यही आवाज़ आगे चलकर सक्रिय हो जाती है और प्रेमचंद इस संघर्ष में पूर्ण मनोयोग से किसानों का साथ देते हैं। गांव की औरतें मनोहर की स्त्री बिलासी को उलाहने देती हैं कि तूने हमारे गांव का सत्यानाश कराया। यदि तनिक ग़म खा जाती, मनोहर से शिकायत न करती, तो गांव पर यह संकट तो न आता। बिलासी, बेचारी असमंजस में पड़ी हुई है। वह सोचती है कि शायद वाकई बुरा हुआ। ज़मींदार और सरकार का मुक़ाबला कौन कर सकता है? लेकिन इस अवसर पर सुक्खू चौधरी आ पहुँचता है और वह बिलासी को सान्त्वना देते हुए कहता है, कि तेरा मनोहर सूरमा है। उसने गांव की लाज रखी है, औरतों की मर्याद बचाई है। मैं यहां एक मंदिर बनवाऊँगा, जिसमें मनोहर की वीर-मूर्ति की स्थापना की जायेगी। इससे बिलासी को मनोहर के कृत्य की सत्यता और सार्थकता का विश्वास हो जाता है और गर्व से उसकी गर्दन ऊँची उठ जाती है।

गौसखां के बाद फैजुल्ला को नया कारिंदा नियुक्त किया जाता है। वह अब गांव पर नाना प्रकार का अत्याचार ढा रहा है। वह लगान वसूली की कुर्की ले आया है, और सब कुछ कुर्क कर रहा है। सुक्खू चौधरी उसे लगान का रुपया देकर जुल्म बन्द करने को कहता है तो वह अदालत के खर्चे के नाम

पर बहुत बड़ी रक़म तलब करता है। प्रेमचन्द लिखते हैं—

"सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हो गया।"

"सहसा चौधरी ने अपना चिमटा उठाया और इतनी ज़ोर से फैज़ुल्लाह के सिर पर मारा कि वह ज़मीन पर गिर पड़ा, तब बोला—यही अदालत का खर्चा है; जी चाहे और ले लो। बेईमान, पापी कहीं का। कारिंदा बना फिरता है।······"

प्रेमचन्द के मस्तिष्क में यह संघर्ष चल रहा था। अर्थात 'सेवा-सदन' में वह सुधारवादी थे। सारा कांग्रेस-आन्दोलन, सुधारवादी था। गांधीजी से पहले भी काँग्रेस के जो नेता थे, वे भी समाज को बदलना नहीं चाहते थे। उनकी लड़ाई समाज के वर्ग-शोषण के विरुद्ध नहीं, बल्कि केवल अँग्रेजी-साम्राज्य के विरुद्ध थी। अंग्रेजों ने यदि देश को कंगाल बनाया था, तो वे अंग्रेजों से पहले के हिन्दुस्तान को सोने की चिड़िया कहकर और दूध की नहरों की कहानियाँ सुनाकर यह मिथ्या धारणा उत्पन्न कर रहे थे कि सिर्फ अंग्रेजों को हटा देने और उनसे कुछ राज्याधिकार प्राप्त कर लेने ही से फिर पुरानी सम्पन्नता लौट आयेगी। देश में धन-धान्य की कमी न रहेगी। लेकिन प्रेमचन्द इतने से परिवर्तन को इस रोग का इलाज न समझते थे। उनमें उस समय सर्वथा नई चेतना उत्पन्न हो रही थी। वह विद्रोह के मार्ग पर चल रहे थे। उनमें जो मानसिक परिवर्तन आ रहे थे, वह परिवर्तन उन्होंने इस उपन्यास के सुधारवादी लेकिन मानव-प्रेमी पात्र प्रेमशंकर में प्रकट होते दिखाए हैं। लिखा है:—

"जीवन उन्हें नये-नये अनुभवों की पाठशाला-सी जान पड़ता था।" जीवन के अनुभवों ने उन्हें सिखाया, कि सिद्धान्तों की अपेक्षा मनुष्य अधिक आदरणीय है।"

साफ जाहिर है कि प्रेमचन्द की पुरानी मान्यतायें टूट रही थीं। उन्होंने समझ लिया था कि समाज के सिद्धान्त कोई सृष्टिकाल से बंधे, टिके नहीं। समाज की आर्थिक व्यवस्था के साथ वह भी बनते बिगड़ते रहते हैं। जिन दिनों वह यह उपन्यास लिख रहे थे, उन्हीं दिनों एक कहानी 'बलिदान' लिखी थी, जो सन १९१९ में "ज़माना" में प्रकाशित हुई थी। कहानी का आरम्भ यों हुआ है:—

"मनुष्य की आर्थिक अवस्था का सबसे ज्यादा असर उसके नाम पर पड़ता है। मौजे बेला में मंगरू ठाकुर जब से कांस्टेबिल हो गये हैं, उनका नाम मंगलसिंह हो गया है। अब उन्हें कोई मंगरू कहने का साहस नहीं

कर सकता। कल्लू अहीर ने जब से हलके के थानेदार से मित्रता कर ली है और गांव का मुखिया हो गया है, उसका नाम कालिकादीन हो गया है। अब उसे कोई कल्लू कहे तो आंखें लाल-पीली करता है। इसी प्रकार हरखचन्द्र कुरमी अब हरखू हो गया है। आज से बीस साल पहले उनके यहां शक्कर बनती थी, चार हल की खेती होती थी और कारोबार खूब फैला हुआ था। लेकिन विदेशी शक्कर की आमद ने उसे मटियामेट कर दिया। धीरे-धीरे कारखाना टूट गया, ज़मीन टूट गयी, गाहक टूट गये और वह भी टूट गया। सत्तर वर्ष का बूढ़ा, जो एक तकियेदार माचे पर बैठा नारियल पिया करता था, अब सिर पर टोकरी लिये खाद फेंकने जाता है।"

हरखू का धन और खेत हाथ से निकल गये। यह समाज के विशेषतः मध्यवर्ग के बनने और बिगड़ने का सही चित्र है। प्रेमचन्द, कैसे सड़े-पुराने सिद्धान्तों को मानते रहते? उनकी आंखों के सामने इतनी बड़ी जंग लड़ी गई, रूस में महान् क्रान्ति आई। संसार का एक विस्तृत भाग लूट-खसोट की व्यवस्था से मुक्त हो गया।

प्रेमचन्द, जो पग-पग पर परिस्थितियों का निरीक्षण करते थे, रूस की इस महान् अक्तूबर-क्रांति से बहुत प्रभावित हुए। 'प्रेमाश्रम' का बलराज, जो अखबार आदि पढ़ता है, वह सरकारी कर्मचारियों के मुकाबिले में गांव वालों का पक्ष लेते हुए कहता है, कि हम क्यों किसी की धौंस सहें, रूस में मजदूरों, किसानों ने अपना राज्य स्थापित कर लिया है।

इस प्रकार की क्रान्ति प्रेमचन्द अपने यहां भी चाहते थे। इस उपन्यास के अन्त में उन्होंने लखनपुर गांव का जो सुन्दर चित्र खींचा है, वह अवश्य ही क्रान्ति के उपरान्त का चित्र है, प्रेमचन्द का मधुर स्वप्न है।

प्रेमचन्द क्रियाशील व्यक्ति थे। वह जो स्वप्न देखते थे उसे पूरा करने के लिये संघर्ष करते थे। सुधारवाद को तिलांजलि देकर, क्रांति के पक्षपाती बन गये। क्रान्तिकारी अगर नहीं बने थे, तो बन जरूर रहे थे। उन्होंने स्वयं अपने ही अनुभव से यह बात लिखी थी :—

"सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति होती है, यह सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हो गया।"

किसानों पर जो अत्याचार हो रहे थे, उसका इलाज सत्याग्रह नहीं था। मनोहर के गौसखाँ को क़त्ल कर देने से भी कुछ नहीं बनता था। इसके लिये एक सामूहिक संघर्ष की आवश्यकता थी। जब इस संघर्ष का समय आया, तो प्रेमचन्द ने झट नौकरी से स्तीफा दे दिया और सक्रिय रूप से संघर्ष में

सम्मिलित हो गये।

मुंशी दयानारायण निगम लिखते हैं, कि उन्होंने इस्तीफा फरवरी सन् १९२१ में दिया। लेकिन प्रेमचन्द खुद अपने लेख में इस्तीफे का जिक्र यों करते हैं:—

"....यह सन् १९२० की बात है। असहयोग-आन्दोलन जोरों पर था। जलियांवाला बाग़ का हत्याकांड हो चुका था। उन्हीं दिनों महात्मा गाँधी ने गोरखपुर का दौरा किया। ग़ाजी मियां के मैदान में अच्छा प्लेट-फार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थी। ऐसा समारोह अपने जीवन में मैंने कभी न देखा था। महात्माजी के दर्शनों का यह प्रताप था, कि मुझ जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो ही चार दिन बाद मैंने अपनी बीस साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।"

सामाजिक और राजनीतिक ज्ञान रखने पर भी इस्तीफा देने का काम सहज में नहीं हो जाता। बीस साल की नौकरी को एक दम ठुकरा देना बहुत बड़ी बात है। प्रेमचन्द के मन में चिरकाल से मवाद पक रहा था। "सोज़े-वतन" की प्रतियाँ जलाई गईं, उनकी क़लम पर पाबंदियाँ लगाई गई, जिससे उन्हें विश्वास हो गया कि इस राज-सत्ता में साहित्य स्वतंत्र नहीं है। इसे स्वतंत्र कराने के लिये परिवर्तन की आवश्यकता है। यही कारण है कि वह सरकारी मुलाज़िम होते हुए भी अंग्रेजों को कभी पसंद नहीं करते थे। एक बार मुंशी दयानारायण निगम ने अपनी लड़की के विवाह पर दी गई दावत में अन्य मित्रों के साथ कुछ अंग्रेज़ अफसरों को भी निमंत्रित किया। प्रेमचन्द को यह बात बुरी लगी, और उन्होंने एक पत्र में साफ लिखा कि:—

"आपने अंग्रेज़ों को नाहक़ मदअऊ किया (बुलाया)। वे उसे दोस्ती नहीं हुकमरां तबके (शासकों) की खुशामद समझते हैं।"

खुशामद से उन्हें चिढ़ थी। नौकरी का आधार ही खुशामद है। इस लिये प्रेमचन्द नौकर होते हुए भी नौकरी से घृणा करते थे। दयानारायण निगम के नाम बस्ती से एक पत्र में लिखा था—

"मैं जो आजिज़ (तंग) हूं, वह मातहती से काम ऐसा करना चाहता हूँ, जिसमें बजुज़ (सिवाय) मेरी तबियत के और किसी का तकाज़ा न हो। जी में आवे तो दिन-रात काम करता रहूँ, जी चाहे तो छोड़ दूं; और जी में आये तो फौरन करूँ। मगर वह सिर्फ मालिकाना हैसियत से हो सकता है।"

मवाद पकता रहा, और चेतना-विकास के साथ व्यक्तिगत घृणा, सामुहिक-विद्रोह की भावना में परिवर्तित होती रही। अन्ततोगत्वा इसी घृणा ने इस्तीफे का रूप धारण कर लिया। इस्तीफे के शब्द जाने क्या थे; लेकिन उनकी कहानी "लाल-फीता" के नायक हरि बिलास ने भी सरकारी नौकरी से इस्तीफा दिया था। उसके इस्तीफे के शब्द ये हैं।

"श्रीमान् जी ! मेरा विश्वास है कि राजनीतिक व्यवस्था ईश्वरी इच्छा का प्रत्यक्षरूप है, और उसके कानून भी दया, सत्य और न्याय पर क़ायम हैं। मैंने पन्द्रह साल तक सरकार की सेवा की और अपने सामर्थ्यानुसार अपने कर्तव्य का दयानतदारी से पालन किया। सम्भव है कि किसी समय अफसर मुझ से खुश न रहे हों, क्योंकि मैंने व्यक्तिगत आदेशों को कभी अपना कर्तव्य नहीं समझा। जब कभी कानून और अफसर के हुक्म में विरोध हुआ, मैंने कानून का पथ ग्रहण किया। मैं सदा सरकारी नौकरी को देश-सेवा का माध्यम समझता रहा; लेकिन सरकुलर नं०···में जो आदेश दिये गये हैं, वे मेरी आत्मा और असूल के विरुद्ध हैं और मेरे विचार में उनमें असत्य का इतना दखल है कि मैं उनका पालन करने मे असमर्थ हूँ। वे आदेश प्रजा की स्वतंत्रता के शत्रु और उसकी राजनीतिक जाग्रति के घातक हैं।

इस स्थिति में सरकार से सम्बन्ध स्थापित रखना देश और राष्ट्र के लिये हानिकर है। अन्य अधिकारों के अतिरिक्त प्रजा को राजनीतिक संघर्ष का अधिकार भी प्राप्त है, और चूंकि सरकार इस अधिकार को कुचलने में तत्पर है, इसलिये मैं हिंदुस्तानी होने के नाते यह सेवा पालन करने में असमर्थ हूँ। और प्रार्थना करता हूँ कि मुझे शीघ्र अति शीघ्र इस पद से मुक्त किया जाये।" (उर्दू से अनुवाद)

यह कहानी जुलाई सन् १९२१ में 'ज़माना' उर्दू में प्रकाशित हुई थी। जिस का मतलब है कि थोड़े से रद्दो-बदल के साथ ये प्रेमचन्द के अपने इस्तीफे के शब्द हैं।

प्रेमचन्द सर्वप्रिय मास्टर थे। इस्तीफे के बाद स्कूल छोड़ने का दृश्य "प्रेरणा" कहानी में इस प्रकार चित्रित किया है :—

"लड़कों ने मुझे बिदाई की दावत दी और सब-के-सब मुझे स्टेशन पर पहुँचाने आये। उस समय सभी लड़के आंखों में आँसू भरे हुए थे। मैं भी अपने आँसुओं को न रोक सका।·····गाड़ी मन्द गति से चली। लड़के कई कदम तक उसके साथ दौड़े। मैं खिड़की के बाहर सिर निकाले खड़ा था। कुछ देर तक मुझे उनके हिलते हुए रूमाल नज़र आये।"

इस सम्बन्ध में शिवरानी देवी लिखती हैं, कि इस्तीफा दाखिल करने से पहले प्रेमचन्द दो रात तक सोये नहीं; वे खुद भी नही सोईं। सोचते रहे, आखिर उन्हें बहुत बड़ा फैसला करना था। पुराने जीवन से नाता तोड़कर नया-पथ ग्रहण करना था। उन्हें असमंजस में पड़े देख कर शिवरानी देवी ने कहा :—"जब इरादा नेक है तो उस पर अमल करने में ढील क्यों? जो सोचा है कर डालो।"

: ११ :

घर में

'घर' कितनी ही पवित्र, कोमल और मनोहर स्मृतियों को जाग्रत कर देता है। घर प्रीत का क्रीड़ा-कुंज है। प्रेम ने कड़ी तपस्या करके यह वरदान पाया है।" —प्रेमचन्द

घर इतना परिचित शब्द है कि इसके बारे में कुछ सोचने और कोई परिभाषा ढूँढ़ने की जरूरत महसूस नहीं होती। लेकिन जब से प्रेमचन्द की माँ मर गई थी, तब से घर उनके लिये घर नहीं रह गया था। इसलिये उन्होंने घर की बाबत बहुत कुछ सोचा था। घर से सम्बन्धित उमंगों और अरमानों को उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में बार-बार व्यक्त किया है। "कर्मभूमि" में घर की व्याख्या इस प्रकार की है :—

"जहाँ अपने विचारों का राज हो, वही अपना घर है। जो अपने विचारों को मानते हों, वही अपने सगे हैं।"

बच्चे के भी विचार होते हैं। माँ उनसे सहानुभूति रखती है, उनसे दिलचस्पी रखती है और उसके तकाजों को पूरा करती है। यह उसका स्नेह और ममता है। सौतेली मां से यह ममता नहीं मिली। इसलिये प्रेमचन्द ने कहा :—

"मां तो अपनी हो, सोलहों आने अपनी। कोई दूसरी औरत उसका स्थान नहीं ले सकती।"

सौतेली मां को प्रेमचन्द से कोई अनुराग नहीं था। वह उन पर और उनकी पत्नी पर शासन करती थी और एक दूसरे की चुगलियां करके आपस में लड़ाती रहती थी। दूसरा विवाह हो जाने के उपरान्त पहली पत्नी का जिक्र करते हुए प्रेमचन्द ने शिवरानी देवी से कहा था कि अगर **'चाची न होती', तो शायद हम दोनों की आपस में निभ जाती।"**

चाची ही के कारण आठ साल तक प्रेमचन्द की शिवरानी देवी से भी नही बनी। इस घर में उनका कोई आदर सम्मान नहीं हुआ। कायस्थ बिरा-

दरी के रिवाज के अनुसार वह चाची से पर्दा करती थीं और दब कर रहती थी। जब चाची के रहते प्रेमचन्द ही इस घर को अपना घर न समझते थे, तो शिवरानी देवी कैसे समझतीं? उन्हें यह घर काटने को आता था। प्रेमचन्द तो फिर भी पुरुष थे, काफी समय तक घर से बाहर रहते थे। मित्रों से हँस-खेल सकते थे, जी बहला सकते थे। पर्दे वाली औरत के लिये घर ही सब कुछ था और उसे यहाँ कुढ़ना पड़ता था। इसलिये वे साल में दस महीने पिता के घर और केवल दो महीने पति के घर रहा करती थीं। शिवरानी देवी की माँ भी बचपन ही में मर गई थीं। घर पर पिता थे और एक छोटा भाई था, जिसे बहन ने मां की भांति पाला था और घर में उन्हीं का राज था; इसलिये वहां खूब गुजरती थी।

लेकिन यह बात प्रेमचन्द को पसन्द नही थी। दूसरा विवाह इसलिये किया था कि अपना घर बनेगा; लेकिन पत्नी लाकर भी आठ वर्ष बिना घर के बीत गये। पति-पत्नी दोनों चाची के आश्रित थे। जिसके व्यवहार में कुछ अधिक अन्तर नहीं आया था। कमाने वाले प्रेमचन्द थे, लेकिन चाची के लिये बेटा और भाई ही अपने थे; प्रेमचन्द बेगाने थे। अगर अपने थे तो केवल इतने ही कि कमाकर देते थे।

यह बात शिवरानी देवी को भी पसन्द नही। लेकिन जब कमाने वाला स्वयं कुछ नहीं बोलता, अपने घर में बेगाना होकर रहता है, तो वह बोलने वाली कौन होती है? जब बुलावा आता था, वह चुपके से पिता के घर चली जाती थीं। लेकिन एक बार जब पिता ने उन्हे बुलाया तो प्रेमचन्द ने उन्हे भेजने से इनकार कर दिया। इस पर शिवरानी देवी बहुत झल्लाई और दोनों में अच्छा-खासा झगड़ा हो गया। प्रेमचन्द भी झल्लाये और शिवरानी देवी को दो चपत लगाकर बाहर चले गये। शाम को लौटे, तो मनाने लगे :—

"इस प्रकार क्यों झल्लाती हो?"

"मैं झल्लाऊं क्यों?"

"कैसे कहूँ कि तुम झल्लाई नहीं हो? न किसी से बोलना, न किसी से कुछ कहना-सुनना।"

"सजा ही देने के लिये तो आपने मुझे अपने घर जाने नहीं दिया। कैदी कैसे सुखी रह सकता है।"

"यह तुम्हारी भूल है, मैंने तुम्हें तकलीफ देने की नीयत से नहीं, बल्कि मैं तुम्हें जाने देना नहीं चाहता। सच कहता हूँ, तुम घर चली जाती हो तो मुझे अच्छा मालूम नहीं होता। मैं चाहता हूं कि तुम अपने घर आराम से

रहो। आखिर यह घर तुम्हारा क्यों न बने ?"

"मुझे क्या पड़ी है कि दूसरे के घर में घर वाली बनूँ।"

"तो घर कैसे चलेगा, मेरी समझ में नहीं आता।"

"जैसा चल रहा है, ठीक है। मैं इस बला को पालना नहीं चाहती। फिर चाची आपको काफी प्यार करती हैं। मेरी बात छोड़िये। मैं जिस हालत में हूँ, उस हालत में रह लूँगी। मैं भी मस्त जीव हूँ।"

"हाँ, इसी में मस्त रहती हो कि आनन्द से जाकर बैठती हो, जिसको तुम प्यार समझती हो, वह प्यार नहीं है। मां की मुहब्बत निस्वार्थ होती है, जब वही मुझे नसीब न हुई, तो उसके पीछे मैं कहाँ तक पड़ूँ।"

"ये शब्द कहते-कहते उनकी आँखों में आँसू उमड़ आये उस रोज से मुझे उन पर दया आने लगी, उसी दिन से मैं उनमें मिलना चाहने लगी।" (प्रेमचन्द घर में, शिवरानी देवी)

अब घर पति-पत्नी की सलाह से चलने लगा। शिवरानी देवी ने पति की बात मान ली और चाची से पर्दा उठाकर मालकिन बनने लगी और थोड़े ही दिनों में न सिर्फ अपने लिये बल्कि प्रेमचंद के लिये भी उस घर में जगह बना ली। चाची की चख् चख् और जोड़-तोड़ उसके बाद भी जारी रही; लेकिन शिव-रानी देवी के सामने उनकी एक न चलती थी। पत्नी के इस साहस की प्रशंसा करते हुए प्रेमचंद ने कहा—

"अगर पहले से तुम्हारे साथ मेरा विवाह होता तो मेरा जीवन इससे आगे होता।"

प्रेमचंद के जीवन को आगे बढ़ाने में शिवरानी देवी का वाकई बहुत हाथ रहा है। जब कभी उन्होंने कोई महत्वपूर्ण कार्य करने का निश्चय किया तो शिवरानी देवी ने उनकी हिम्मत बढ़ाई। इस्तीफा देने से पहले वह कई दिन तक सोचते रहे। उन्हें दो रात नींद नही आई। सोचते थे, बच्चे हैं, बीवी है, खुद बीमार रहते हैं, गुज़ारा कैसे चलेगा ? उस समय अंतिम निर्णय शिवरानी देवी ने किया था—

"आप गुजारे की चिंता न करें, वह चलता ही रहता है। अगर देश कुर्बानी चाहता है, तो उसे देने में देरी नहीं करनी चाहिये।"

एक बार अलवर के राजा ने अपने पांच छः आदमी एक चिट्ठी देकर प्रेमचंद के पास भेजे। राजा साहब को कहानियां और उपन्यास पढ़ने का शौक था। उन्होंने प्रेमचंद को अपने पास रहने के लिये बुलाया था और लिखा था कि चार सौ रुपये मासिक वेतन, बंगला और मोटर मिलेगी। उन्होंने राजा को

तो लिख भेजा कि मुझे मुआफ रखिये, इतना क्या कम है कि आप मेरी कहानियां और उपन्यास पढ़ लेते है। लेकिन घर जाकर शिवरानी देवी से झूठ-मूठ सलाह मशविरा करने लगे और बोले—

"मेरी इच्छा है कि चलूँ, कुछ दिन बंगले मोटर का शौक तो पूरा कर लूँ। मेरी कमाई में इसकी गुंजाइश नहीं।"

शिवरानी देवी ने चट जबाब दिया:—

"यह इसी तरह हुआ, जिस तरह कोई वेश्या अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिये चकले में बैठे। फिर जिसने मजदूरी करना अपना उद्देश्य बना लिया हो, उसके लिये मोटर बंगले की इच्छा कैसी!"

प्रेमचंद की "प्रेरणा" कहानी का नायक कहता है—

"माता के प्रसाद और आशीर्वाद से बड़े-बड़े महान् पुरुष कृतार्थ हो गये हैं। मैं जो कुछ हुआ, पत्नी के प्रसाद और आशीर्वाद से हुआ; वह मेरे भाग्य की विधात्री थी। कितना अलौकिक त्याग था, कितना विशाल धैर्य।"

आदमी को वातावरण और परिस्थितियां बनाती है और उसमें व्यक्तियों का भी बड़ा हाथ होता है। पता चलता है कि प्रेमचन्द और शिवरानी देवी ने एक दूसरे के विकास मे बहुत-कुछ सहायता की। शिवरानी देवी का जब विवाह हुआ, तो वह मामूली हिन्दी—बिलकुल नही के बराबर जानती थीं। प्रेमचन्द के सहवास में पढ़ने-लिखने और अध्ययन करने की प्रेरणा मिली और वह खुद भी कहानियाँ लिखनें लगीं। प्रेमचन्द जब कोई अखबार या किताब पढ़ते थे तो अंग्रेजी से अनुवाद करके उन्हे सुनाया करते थे। उनके साथ समाज और राजनीति की गम्भीर समस्यायों पर घंटों बहस किया करते थे। जो लोग औरतों को महज मूर्ख समझते है,और उन पर अपनी 'श्रेष्ठता' लादते हैं और अपने इस व्यवहार से घर को "तू-तू' मैं-मैं" का अखाड़ा बना लेते हैं, प्रेमचन्द ने अपनी कहानी 'खुचड़' और "गृह-नीति" आदि में ऐसे आदमियों की खूब खिल्ली उड़ाई है।

उनके तीन बच्चे हैं—एक लड़की और दो लड़के। लड़की का नाम कमला है। वह महुबा में उत्पन्न हुई थी और अगस्त सन् १९१८ में जब वह बस्ती से तब्दील होकर गोरखपुर गये, तो उस दिन उनका बड़ा लड़का श्रीपतराय (धन्नू) उत्पन्न हुआ। वहीं एक लड़का मन्नू नामी उत्पन्न हुआ था, जो जुलाई सन् १९२० में मर गया। प्रेमचन्द को इस बच्चे के मरजाने का बड़ा रंज हुआ लेकिन पत्नी पर प्रकट नहीं होने दिया। वह खुद उन्हें तसल्ली देते रहे। इसके उपरान्त अगस्त सन् १९२२ में उनका छोटा लड़का अमृतराय (बन्नू) उत्पन्न हुआ।

वे अपने बच्चों से असीम प्यार करते थे और दोनों लड़कों को धन्नू-बन्नू कहकर पुकारते थे। दफ्तर से लौटकर घंटा भर बच्चों के साथ खेला करते थे। कहते थें कि इससे थकान दूर होती है, रूह में ताज़गी आजाती है। फिर काम पर बैठ जाते थे। जब गांव में थे तो शाम को दरवाजे के बाहर बच्चों के साथ खेला करते थे और खुद उन्हें तरह-तरह के खेल सिखाते थे। यही कारण है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में बच्चों का उल्लेख बड़े ही प्रेम और स्नेह से किया है। "भूत" कहानी में लिखते हैं:—

"चौबेजी के सुख-चन्द्र में केवल एक ही कला की कमी थी। उनके कोई कन्या न थी। पहले एक कन्या के बाद फिर कन्या हुई ही नहीं, और न अब होने की आशा ही थी। स्त्री और पुरुष, दोनों उस कन्या को याद करके रोया करते थे। लड़कियां बचपन में लड़कों से ज्यादा चोचले करती हैं। उन चोचलों के लिये दोनों प्राणी विकल रहते। मां सोचती, लड़की होती, तो उसके लिये गहने बनवाती, उसके बाल गूंधती। लड़की पैजनियां पहने ठुमक-ठुमक आंगन में चलती तो कितना आनंद आता! सोचते कन्यादान के बिना मोक्ष कैसे होगा! कन्यादान महादान है। जिसने यह दान न दिया, उसका जन्म ही वृथा गया!

आखिर यह लालसा इतनी प्रबल हुई कि मंगला ने अपनी छोटी बहन को बुला कर कन्या की भाँति पालने का निश्चय किया। उसके मां-बाप निर्धन थे। राजी हो गये। यह बालिका मंगला की सौतेली मां की कन्या थी। बड़ी सुन्दर और बड़ी चंचल थी। नाम था बिन्नो। चौबे जी का घर उसके आने से खिल उठा। दो-चार ही दिन में लड़की अपने मां-बाप को भूल गई। उसकी उम्र तो केवल चार वर्ष की थी; पर उसे खेलने की उपेक्षा काम करना अच्छा लगता था। मंगला रसोई बनाने जाती, तो बन्नो भी उसके पीछे-पीछे जाती, उससे आटा गूंधने के लिये झगड़ा करती। तरकारी काटने में उसे बड़ा मज़ा आता था। जब तक वकील साहब घर पर रहते तब तक वह उनके साथ दीवान खाने में बैठी रहती। कभी किताबें उलटती, कभी दावात-कलम से खेलती। चौबे जी मुस्कराकर कहते—बेटी, मार खाओगी? बिन्नी कहती—तुम मार खाओगे; मैं तुम्हारे कान काट लूँगी जू जू को बुला कर पकड़ा दूँगी। इस पर दीवान खाने में खूब कहकहे उड़ते···"

"माँगे की घड़ी" का नायक जब दानू से घड़ी माँगने जाता है, तो वह उन्हें प्रसन्न करने के लिये, उनके छोटे बच्चे को, जो सामने आँगन में खेल रहा था, उठा कर लगा भींच-भींचकर प्यार करने। दानू बोले—

"खेलने दो दुष्ट को, तुम्हारा कुरता मैला हुआ जाता है। मैं तो इसे कभी छूता भी नहीं।"

मैंने कृत्रिम तिरस्कार का भाव दिखा कर कहा—मेरा कुरता मैला हो रहा है न, आप उसकी क्यों फिक्र करते हैं। वाह ! ऐसा फूलसा बालक और उसकी यह कदर ! तुम—जैसों को तो ईश्वर नाहक संतान देता है। तुम्हें भारी मालूम होता हो, तो लाओ मुझे दे दो।"

यह कह कर मैंने बालक को कन्धे पर बैठा लिया और सेहन में कोई पन्द्रह मिनट तक उचकता फिरा। बालक खिल खिलाता था और मुझे दम न लेने देता था। मालूम नहीं इस सवारी का पहले भी कभी आनन्द प्राप्त हुआ या नहीं; मगर था वह बहुत खुश।"

"कर्म भूमि" में जहाँ कुँवारे डाक्टर शाति कुमार अमरकान्त के बच्चे को गोद में लेकर प्यार करते हैं, वह दृश्य कितना सजीव और मर्मस्पर्शी है। लिखते हैं:—

"शांति कुमार ने बालक को छाती से लगा लिया। उस गर्म और गुद्-गुदे स्पर्श में उनकी आत्मा ने जिस परितृप्ति और माधुर्य का अनुभव किया, वह उनके जीवन में बिलकुल नया था। अमर कान्त में उन्हें जितना स्नेह था, वह जैसे इस छोटे-से रूप में सिमट कर और ठोस और भारी हो गया था।...आज उन्हें स्वयं अपने जीवन में एक अभाव, एक रिक्तता का आभास हुआ। जिन कामनाओं का वह अपने विचार में सम्पूर्णत: दमन कर चुके थे, वह राख में छिपी हुई चिनगारियों की भाँति सजीव हो गईं।

लल्लू ने हाथों की स्याही शांति कुमार के मुख में पोत कर नीचे उतरने के लिये आग्रह किया, मानो इसीलिये वह उनकी गोद में गया था। नैना ने हँसकर कहा—"ज़रा अपना मुँह तो देखिए, डाक्टर साहब ! इस महान् पुरुष ने आपके साथ होली खेल डाली, बड़ा बदमाश है।"

"सुखदा भी हँसी रोक न सकी। शांति कुमार ने शीशे में मुँह देखा तो, वह भी ज़ोर से हँसे। वह कलंक का टीका उन्हें इस समय यश के तिलक से भी कहीं उल्लास-मय जान पड़ा।"

उनका स्नेह बच्चों से खेलने-खिलाने तक ही सीमित नहीं था। वे माँ से अधिक बच्चों की परवरिश करते थे। पत्नी के जब दूसरा बच्चा हुआ, तो वह पहले बच्चे को साथ लेकर सोते थे और जब शिवरानी देवी तीन बच्चों की मां बन गई; तो वे दो बच्चों को अपने साथ सुलाते। बच्चे सोते में पेशाब कर ही देते हैं, वे रात को दो बार उठकर उनका बिछावन बदल देते तथा

अपने भीगे हुए कपड़े तब्दील करते थे और सो जाते थे।

घर में बीमारियां लगी ही रहती हैं। प्रेमचन्द स्वयं पेट के रोग के कारण अकसर बीमार रहते थे; लेकिन उन्हें अपनी अपेक्षा घर के दूसरे लोगों की चिन्ता अधिक रहती थी। कोई बच्चा बीमार पड़ जाता था, तो उसे कंधे से लगाकर सारी सारी रात घूमते रहते थे। इस ख्याल मे कि कहीं ज्यादा मेहनत करने से शिवरानी देवी बीमार न पड़ जायें, वे हरएक काम में उनका हाथ बटाते थे और जब कभी वे बीमार पड़ जाती थीं, तो सारा काम स्वयं करते थे। रोटी तक अपने हाथ से बनाते, और बरतन माँजते थे। जब मास्टर थे, तो घर में नौकर भी रहता था लेकिन वे अपना कोई भी निजी काम उससे नही कराते थे। उसे डाटने-डपटने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता था। पत्नी से कहा करते थे कि नौकर भी घर का एक व्यक्ति है। एक बार नौकर ने उन्हें ऐसा धोखा दिया कि एक हजार रुपये नकद और डेढ़ हजार रुपये के जेवर निकाल कर ले गया। उन्होंने थाने में रपट तक नहीं लिखवाई। पत्नी से कह दिया—

"उसे जरूरत थी, ले गया। ले जाने दो। हमारा काम भी चलता ही रहेगा।"

चाची का स्वभाव चूँकि कटु था। बहन की चाची से बिलकुल नहीं बनती थी। इसलिये जब से वह ब्याही गई थी, प्रेमचन्द ने उसे अपने घर नही बुलाया था। शिवरानी देवी ने कई बार बुलाने के लिये आग्रह भी किया। बुलाने की इच्छा उनके अपने मन में भी थी; लेकिन चाची के ख्याल से चुप रहते थे। जानते थे कि बहन का अपना घर तो है किसी-न-किसी तरह वहाँ रह लेगी। उसे मालूम ही तो है कि मां नहीं है, भाई का जोर नहीं चलता। अगर बुलायेंगे, तो चाची को कष्ट होगा; अगर वह कष्ट से बचकर जाना चाहे, तो कहां जायेगी? उसका दूसरा कौन है? यह सोचकर मन को समझा लेते थे।

लेकिन जब चाची का बेटा स्वयं कमाने लगा और वह उसके साथ अलग रहने लगी, तो उन्होंने बहन को बुलाकर अपने मन की साध पूरी की। लेकिन उसके पश्चात् वह ज्यादा दिन तक जीवित नहीं रही। उसकी तीन बेटियां थीं। प्रेमचन्द जो सलूक बहन से न कर सके, उनसे करते रहे वह उन्हें अकसर अपने घर बुलाया करते थे।

प्रेमचन्द को गाने का भी शौक था। शिवरानीदेवी कहती हैं कि जब मैं ब्याही आई, तो मुझे गाना नहीं आता था। मैने उनसे गाना सीखा। होली,

दिवाली कोई तहवार आता, बच्चों को साथ लेकर खूब ठाठ से मनाते थे। ऐसे अवसरों पर पति-पत्नी दोनों ही मिलकर गाया करते थे। प्रेमचन्द सबको उनके मनमाने उपहार दिया करते थे।

छोटे, बड़े, बच्चे, बूढ़े उन्हें हरएक का ध्यान रहता था। जो अपने थे, उन्हें हमेशा अपना बनाकर रखा। चाची का स्वभाव सारी उम्र नहीं बदला; लेकिन वह प्राणपन से उसकी और उसके बेटे की परवरिश करते रहे। चाचा जितने दिन जिये, उन्हें प्रेमचन्द पिता के सदृश मानते रहे। चचेरे भाई पुराने ढब के आदमी थे। शिवरानीदेवी तक को डांट देते थे। प्रेमचन्द को यह पसंद नहीं था कि कोई आदमी औरतों को डाँटे; लेकिन वह भाई की आदत को समझते हुए चुप रहते थे। यह सहृदयता और शिष्टाचार उनकी कहानियों और उपन्यासों की जान है। वह जानते थे कि जो आदतें पक जाती हैं, उन्हें बदलने का यत्न करना व्यर्थ है। वह बड़ों के हानि रहित विश्वासों और रूढ़ियों को भी सहन कर लेते थे।

लेकिन बच्चों का ज़रा भी कुपथ पर जाना उन्हें खलता था। अपने बच्चों की मामूली-मामूली बातों का बड़ा ध्यान रखते थे। एक बार धन्नू और बन्नू घर से विदा होकर इलाहाबाद जा रहे थे। वे दोनों कालेज में पढ़ते थे। बन्नू ने तो बड़े आदर के साथ माता-पिता को प्रणाम किया। लेकिन धन्नू वैसे ही चल पड़ा। प्रेमचन्द को उसका यह रवैया अच्छा नहीं लगा। मगर शिवरानी ने कहा कोई बात नहीं, बच्चा है, बड़ा होकर आप सुधर जायेगा। इससे प्रेमचन्द की तसल्ली नहीं हुई। उन्होंने बड़े दुःख के साथ भविष्य वाणी की—

"इस लड़के का चलन कुछ अच्छा नहीं। मुझे डर है कि वह स्वार्थी और दम्भी बनेगा।"

इसके विपरीत दूसरी घटना है। एक बार उनकी कहारिन का लड़का आग से जल गया था। उसके सारे शरीर पर मरहम का लेप था। उसके कपड़े भी गंदे थे। छोटे लड़के बन्नू ने उसे कहीं बाहर खड़ा देख लिया। वह उसे उठा कर ऊपर लाया और मां से कहा कि उसे कुछ खाने को दो। प्रेमचन्द इस बात से बहुत खुश हुए, और बोले—

"यह लड़का बहुत ही दयावान् मालूम होता है। इस बच्चे को तो मैं भी न ला सकता। तुम देखना, तुम्हारा नाम यह रोशन करेगा।"

वे खुद अपने बच्चों को पढ़ाया करते थे। ट्यूटर रखना उन्हें पसंद नहीं था क्योंकि जो कुछ वे खुद पढ़ा सकते थे, ट्यूटर कहां पढ़ा सकता था। सिर्फ पुस्तकें पढ़ा देना तो यथेष्ट नहीं था। वह उन्हें आदमी बनाना चाहते

थे। इसलिये हर रोज दो तीन घंटे उन्हें पढ़ाया करते थ।

पढ़ाते जरूर थे लेकिन बच्चों को डांटना-डपटना और उपदेशक बनना उन्हें कतई गवारा नहीं था। 'शिकवा-शिकायत' कहानी पत्नी के मुख से कहलाई गई है। पति का चरित्र बहुत ही सरल और मनोहर है। ऐसा जान पड़ता है कि शिवरानी देवी ने खुद प्रेमचन्द की कहानी बयान कर दी है। उसमें बच्चों के बारे में पति के व्यवहार का उल्लेख यों आता है—

"आपने एक नई उपज निकाली है, कि डांट-डपट से लड़के बिगड़ जाते हैं। इसी का नतीजा है कि लड़के बे-मुहारे हो गये हैं......कभी गुल्ली डंडा है, कभी गोलियां। महाशय आप भी उन्हीं के साथ खेलते हैं।"

जब दोनों लड़के इलाहाबाद में पढ़ते थे, तो उन्हें यह चिंता रहती थी कि कहीं धन्नू, बन्नू पर हकूमत न करता हो। शिबरानी कहतीं कि क्या बुरा है? वह उसका बड़ा भाई भी तो है। लेकिन प्रेमचन्द जवाब देते, तुम नहीं जानतीं; इससे बच्चों में हीनता के भाव उत्पन्न हो जाते हैं और वे अपने पिता पर कुढ़ते हैं। प्रेम की हकूमत तो कुछ बुरी नहीं, लेकिन कालेज में जाते ही लड़के स्वेच्छाचारी हो जाते हैं। मैं उन्हें आजाद रखना चाहता हूँ।"

इस लिये वह दोनों लड़कों को अलग-अलग पत्र लिखते थे, और पत्नी को भी दोनों को अलग-अलग लिखने का आग्रह करते थे।

शिवरानी कहतीं:—"तो क्या इससे हकूमत का रुझान कुछ रुक जायगा?"

प्रेमचन्द—"क्यों नहीं रुकेगा! वह उसे कष्ट देगा, तो वह मुझे लिखेगा मैं पूछूँगा।"

शिवरानी—"बहुत से पिता तो अपनी जिम्मेदारी छोड़ बैठते हैं।"

प्रेमचन्द—"वे नालायक हैं। लायक पिता कब अपनी जिम्मेदारी दूसरों पर डालेगा; अगर उसमें जिम्मेदारी उठाने की ताकत न हो, तो किसी को दुनिया में लाने की क्या जरूरत है?"

शिवरानी—"दुनिया में आदमियों का आना कब रुकता है।"

"तो फिर दुनिया में ऐसे नालायकों की कमी भी नहीं। सब कुछ इन्सान करता है इज्जत के लिये। जब अपने ही घर में इज्जत न हो, तो क्या? मुझे ऐसे बापों से कोई सहानुभूति नहीं, जो अपनी जिम्मदारी दूसरों पर डालते हैं।"
(प्रेमचन्द घर में)

इसके अलावा और कितनी जिम्मेदारियाँ थीं। स्कूल में नौकरी करते थे। परीक्षा पास करने के लिये पढ़ते थे। लिखने के लिये अध्ययन करते थे और

फिर कहानियां, उपन्यास और लेख लिखते थे। अपनी कार्य सूचि का उल्लेख उन्होंने "लेखक" कहानी में किया है। उन्होंने जो कुछ अपनी इस कहानी में लिखा है, शिवरानी देवी अपनी पुस्तक में हमें वही कुछ बताती हैं।

वे सुबह पांच बजे उठ बैठते थे। जो कुछ मिलता था, खा-पीकर लिखने बैठ जाते थे। कलम हथौड़े की तरह चलता था। वे अपने आपको लेखक नहीं, मजदूर समझते थे और जी तोड़ कर मेहनत करते थे। आराम करने की हविस उन्हें नहीं थी। नौ बजे तक लिखते रहते। फिर उठ कर तैयार होते और खाना खाकर स्कूल चले जाते। तीन-चार बजे लौट कर आते। घंटा-डेढ़ घंटा बच्चों से जी बहलाते। फिर दैनिक पत्र "लीडर" पढ़ते और शाम को भोजन के उपरान्त रात गये तक पढ़ते रहते।

जिस दिन किसी कारण से लिखना पढ़ना नहीं होता था, प्रेमचन्द समझते थे कि वह दिन व्यर्थ गया। इसलिये अकसर बीमारी की हालत में भी लिखना–पढ़ना नहीं छोड़ते थे। लेखक कहानी में लिखते हैं—

"महाशय प्रवीण फिर लिखने लगे। जवानी ही में उन्हें यह रोग लग गया था और आज बीस साल से वह उसे पाले हुए थे। इस रोग में देह घुल गयी, स्वास्थ्य घुल गया और चालीस की अवस्था में बुढ़ापे ने आ घेरा। पर, यह रोग असाध्य था। सूर्योदय से आधी रात तक यह साहित्य का उपासक अंतर्जगत में डूबा हुआ, समस्त संसार से मुँह मोड़े, हृदय के पुष्प और नैवेद्य चढ़ाता रहता था किन्तु भारत में सरस्वती की उपासना लक्ष्मी का तिरस्कार है। मत तो एक ही था। दोनों देवियों को एक साथ कैसे प्रसन्न करता?"

आगे वे कहते हैं:—

"साहित्य-सेवा और स्थूलता में विरोध है। अगर कोई साहित्य-सेवी मोटा-ताजा डबल आदमी है तो समझलो, उसमें माधुर्य नहीं, लोच नहीं, हृदय नहीं। दीपक का काम है जलना; दीपक वही लबा-लब भरा होगा जो जला नहीं।"

: १३ :

प्रकाशक

"रानी यह हिन्दुस्तान है इसमें कलम के सहारे जीना मुश्किल है।"
—प्रेमचन्द

इस्तीफा देने के बाद प्रेमचन्द को रोजगार की चिन्ता हुई। पहले पोद्दार जी के साथ साझे में चर्खे की दुकान खुलवाई, जिसमें मनवाञ्छित सफलता न हुई। मार्च सन् १९२२ में वे बनारस चले गए और परिस्थितियों से विवश होकर करघों का काम शुरू करना चाहते थे। इस बारे में जब मुन्शी दयानारायण निगम ने यह सलाह दी कि हमारी यह लाइन नहीं है, तो प्रेमचन्द ने उन्हें उत्तर में लिखा :—

"आप फरमाते हैं, तुम्हारी यह लाइन नहीं है। मैं तसलीम (स्वीकार) करता हूँ। मगर चारा क्या है ? मैं कुर्बानी को अपनी ज़ात तक रखना चाहता हूँ। अयाल (बाल-बच्चों) को इस चक्की में पीसना नहीं चाहता। फिलहाल रोटियाँ मिल जाती हैं, कुछ लिट्रेरी काम कर लेता हूँ। यह कुर्बानी है। खुदा और दुनियावर्दी, कौम और जात दोनों को साथ लिये हूँ। मैं लिट्रेरी काम को थोड़ी कुर्बानी नहीं समझता। जो शख्स अपनी फालतू आमदनी का एक हिस्सा किसी मदरसे के लिये खैरात कर देता है, वह हमारी कुर्बानी का सही अन्दाज़ा नहीं कर सकता, जो अपने लिये सोना तक हराम कर लेती है। आपने मेरे लिये कोई ऐसी तजवीज नहीं निकाली, जिससे फ़िक्रे-मुआश (रोटी की चिन्ता) से आज़ाद होकर मैं जिन्दगी काटता। मैं अर्ज़ कर चुका, इससे ज्यादा नफसकुशी (त्याग) मेरे इमकान (सामर्थ्य) से बाहर है। आपने जब कभी कोई तजवीज की वही हवाई-आकाशी-मुआश (जीविका) से मुझे इत्मीनान नहीं होता। ज़रूरत के लिए मुस्तकिल सूरत चाहिये। तकल्लुफात (विलास) के लिए तो आकाशी सूरत हो तो

मुजायका नहीं।......अखबारी जिन्दगी में किस क़दर फ़िक्र और झंझट हैं... अभी हमारे यहाँ वह ज़माना नहीं आया कि जर्नलिज्म (पत्रकारिता) को Career (जीविका-साधन) बनाया जा सके।"

प्रेमचन्द से बेहतर लिखने वाला कोई दूसरा लेखक नहीं था, फिर भी उन्हें अपनी रचनाओं की आमदनी नहीं के बराबर होती थी। कहानियाँ लोग मुफ्त छापते थे। किताबें पहले तो छपती ही न थीं, और अगर छप भी जायें, तो एक हजार का संस्करण बरसों में जाकर बिकता था। उर्दू का हाल तो बहुत ही पतला था और अब तक है। "बाज़ारे हुस्न" अर्थात् "सेवा-सदन" उपन्यास उन्होंने उर्दू में लिखा था। प्रकाशित पहले हिन्दी में हुआ। कलकत्ता पुस्तक एजेंसी ने उसके पहले संस्करण के लिए एक मुश्त चार सौ रुपये दिये। प्रेमचन्द को अपने साहित्यिक जीवन में इतनी बड़ी रकम पहली बार मिली थी। यह सन् १९१४ की बात है। इसके उपरान्त इसी प्रकाशन-गृह ने उन्हें "प्रेमाश्रम" के लिए तीन हज़ार रुपये मुआवजे के रूप में दिये। जिसका कारण स्पष्ट था। "सेवा-सदन" को असाधारण ख्याति प्राप्ति हुई थी। उसे हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना गया था। इसी कारण प्रेमचन्द का झुकाव हिन्दी की ओर हुआ। २० अक्तूबर सन् १९१५ को बस्ती से उन्होंने सम्पादक 'ज़माना' के नाम एक कार्ड लिखा:—

"ज़माना के लिये एक किस्सा लिखा है। अब मैं हिन्दी में भी लिख रहा हूँ।" "सरस्वती"[1] को एक लेख दिया। "प्रताप"[2] के लिये लिखा। इससे अधिक काम करने से माज़ूर हूँ।"

सन् १९१५ ही में बस्ती से एक पत्र में लिखते हैं:—

"प्रेम पचीसी के हिन्दी तर्जुमा के लिये कई जगह से इसरार (आग्रह) हो रहे हैं। मैं खुद ही इस काम को हाथ में लूँगा। अब हिन्दी लिखने की मश्क (अभ्यास) भी कर रहा हूँ। उर्दू में अब गुजर नहीं। मालूम होता है, बाल मुकुन्द गुप्त मरहूम (स्वर्गीय) की तरह मैं भी हिन्दी लिखने में ज़िन्दगी सर्फ कर दूँगा।"

बनारस से ३१ मार्च सन् १९२६ को एक कार्ड लिखा था:—

"......ज़माना के लिये कुछ नहीं लिख सका। इसकी मुआफी चाहता हूँ। उर्दू में कोई पुराने हाल (पूछने वाला) तो है ही नहीं। दो नाविलों

१—अलाहाबाद की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका।

२—कानपुर का दैनिक पत्र।

के तर्जुमे दारुल-अशाअत पंजाब को दिये। अभी कुछ तय नहीं हुआ। और मुंशी.........साहब मारे तकाजों के नाक में दम किये हैं हालांकि १५०) रु० दे चुका हूँ। लेकिन अभी इतना ही और देना है। इन दोनों किताबों की अशाअत (प्रकाशन) पर ही यह खर्चा वसूल होगा।"

गोया उन्हें अपनी जेब से पैसे खर्च करके पुस्तकें छपवानी पड़ती थीं। "सेवा सदन" प्रकाशित होने के छः सात साल बाद इसका उर्दू संस्करण "बाज़ारे हुस्न" इसी दारुल-अशाअत पंजाब, लाहौर से प्रकाशित हुआ था। इस सम्बन्ध में सैयद इम्तयाजअली 'ताज' को जो पत्र लिखा था, वह नीचे उद्धृत किया जाता है:—

गोरखपुर
२२ अप्रैल १९२०

मुशफिके[1] मन, तसलीम!

नवाजिशनामा मिला। मश्कूर हूँ। "बाज़ारे हुस्न" आप शाआ[2] करें। शरायत के मुताल्लक यह अर्ज है कि आप पहले एडीशन के लिये मुझे २० फी सदी रायल्टी अता फरमायें। पहला एडीशन बारह सौ नगों का होगा ग़ालबन एक रुपया आठ आने की क़ीमत रखी जाये। मुझे २८० जिल्दें[3] मिलेंगी। यह जिल्दें खाह मुझे जिल्दों की सूरत में दे दें या रुपये की सूरत में। रुपये की सूरत में देने से वही कमीशन, जो मैं दूसरे बुकसेलर मसलन रसाला "ज़माना" को दूँगा—आपको वज़आ कर दूँगा। अगर आप इसे पसन्द न फरमायें, तो मुझे जिल्द ही दे दें। किसी तरह बेच या बिकवा लूँगा। अगर इन दोनों सूरतों में से कोई भी पसन्द न हो तो मुझे पहले एडीशन के लिये २५० रुपये अता फरमायें। हिन्दी में मुझे पाँच सौ मिले थे। आप जिस तरह चाहें, फैसला कर लें। २५० रुपये गालबन जरूरत से ज्यादा मुतालिबा नहीं हैं। मेरी डेढ़ साल की मेहनत और खामाफरसाई[4] का नतीज़ा यह किताब है। अगर यह शर्तें सब आपको नागवार मालूम हों, तो अपनी मर्ज़ी के मुताबिक किताब शाया करके मुझे जो चाहें दे दें। मैं आपका मश्कूर[5] हूँगा। मुझे यह सख्त जिल्लत मालूम होती है कि अपनी किताब के लिये पब्लिशरों की खुशामद करता फिरूँ।

"प्रेम बत्तीसी" हिस्सा दोयम का किस्सा "खूने अज़मत" मिल

(१) प्रिय (२) प्रकाशित (३) प्रतियाँ (४) कलम घिसाई (५) कृतज्ञ (६) दूसरा भाग (७) प्राप्त।

गया है। पहला हिस्सा अनक़रीब तैयार है। दूसरा हिस्सा भी जल्द निकले तो बेहतर। मालूम नहीं काग़ज़ दस्तियाब हो या नहीं। मेरे पब्लिशर (हिन्दी) कलकत्ता से आपके लिये हर एक किस्म का काग़ज़ सुभीते के साथ भेजने पर आमादा हैं। निस्फ़ क़ीमत पेशगी दस्तकार होगी। अगर आप इसे मनज़ूर फरमायें, तो काग़ज़ का आर्डर वग़ैरह इस पता पर दे सकते हैं। मेरा हवाला देना ज़रूरी होगा।

श्रीयुत महावीरप्रसाद जी
बुकसेलरज एण्ड पब्लिशरज़
हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, १२६ हैरीसन
रोड, कलकत्ता।"

पत्र से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की नजर से कोई भी बात ओझल नहीं होती थी। हर एक मामले की, चाहे वह कितनी ही मामूली हो, तफ़सील में जाते थे।

"प्रेम बत्तीसी" का दूसरा भाग इसी दारुल-इशाअत से प्रकाशित हुआ था। "प्रेम पच्चीसी" और "प्रेम बत्तीसी" का पहला भाग उन्होंने स्वयं प्रकाशित किया था। इस सम्बन्ध म प्रेम बत्तीसी की भूमिका (दीबाचा) जो उन्होंने खुद लिखी थी, उल्लेखनीय है। लिखते हैं:—

"मेरी कहानियों का पहला मजमूआ (संग्रह) "प्रेम पच्चीसी" कई साल हुए शाया हुआ था। जहाँ तक मुआसर (समकालीन) अखबारों का ताल्लुक है। उन्होंने मेरी नाचीज़ कोशिश की दाद दी। लेकिन शायक़ीन पर इसका बहुत कम असर हुआ। पहला एडीशन खत्म होने में कमो-बेश पाँच साल लग गये। यह कदरदानी बहुत हौसला-अंगेज (साहसप्रद) न थी। लेकिन मुसन्नफ़ (लेखक) को तसनीफ (रचना) के सिवा चारा नहीं। इसलिये यह दूसरा मजमूआ "प्रेम बत्तीसी" के नाम से पब्लिक के सामने पेश करता हूँ। मुमकिन है कि पहले मजमूए की निस्बत इसकी ज्यादा चर्चा हो, या सारा तूमार दफ्तरे अशाअत (प्रकाशन-गृह) के गोदाम में पड़ा सड़े। मैं अपने फर्ज से सुबकदोश हो चुका। अब सिर्फ इतनी आरज़ू है कि एक मज़मूआ प्रेम चालीस या प्रेम पचासा के नाम से और निकल जाये। बस यही जिन्दगी का हासिल (सरवस्व) होगा, और इसी पर क़नाहत (सन्तोष) करूंगा।

इस सूबे में पब्लिशरों का कहत है। इसलिये यह मजमूआ दो हिसस (भागों) में जुदा-जुदा मुक़ामों से निकलना पड़ा ताकि ज्यादा तवक्कुफ़ (विलम्ब) न हो, हालाँकि इतनी एहतियात करने पर भी किताबत से

अशाअत तक कमो-बेश दो महीने खत्म हो गये।"

इस सिलसिले में सम्पादक 'ज़माना' को गोरखपुर से एक खत में लिखा था:—

"क्या हौसला अखबार नवीसी और लिट्रेरी काम का हो। "प्रेम पच्चीसी हिस्सा अव्वल" को छपे हुए चार साल हुए। मगर अभी तक निस्फ पड़ी हुई है। हिस्सा दोयम की मुश्किल से १५० जिल्दें निकली हैं। मैं इससे बेहतर नहीं लिख सकता और बेहतर कामयाबी की उम्मीद नहीं रखता। आप यह सुनकर खुश होंगे कि मेरे हिन्दी नाविल ने खूब शोहरत हासिल की और अकसर नक्कादों (आलोचकों) ने उसे हिन्दी जुबान का बेहतरीन नाविल कहा है। यह "बाज़ारे हुस्न" का तर्जुमा है। "बाज़ारे हुस्न" अब साफ कर रहा हूँ।"

उन्हीं के नाम २३ अप्रेल सन् १९२७ का खत है—

"मेरा इरादा एक लीथो प्रेस खोलने का है।......लोग कहते हैं बनारस में लीथो प्रेस नहीं चल सकता। लेकिन एक बार कोशिश करके देखना चाहता हूँ। मेरी कई किताबें निकलने के लिये तैयार हो रही हैं। "प्रेम पच्चीसी" खत्म हो गई। "गोशाये आफीयत" (प्रेमाश्रम) महज इसलिये नातमाम (अधूरा) है कि कोई पब्लिशर नहीं है। ताजा ड्रामा संग्राम भी उर्दू में निकालना चाहता हूँ। जब तक यह किताबें तैयार होंगी। गालबन मेरा नाविल तैयार हो जायेगा।"

ये कठिनाइयां थीं, जिनसे हमारे देश के लेखकों को अब भी दो-चार होना पड़ता है। अव्वल तो प्रकाशक मिलता नहीं, और अगर मिलता है, तो कोशिश यह होती है कि पुस्तक मुफ्त हाथ लगे। अगर कोई धुन का पक्का लेखक बारह-पन्द्रह प्रतिशत रायल्टी तय कर लेता है, तो वह भी उसे नहीं दी जाती। प्रकाशक लाभ में अपने पत्तीदार बुकसेलरों को तीस-चालीस प्रतिशत कमीशन देता है और बाकी खुद डकारता है। जुल्म होता है बेचारे लेखक पर। यही कुछ प्रेमचन्द के साथ होता था। उर्दू में उनकी अक्सर पुस्तकें लाहौर से प्रकाशित हुई हैं। दारुल अशाअत के अलावा वहां उनके। दूसरे प्रकाशक भी थे। "ग़बन" "पर्दा-ए-मिजाज" (काया कल्प) और कहानी संग्रह "ख्वाबो-खयाल" उन्हीं के यहां से प्रकाशित हुआ है। प्रेमचन्द को दोनों से शिकायत थी। सम्पादक "जमाना" को इस बारे में २५ फरवरी सन् १९३२ के एक खत में लिखा है :—

"पर्दा-मिजाज़ अभी तक पब्लिशर ने नहीं भेजा। कई खतूत (पत्र)

लिख चुका। न रुपये भेजता है न किताबें, न जवाब देता है। मालूम नहीं बीमार है या क्या? इधर "गबन" का तर्जुमा भी शुरू कर दिया है। एक नया नाविल भी शुरू कर दिया है। मगर सर्दबाजारी बलाए-जान हो रही है। किताबों की काफी बिक्री नहीं······"

उपेन्द्रनाथ अश्क को एक खत में लिखा था—

"बुकसेलरों का तजुर्बा आप से ज्यादा मुझे तलख़ हुआ है। एक पब्लिशर मेरे डेढ़ सौ रुपये दबाये बैठा है। लाहौर ही में एक दूसरा पब्लिशर मेरे सात सौ रुपये हज़्म करना चाहता है। अख़बारात का यह हाल है, बुकसेलरों का यह। बेचारा मुसन्नफ (लेखक) क्या करे।···"

किताबें छपने और बिकने के बारे में प्रेमचन्द को यह शिकायत आखिरी उम्र तक रही। कुछ उर्दू की बात नहीं, हिन्दी में भी यही कैफियत थी। उपेन्द्रनाथ अश्क ने बनारस कैंट से ९ जुलाई सन् १९३६ को लिखा हुआ उनका एक पत्र प्रकाशित किया है :—

"डीयर उपेन्द्रनाथ,

हुआ। तुम ताज्जुब कर रहे होगे कि मैंने तुम्हारे खत का जवाब क्यों नहीं दिया। मैं पन्द्रह दिन से कैदी-ए-बिस्तर (रुग्ण शैया) हो रहा हूँ। हाजमा की शिकायत है, जिगर और मेदा की खराबी। कोई काम नहीं करता। तुम्हारी परेशानियों का किस्सा पढ़कर रंज हुआ। इस महाजनी दौर में पैसे का न होना अज़ाब (कष्ट) है। जिन्दगी खराब हो जाती है। लेकिन यह भी न भूलना कि ग़रीबी और मुसीबतों का एक इखलाकी (नैतिक) पहलू भी होता है। इन्हीं आज़मायशों में इन्सान इन्सान बनता है। उसमें खुद एतमादी (आत्म-विश्वास) पैदा होती है।

हिन्दी में भी वही कैफियत है, जो उर्दू में। किताब नहीं बिकतीं। पब्लिशर कोई नई किताब छापते नहीं।···"

सन् १९३२ में पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी ने तीन प्रश्न पूछ भेजे थे। उनमें से एक यह भी था कि अपनी रचनाओं से आपको कितनी आमदनी हुई? प्रेमचन्द उत्तर में लिखते हैं :—

"आमदनी की कुछ न पूछिये। समस्त प्रारम्भिक पुस्तकों का प्रकाशन-अधिकार पब्लिशरज को दे दिया। "सेवा सदन", "प्रेमाश्रम", "सप्त सरोज" और संग्राम के लिये हिन्दी पुस्तक एजेंसी ने एक मुश्त तीन हजार रुपये दे दिये थे। और निबन्ध के लिये अब तक शायद दो सौ रुपये मिले दुलारेलाल जी ने "रंग भूमि" के अठारह सौ रुपये दिये थे। दूसरे संग्रह के

लिये सौ-दो-सौ रुपये मिल गये होंगे। "काया कल्प" "आज़ाद कथा" "प्रेम तीर्थ" "प्रेम प्रतिमा" "प्रतिज्ञा" मैंने खुद छापीं। मगर मुश्किल से अभी तक छः सौ रुपये वसूल हुए हैं। रचनाओं से फुटकर आमदनी पच्चीस रुपये महीना हो जाती है; मगर कभी-कभी इतनी भी नहीं। अनुवाद से शायद दो हजार से अधिक नहीं मिला। आठ सौ रुपये में "रंग भूमि" और "प्रेमाश्रम" दोनों के अनुवादों का मामला हो गया। "हंस" और "जागरण" के प्रकाशन में लग-भग दो सौ रुपये महीना का नुकसान हो रहा है।"

प्रकाशकों से उन्हें इस प्रकार दो-चार होना पड़ता था। सूद और मुनाफा पर पलने वाले महाजनी समाज से उन्हें जो घृणा थी, इसमें इन पब्लिशरों और मंदे को भी बहुत दखल था। अन्य परिस्थितियों की भांति इस परिस्थिति का प्रतिबिम्ब भी उनकी रचनाओं में खूब मिलता है। गरीब लेखक और पूंजीपति पब्लिशर में जो स्वाभाविक विरोध है "डिमांसट्रेशन" कहानी में उसका बहुत सच्चा चित्रण मिलता है। इसमें जो अतिशयोक्ति और घटना का विस्तार है, वह उनकी रचना-शक्ति का चमत्कार है। वरना यह कहानी निजी अनुभव और निरीक्षण के आधार पर लिखी गई है।

"गुरु प्रसाद को नाटक लिखकर वही आनन्द प्राप्त हुआ जो एक लेखक को अपनी रचना पूर्ण करके हुआ करता है। वह समझता है कि मैंने बहुत महत्वपूर्ण काम कर लिया है। जिस उमंग और उल्लास से उसने यह रचना पूर्ण की है, उसी उमंग और उल्लास से प्रकाशक और पाठक उसका स्वागत करेंगे। नाटक लिखने के उपरान्त नाटक-कम्पनी के मालिक के साथ सौदा पटाने की बात आती है तो गुरुप्रसाद के मित्र खूब ठाठ से मोटरों पर जाने का प्रस्ताव करते हैं। लेकिन सरल-स्वभाव गुरुप्रसाद कहता है कि सादे ढंग से टांगों में जाने से क्या बुराई है। इस पर विनोदबिहारी ने कहा—"आप तो घास खा गये हैं। नाटक लिख लेना दूसरी बात है और मामले को पटाना दूसरी बात है। एक रुपया पृष्ठ सुना देगा अपना-सा मुँह लेकर रह जाओगे।"

प्रेमचंद को शायद कई बार रुपया पृष्ठ भी नहीं मिला था। क्योंकि अपने अंतिम उपन्यास "गोदान" के उर्दू अनुवाद के लिये जब कि वे इतने ख्याति प्राप्त कर चुके थे, रुपया पृष्ठ से अधिक मिलने की आशा नहीं रखते थे। उन्हें प्रायः मामूली रकम के लिये अपनी पुस्तकों के सम्पूर्ण अधिकार बेच देने पड़े थे। उर्दू की लगभग सभी पुस्तकों के अधिकार प्रकाशकों के पास हैं। हिंदी की अलबत्ता वे पुस्तकें बच रही थीं, जो उन्होंने स्वयं प्रकाशित की थीं। इस लूट-खसोट की व्यवस्था में प्रकाशकों की लूट-खसोट भी बराबर चल रही

है। साहित्य का व्यापार करने वाला सेठ होता है, सेठ का दलाल होता है। ग़रीब लेखक को कैसे मक्खन लगाया जाता है, वे सब इस कहानी में मौजूद हैं।

गुरुप्रसाद उसके साथी जब ड्रामा सुनाते हैं, तो सेठ जी टस-से-मस नहीं होते, पत्थर की मूर्ति बने बैठे रहते हैं। मुखाकृति से मनोभावनाओं को प्रकट नहीं करते। अंत में सिर्फ दूसरे दिन आने की दावत देते हैं। जब गुरुप्रसाद और उसके मित्र दूसरे दिन आते हैं, तो उनकी आव-भगत की जाती है। दावत स्वादिष्ट है। आज सेठ जी चुप नहीं। नाटक की भूरी-भूरी प्रशंसा करते हुए फरमाते हैं कि आपके इस परिश्रम और लगन का पुरस्कार कौन दे सकता है? पास ही से दलाल बोल उठता है:—

"मुमकिन ही नहीं। ऐसी रचनाओं के पुरस्कार की कल्पना करना ही उनका अनादर करना है। इनका पुरुस्कार यदि कुछ है तो वह अपनी आत्मा का संतोष है और वह संतोष आपके एक-एक शब्द से प्रकट है।

सेठ जी—"आपने बिलकुल सत्य कहा कि ऐसी रचनाओं का पुरस्कार अपनी आत्मा का संतोष है।·····आपसे ड्रामा ले लीजिये और आज ही पार्ट भी तकसीम कर दीजिए। तीन महीने के अंदर इसे खेल डालना होगा।···"

ड्रामा ले लिया गया और जब गुरुप्रसाद दीन नेत्रों से सेठ जी की ओर देख कर उठे और चलने लगे, सेठ जी फिर बोले:—"हुज़ूर को थोड़ी सी तकलीफ और करनी होगी। ड्रामा का रिहर्सल शुरू हो जायेगा तो आपको थोड़े दिनों कम्पनी के साथ रहने का कष्ट उठाना पड़ेगा।"

चले, तो मित्र सेठ के कौशल की आलोचना करने लगे। गुरुप्रसाद इस आलोचना में शरीक न हुए। वह इस तरह सिर झुकाये चले जा रहे थे, मानो अभी तक वह स्थिति को ही समझ न पाये हों।"

आखिर ज़िंदगी में प्रेमचंद को कहानियों और लेखों का पुरुस्कार ज़रूर मिलने लगा था, जो काफी नहीं था। फिर भी उससे उनकी कुछ ज़रूरतें पूरी हो जाती थीं। कई बार वे ज़रूरत के लिये लिखते भी थे। "त्यागी का प्रेम" कहानी में लिखते हैं:—

"लाला गोपीनाथ को अब परवशता ने साहित्य-सेवी बना दिया था"

"लेखक" कहानी में जब लेखक की स्त्री शिकायत करती है कि आटा तक लाने को घर में पैसे नहीं, तो लेखक कहता है—

"दो एक पत्रिकाओं से मेरे लेखों के रुपये आते हैं। शायद कल तक आ जायें।"

एक बार उन्होंने एक बंगाली को घर पर रखा था और दो तीन सौ रुपया

दिया था। वह अपने आपको लेखक कहता था और बातूनी इतना था कि प्रेमचंद पर खूब रंग चढ़ाया था। उसने जब शादी की तो शिवरानी देवी से चोरी-चोरी प्रेमचंद ने उसकी पत्नी के लिये कपड़े आभूषण बनवा दिये। और फिर चोरी-चोरी कहानियां और लेख लिखकर यह रक़म अदा की। बंगाली बहुत गलत आदमी था। अपनी एक कहानी में उसका खूब चित्रण किया है। इस कहानी का नाम "ढपोरशंख" है, अर्थात् वह व्यक्ति जो बातें बहुत बनाये; लेकिन करनी में कोरा हो।

: १४ :

प्रेस

"साहित्य-सेवा पूरी तपस्या है।" —प्रेमचन्द

चिराग का काम जलना है, वह जलता रहेगा और उजाला फैलाता रहेगा। लेकिन मनुष्य जब चैतन्यरूप से चिराग बनने का कर्त्तव्य पालन करता है तो वह फिर जलने ही पर बस नहीं करता उसे यह चिन्ता होती है कि जिस उजाले को वह जन्म देता है, उसे अधिक से अधिक लोगों तक पहुचाये। प्रेमचन्द इस धुन के साथ साहित्य-रचना करते थे। वह चाहते थे कि जो कुछ लिखते हैं, वह अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुँच जाए। इसलिए उन्होंने कुछ पुस्तकें आप छापीं, और कुछ मुनाफाखोर पब्लिशरों को औने-पौने दे दीं। फिर भी प्रकाशन और वितरण के बारे में उनकी अभिलाषा पूरी न होती थी। इस लिए वह चाहते थे कि अपना पब्लिशिंग-हाउस हो, प्रेस हो, जहाँ उनकी और दूसरे लिखनेवालों की पुस्तकें आसानी से छप सकें, शीघ्र-से-शीघ्र लोगों के हाथों में पहुँचाई जा सकें।

मुलाजमत के दिनों में ही उनके मन में यह भावना बलवती होगई थी और सतत प्रेरणा बनती जा रही थी। वह चाहते थे कि अपनी इच्छा के अनुसार काम करें ताकि अपनी समस्त रचना-शक्ति को कार्यान्वित कर सकें। सम्पादक 'जमाना' को एक खत में बस्ती से लिखा था :—

"मैं आजिज हूं, तो मातहती से। जिसमें बजुज़ मेरी तबियत के और किसी का तकाज़ा न हो। जी में आवे, तो दिन रात काम करता रहूँ। और जी चाहे तो कुछ न करूँ। मगर यह सिर्फ मालिकाना हैसियत से हो सकता है।"

प्रेमचन्द एक बार जब बस्ती से कानपुर गये, तो गणेशशंकर विद्यार्थी से भेंट हुई। उन्होंने नया प्रेस लगाया था और अपना अखबार निकाला था। प्रेमचंद

विद्यार्थीजी के अपने दफ्तर में काम-काज के ढंग से बहुत प्रभावित हुए। घर लौट कर शिवरानी देवी से इस भेंट का जिक्र करते हुएकहा कि गणेशशंकर विद्यार्थी बड़े पुरुषार्थी हैं। प्रेस और अखबार का सारा काम खुद देखते हैं। मुझे उनकी सफलता में तनिक सन्देह नहीं। क्योंकि ऐसा आदमी जरूर कामयाब हो जाता है। जी चाहता है कि मैं भी इसी लगन से काम करूँ।

मुलाजमत छोड़ देने के उपरान्त भी उन्हें प्रेस खोलने और मालिक के तौर पर काम करने का अवसर नहीं मिला। उसके लिए पैसा दरकार था। चर्खे की दुकान खोली थी जो चल न सकी। उसके बाद कानपुर के मारवाड़ी स्कूल में अध्यापक लगे। इस स्कूल के मैनेजर एक महाशय काशीनाथ थे। वह कांग्रेसी और देश भक्त थे। प्रेमचन्द उन्हें सज्जन और सुशील समझते थे लेकिन तजुर्बे से तन के उजले और मन के मैले सिद्ध हुए। वह अध्यापकों के साथ अत्यन्त कटुता और क्रूरता से पेश आते थे। स्कूल के मैनेजर क्या थे, पूरे डिक्टेटर थे। प्रेमचन्द उनका कुटिल व्यवहार सहन न कर सके। जल्द ही अनबन होगई। मार्च सन् १९२२ में उन्होंने यहाँ से भी इस्तीफा दे दिया और फिर बनारस चले गये और अपनी जन्म-भूमि गाँव ही में जाकर रहने लगे। वहां उन्होंने तीन-चार हजार रुपया खर्च करके पुराने मकान के स्थान पर पक्का मकान बनवाया और खयाल था कि बाकी सारी उम्र इस जगह बिता देंगे। इस्तीफा देकर गांव जाने तक के ये सारे हालात उनकी कहानी "प्रेरणा" में भली प्रकार मिलते हैं।

काशीनाथ मारवाड़ी के स्थान पर कहानी मे कालेज का जिक्र है; लेकिन बात वही है। लिखा है—

"मुझ पर जा-बेजा आक्रमण होने लगे। अमुक को क्यों नहीं परीक्षा में भेजा गया, अमुक के बदले अमुक को क्यों नहीं छात्रवृत्ति दी गई। अमुक अध्यापक को अमुक कक्षा क्यों नहीं दी जाती? इस तरह के सारहीन आक्षेपों ने मेरा नाक में दम कर दिया था...मैंने इस्तीफा दे दिया।...संसार का ऐसा कटु अनुभव मुझे अब तक न हुआ था।"

और उसके उपरान्त गांव मे रहने की बात इस कहानी में यों लिखी है—

"मैं संसार से विरक्त हो गया। और एकान्तवास में जीवन व्यतीत करने का निश्चय करके एक छोटे से गांव में जा बसा। चारों तरफ ऊँचे-ऊँचे टीले थे, एक ओर गंगा बहती थी। मैंने नदी के किनारे एक-छोटा-सा घर बना लिया और उसमें रहने लगा।"

मगर गांव में वह बहुत दिन नहीं रहे। शिवप्रसाद गुप्त बनारस से हिन्दी

का एक मासिक पत्र 'मर्यादा'' निकालते थे। जिसके सम्पादक बाबु संपूर्णानंद थे। वह असहयोग आन्दोलन में गिरफ्तार होकर जेल चले गए। उनकी अनुपस्थिति मं प्रेमचन्द को 'मर्यादा' का सम्पादक बना दिया गया। डेढ़ साल बाद जब बाबू सम्पूर्णानन्द जेल से छूटकर आए तो यह काम फिर उन्हें सौंप दिया गया।

"मर्यादा" में प्रेमचंद को डेढ़ सौ रुपये मासिक मिलते थे। उसके बाद सवा सौ रुपये महीना पर काशी विद्यापीठ में अध्यापक लग गये। यह काम भी उनके स्वभावानुकूल नहीं था। सिर्फ एक साल बाद विद्यापीठ की नौकरी भी छोड़ दी।

अब उन्होने प्रकाशन कार्य आरम्भ करने का निश्चय कर लिया। चुनाचे रघुपतिसहाय फिराक गोरखपुरी और अपने दो प्रियजनों के साँझे में बनारस में सरस्वती प्रेस स्थापित किया। इसमें खुद उन्होंने साढ़े चार हजार रुपया लगाया। लेकिन जब मुनाफा की जगह उलटा कुछ नुकसान ही हुआ तो धीरे-धीरे प्रेस की सारी जिम्मेदारी खुद उन्हीं पर आ पड़ी। दूसरे सांझीदार एक-एक करके अलग हो गये।

किसी काम को अधूरा छोड़ना, हार मानना प्रेमचंद की आदत नहीं थी। वह पूर्ण मनोयोग से एक काम के पीछे पड़ जाते थे और मेहनत तथा लगन से असफलता को सफलता में बदलने की कोशिश करते थे। प्रेस के काम में वह पूरी तन्मयता से लग गये। दिन सारा प्रेस में लग जाता था फिर मिलने वाले आ जाते थे। इसलिये पढ़ने-लिखने का काम प्रायः रात को करते थे। शिवरानी देवी को उनका इतना अधिक काम करना पसंद नहीं था। सेहत खराब थी। इसलिये कड़े परिश्रम से मना करती रहती थीं। कम-से-कम उनका रात को जागना कतई पसंद नहीं था।

एक दिन शिवरानी ने एतराज़ किया, तो प्रेमचंद हंस कर बोले:—

"भाई, तब क्या करूँ? सुबह घूमना भी ज़रूरी होता है। घूम कर आते ही नाश्ता करके अपने कमरे में काम करने बैठ जाता हूँ। खुद भी लिखता-पढ़ता हूँ साथ ही तुम्हारे बच्चों को भी लिखाता-पढ़ाता हूँ। इसके बाद फिर उठता हूँ। नहाता-धोता हूँ। उसके बाद प्रेस जाता हूँ। प्रेस से आकर एक घंटा तक बच्चों से बात करता हूँ। नहीं, तो वे भी सब बिल्ले हो जायंगे फिर इसी के साथ-साथ अपनी भी तो थकान मिट जाती है। इसके बाद प्रेस का मुन्शी आ जाता है। उसे कुछ-न कुछ बोलना ही पड़ता है। नौ बजे उठकर खाना खाता हूँ। एक घंटा ही बाक़ी बचता है। इतनी ही देर में चाहे जो कुछ

पढ़ूँ लिखूँ। इस पर सरकारी हुक्म है कि दस बजे सो जाओ। सरकारी हुक्म टाला भी जा सकता है; पर, तुम्हारा तो टाला भी नहीं जा सकता। अब तुम्हीं बताओ कि इसमें कितना समय मैं निकाल सकता हूँ। "लीडर" तो मैं प्रेस में पढ़ता हूँ। मेरा तो एक-एक क्षण बँटा हुआ है। मैं तो ईश्वर से मनाता रहता हूँ कि रात छोटी हुआ करे, दिन बड़ा।"

(प्रेमचंद घर में)

प्रेस में उन्होंने एक प्रकार से अपनी आत्मा डाल दी थी। बीमारी तक की परवाह नहीं करते थे। एक बार शिवरानी देवी गांव में थीं और उन्हें पेचिश हो गई थी। जो पैसे पत्नी दवा के लिये देती थीं, वे आप प्रेस में खर्च कर देते थे। दो महीने बीमारी ही की हालत में बीत गये। तब शिवरानी देवी ने उन्हें गाँव चलने को कहा।

"आप बोले:—"प्रेस का काम कौन करेगा?"

शिवरानी:—"जब तबीयत अच्छी नहीं हो रही है तो क्या कीजिएगा?

आप:—"काम भी तो मुझे बहुत करना है।"

"शिवरानी:—"काम भाड़ में जाय। एक-न-एक तो लगा ही रहेगा।"

आप:—"क्या भाड़ में काम चला जायेगा? इसे तो पूरा करने ही से छुट्टी है।"

फरवरी सन् १९३३ को प्रेस में हड़ताल हो गई। शिवरानी देवी ने अपनी पुस्तक में उसका जिक्र इस प्रकार किया है:—

"मेरे प्रेस में हड़ताल हो गई। आप वहां से आये और सुस्त-से बैठ गये। मैं उन्हें उदास देखकर पूछ बैठी कि आपकी तबीयत कैसी है?"

आप बोले:—तबीयत तो बहुत अच्छी है।"

मैं बोली:—"तो उदास क्यों हो?"

आप बोले:—"इस प्रेस के कारण मुझे बड़ी परेशानी रहती है।"

मैं बोली:—"क्या है? बतायें तो!"

"क्या बताऊँ, मैनेजर और मजदूरों में पटती ही नहीं।"

"वह काम न करते होंगे। मैनेजर बेचारा क्या करे।"

"भाई, मैनेजर भी तो अपने को खुदा से कम नहीं समझता।"

"खुदा क्यों समझेगा अपने को? अगर ठीक-ठीक काम न कराये तो आप भी तो उस पर बिगड़ेंगे।"

"ज़रा-सी बात पर तो लोगों को गैर-हाज़िर करता है पैसे काटता है।"

"तो फिर उसका क्या दोष?"

"नहीं, सब मैनेजर की शरारत है। घड़ी को कभी सुस्त कर देता है, कभी तेज़ कर देता है। मैंने एकान्त में भी बीसियों बार समझा दिया है, बाबा ऐसा मत करो। पर, माने तब ना। फिर प्रेस में तो तरह-तरह के घाटे हैं। क्या इन्हीं मज़दूरों के बल पर घाटे पूरे होंगे। हम लोगों को तो ज्यादा रुपये मिलते हैं; पर खर्च भर का पूरा नहीं पड़ता। तब ग़रीबों को कैसे पूरा पड़ेगा? पैसों की मुसीबत तो इन लोगों के सिर पर है। इन लोगों की तनखाह तो तब नहीं कटती, जब यह हफ्तों गायब रहते हैं तब क्यों मज़दूरों ही की तनखाह चार मिनट देर में आयें तो कट जाये? ज़रा भी देर हुई, चट निकाल दूसरे को बुला लिया। हमारे यहाँ पढ़ा लिखा समाज सबसे अधिक स्वार्थी हो गया है।"

"एक के पीछे आप सारे समाज को बदनाम कर रहे हैं।"

"मेरा कहना तुम सच मानो।"

"तो फिर आप अपने को दोष दीजिये। मैनेजर को क्यों दोषी ठहराते हो?"

आप बोले :—"मैं तो कभी नहीं अपने छोटों से लड़ता। हर जगह यही अत्याचार है। अगर यह अपने से छोटों को बराबर का समझें तो झगड़ा हड़ताल कभी न हो। हरकतों से तो इनकी हड़ताल हो, पर बदनामी और हार मेरी! अब जब तक हड़ताल खत्म न होगी, सारा काम रुका पड़ा है। तबीयत उधर लगी रहती है, काम क्या होगा ख़ाक?"

मैं बोली—"आपकी तरह मैनेजर भी बैठा रहेगा। यह मज़दूर भी किसी से कम थोड़े ही हैं।"

उन्होंने कहा—"नहीं जी, वह मजदूरों से बढ़कर है। देखता हूँ बराबर नुकसान हो रहा है, पर बोलता नहीं हूँ। काम लेने के ढंग भी होते हैं।"

(प्रेमचन्द घर में)

यह उनका ढंग था। यह कठिनाइयां थीं। लेकिन नुकसान उठाते हुए भी प्रेस को चला रहे थे। बीच में नौकरी भी करनी पड़ी; लेकिन एक बार शुरू करके प्रेस बन्द नहीं किया। "काया-कल्प", "गबन", "कर्म भूमि" और "गोदान" आपने इसी प्रस से प्रकाशित किये। इसके अतिरिक्त "मानसरोवर" और "प्रेम द्वादशी" आदि कहानी-संग्रह भी इस प्रेस में छपे।

अब इतना हो गया कि जो कुछ वे लिखते थे, कम-से-कम हिन्दी में जल्दी छप जाता था। लेकिन मंदे के कारण किताबें बिकती नहीं थीं। स्टाक पड़े रहते थे और बुकसेलर भी पैसा जल्दी नहीं लौटाते थे। आलोचना आदि

कराने में भी काफी झंझट रहता था। मगर प्रेमचन्द किसी काम को भी नजर-अंदाज नहीं करते थे। हरेक बात का ध्यान रखना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इस सम्बन्ध में उनका एक पत्र उल्लेखनीय है। उन्होंने "गोदान" की एक प्रति "माधुरी" में आलोचना के लिये भेजी। सम्पादक बांकेबिहारीलाल ने दो प्रतियां मांगीं। आपने उसके जवाब में जो पत्र लिखा वह निम्नलिखित है :—

प्रिय बांकेबिहारीलाल जी,

आप 'गोदान' की आलोचना कर रहे हैं। यह जानकर बड़ा आनन्द पाया साहित्य की आज कल जो दुर्गति हो रही है, उसकी कुछ-न-कुछ जिम्मेदारी पत्रकारों पर भी आती है, जिनमें एक मैं भी हूँ। चाहिये तो यह कि कोई अच्छी चीज़ निकले उसका स्वागत किया जाय लेखक को प्रोत्साहन दिया जाय तथा प्रयत्न किया जाय कि पुस्तक की खपत हो और लेखकों और प्रकाशकों का दिल बढ़े। मगर प्रकाशक तो यहां है ही नहीं। आप आज कोई पुस्तक लिखकर प्रकाशक खोजने निकलें तो आपको समूचे भारतवर्ष में एक भी न मिलेगा, जो आपकी मेहनत का कुछ मुआवजा दे या रायल्टी पर ही छापे। रायल्टी पर छाप भी देगा तो कभी मिलेगी नहीं। आप जब मांगेंगे तो जवाब मिलेगा—"पुस्तक की बिक्री नहीं होती।" इसलिये मेरे जैसे दो-चार लेखकों ने खुद अपनी पुस्तक छापनी शुरू कीं, क्योंकि हमारा जीवन-व्यवसाय यही है। अगर कोई प्रकाशक ढंग का मिलता, तो हमें पुस्तक का रोज़गार क्यों करना पड़ता? लेकिन परिस्थितियों में पड़कर यह झंझट उठानी पड़ी। अगर सभी सम्पादक या मैनेजर दो-दो प्रतियां मांगें तो इस गरीब का तो पोस्टेज में ही दीवाला पिट गया। "गोदान" की एक प्रति पर महसूल बारह आने है। दो प्रतियों का महसूल डेढ़ रुपया होगा। अगर ५० कापियां भी भेजनी पड़ीं तो ४० रुपये महसूल हो जायेगा। बहुत से सज्जन तो आलोचना करते ही नहीं। यही देख कर कुछ प्रकाशक पत्रों के पास अपनी पुस्तकें नहीं भेजते।"

इस भावना से प्रेमचन्द ने प्रेस लगाया था। जीते-जी उन्हें इससे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। वे जो काम करना चाहते थे लाभ की दृष्टि से हो ही नहीं सकता था। साथ ही उन्होंने मासिक पत्र 'हंस' और साप्ताहिक 'जागरण" भी जारी कर दिया था। प्रेस में जो थोड़ा बहुत लाभ होता भी था, वह इन पत्रों में उठ जाता था। फिर भी खर्च नहीं चलता था तो इधर-उधर नौकरी करते थे। पारिश्रमिक पर लेख और कहानियां लिखते थे। मगर जो फर्ज उन्होंने अपने जिम्मे ले लिया था, उसे प्राणपन से निभाते जा रहे थे, और अंतिम समय तक निभाते रहे।

: १५ :

सम्पादक

"साहित्यकार मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है,—चाहे वह व्यक्ति हो, या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तग़ासा पेश करता है।" —प्रेमचन्द

प्रेमचन्द का एम० ए० पास करके वकील बनने का अरमान तो पूरा न हुआ; लेकिन उन्होंने जल्द समझ लिया कि पेशेवर वकील बनने की अपेक्षा जनता का सच्चा और मानवता का पक्षपाती वकील बनना कहीं अच्छा है। साहित्य द्वारा इस कर्तव्य को पालन करने का काम उन्होंने अपने जिम्मे ले लिया। कहानियाँ और उपन्यास लिख कर तो वे पीड़ित मानवता की वकालत करते ही थे; लेकिन चाहते थे कि जिस अदालत में उन्हें अपना इस्तग़ासा पेश करना है, उसके क्षेत्र को और विस्तृत किया जाय। इसलिये उनके मन में चिरकाल से किसी मासिक पत्रिका का सम्पादक बनने की साध थी। उनके जीवन का यह भी एक सुनहरा स्वप्न था।

सन् १९०२ में जब वे नवाबराय के नाम से लिखते थे, इण्डियन प्रेस इलाहाबाद के संचालक चिंतामणि घोष ने उन्हें कानपुर से बुलाया था। उनका इरादा एक मासिक पत्रिका निकालने का था और वह उसका सम्पादन मुंशी नवाबराय के सपुर्द करना चाहते थे। मामला तय करके प्रेमचन्द कानपुर लौटे तो मित्रों ने सलाह दी कि नौकरी छोड़ना ठीक नहीं होगा। एक साल की छुट्टी ले लीजिए। अगर इस बीच में पत्र चल जाय तो रहें, नहीं तो फिर आकर मास्टरी करें। सलाह उन्हें पसन्द आई। रिसाले का नाम उन्होंने "फिरदौस" तजवीज़ किया था। लेकिन कुछ कारणों से योजना स्थगित हो गई। पत्र निकल नहीं सका।

वैसे वे उन दिनों रिसाला "ज़माना" और साप्ताहिक "आज़ाद" के अवैतनिक सहायक सम्पादक थे। मुंशी दयानारायण निगम की मित्रता और भद्रता की ख़ातिर उन्हें उनके लिये बहुत कुछ लिखना पड़ता था। इस प्रकार उन्होंने सम्पादन कार्य के सम्बन्ध में काफ़ी ज्ञान प्राप्त कर लिया था और एक सम्पादक के कर्तव्य और महत्व को उन्हीं दिनों भली प्रकार समझ लिया था। अपनी कहानी 'डिग्री के रुपये' में लिखते हैं:—

"पत्र का सम्पादक परम्परागत नियमों के अनुसार जाति का सेवक है। वह जो कुछ देखता है जाति की विराट दृष्टि से ही। वह जो कुछ विचार करता है उस पर भी जातीयता की छाप लगी होती है। जातीयता के विस्तृत क्षेत्र में सदैव विचरण करते रहने से व्यक्ति का महत्व उसकी दृष्टि में अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है। वह व्यक्ति को क्षुद्र, तुच्छ, नगण्य समझने लगता है। व्यक्ति का जाति पर बलि देना उसकी नीति का प्रथम अंग है। यहाँ तक कि वह बहुधा अपने स्वार्थ को भी जाति पर वार देता है। उसके जीवन का लक्ष्य महान् और आदर्श पवित्र होता है। वह उन महान् आत्माओं का अनुगामी होता है जिन्होंने राष्ट्रों का निर्माण किया है। जिनकी कीर्ति अमर हो गई है तथा जो दलित राष्ट्रों का उद्धार करने वाली हो गई है। वह यथाशक्ति कोई ऐसा काम नहीं कर सकता जिससे उसके पूर्वजों की उज्जवल विरुदावली में कालिमा लगने का भय हो।"

प्रेमचन्द ने हमेशा इस आदर्श को सम्मुख रखा। उनकी 'जीवन का शाप' कहानी के नायक कावस जी भी इसी आदर्श के मानने वाले हैं लेकिन आदर्श भी हवा में नहीं पलते। हर एक मनुष्य को आदर्श के साथ ही भौतिक आवश्यकतायें भी पूरी करनी पड़ती हैं। अगर वह पूरी न हों तो आदर्श भी डगमगा जाता है। कावस जी अखबार निकालते हैं और जाति की सेवा करके ख्याति तो हासिल करते हैं लेकिन धन से वंचित रहते हैं। रोटियों तक के लाले हैं। फिर, पत्नी से भी नहीं बनती। वह बहुत ही कटु स्वभाव की स्त्री है। उसे कावस जी के आदर्शों से तनिक भी सहानुभूति नहीं। सिर्फ अपनी भौतिक आवश्यकताओं पर नजर रहती है। इस स्थिति से ऊब कर कावस जी अपने पड़ोसी शापुर जी के धन-दौलत और उनकी सभ्य सुन्दर पत्नी शीरीं को ललचाई हुई निगाहों से देखते हैं। प्रेमचन्द उनकी प्रकृति के इस कमजोर पहलू को यथार्थ के प्रकाश में देखते हुए लिखते हैं:—

"हलवे की जगह चुपड़ी रोटियाँ भी मिलें तो आदमी सब्र कर सकता है। रूखी भी मिल जायें तो वह संतोष कर लेगा; लेकिन घास-फूस सामने

देखकर तो ऋषि-मुनि भी जामे से बाहर हो जायंगे।"

प्रेमचन्द अपने नायक की इस स्वाभाविक दुर्बलता को छिपाते नहीं। आगे बढ़ने की छूट देते हैं। आखिर जब शीरीं अपने धनवान पति की उच्छृंखलता से व्यथित होकर अपना हाथ कावस जी के हाथ में देने को तैयार हो जाती है; कहती है, मुझे अपने साथ ले चलो। अब मैं इस घर में रहना नहीं चाहती; तो सहसा सम्पादक होश में आता है। उसकी अन्तरात्मा प्रताड़ना करती है। उसे अपनी दरिद्रता और पत्नी की निष्ठा स्मरण हो आती है। वह अपनी त्रुटियों का भरपूर निरीक्षण करता है। तब उसे यथार्थ वस्तु का ज्ञान होता है कि विलासिता में पली हुई रंगीन तितली—शीरीं उसके साथ कुटिया में कैसे रहेगी! लिखते हैं:—

"बुढ़िया मामा जब मुँह लटकाये उसके सामने रोटियाँ और सालन परोस देगी, तब शीरीं के मुख पर कैसी विदग्ध विरक्ति छा जायेगी!··· अभाव की पूर्ति सौजन्य से नहीं हो सकती। शीरीं का वह रूप कितना विकराल होगा।"

इस सत्य को समझकर अपनी पत्नी गुलशन के साथ अपने अनुचित व्यवहार का ध्यान आता है:—

"अपनी टिप्पणियों में वह कितनी शिष्टता का व्यवहार करते हैं। कलम ज़रा भी गर्म पड़ गया तो गर्दन नापी जायगी! गुलशन पर वह क्यों बिगड़ जाते हैं? इसीलिए कि वह उनके आधीन है और उन्हें रूठ जाने के सिवा कोई दण्ड नहीं दे सकती। कितनी कायरता है कि हम बलवानों के सामने दुम हिलायें और जो हमारे लिये जीवन का बलिदान कर रही है, उसे काटने दौड़ें।"

प्रेमचन्द कावस जी सरीखे आदर्शवादी सम्पादक की दुर्बलता और लोलुपता को प्राकृतिक तकाज़ा समझकर क्षमा कर देते हैं, बल्कि उनके यहाँ क्षमा का तो सवाल ही पैदा नहीं होता, वे उसकी भावनाओं से पूर्ण सहानुभूति दर्शाते हैं और अन्त में उसके हाथ में आदर्श की ज्योति थमा कर उसकी मानवता के पद को कई गुणा बढ़ा देते हैं।

लेकिन इसके विपरीत जो लोग महज़ नाम और ख्याति के लिए और धन की चाह में अखबार निकालते हैं उनमें सम्पादक बनने की कुछ भी योग्यता नहीं, आत्म-सुधार का लेश मात्र भी ध्यान नहीं, ऐसे लोगों को प्रेमचन्द खूब लताड़ते हैं। 'गोदान' का ओंकारदास एक ऐसा ही सम्पादक है। उनके निकट अखबार-नवीसी का उद्देश्य धन और विलासिता के साधन जुटाने के अतिरिक्त

और कुछ नहीं। इसलिए वह अपने अखबार द्वारा ब्लैक-मेलिंग भी करता है और फिर देश सेवा, पवित्रता और आदर्शवाद की डींग भी मारता है। प्रेमचन्द मिस मालती के हाथों उसकी झूठी पवित्रता और साधुता का मज़ाक उड़वा कर बे-अख्तियार कहकहा बुलंद करते हैं। उसे कावस जी की तरह रास्ते से नहीं लौटाते क्योंकि वह नीच और दुष्ट है लौट ही नहीं सकता। उसे अपने असली स्थान और नीचता के गढ़े की ओर फिसलता देखकर और धकेल देते हैं। उसे शराब पिलाकर कहते है :—

"कानून भी तो बंधन है, उसे क्यों नहीं तोड़ते ? बस वही बन्धन तोड़ो जो अपनी लालसाओं में रुकावट डालते हों..."

प्रेमचंद ने अपने सामने सम्पादक का जो आदर्श रखा था, उस पर वे अमल भी करना चाहते थे, यह तभी हो सकता था, जब वे मालिक की हैसियत से अपना अखबार निकालते। कारोबारी ढंग से और लाभ की नीयत से जो अख़बार और रिसाले निकल रहे थे, उनका सम्पादक बनकर आदर्श का पालन संभव नहीं था।

फिर भी सम्पादक न होने से सम्पादक होना अच्छा था। इस लिये नौकरी से इस्तीफा देने के बाद जब उन्हें सन् १९२२-२३ में "मर्यादा" का सम्पादक बनने को कहा गया, तो उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया और डेढ़ साल तक इस पत्रिका को योग्यता से चलाते रहे। लेकिन कारोबारी पत्रों में गुणों की अपेक्षा कुछ दूसरी बातें अधिक देखी जातीं हैं। चुनांचे इस व्यवस्था में जैसे पिता की सम्पत्ति पुत्र को अवश्य मिलती है, बाबू सम्पूर्णानंद के जेल से रिहा होते ही उन्हें "मर्यादा" का सम्पादन सौंप दिया गया।"

प्रेस लगाने का आशय हो यह था कि अपनी पुस्तक छापने के अतिरिक्त अपना अखबार और मासिक पत्र भी निकालेंगे। लेकिन आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह स्वप्न जल्द पूरा न हो सका बल्कि प्रेस चलाना भी मुश्किल था। उन्हें खुद अपनी रोज़ी कमाने के लिये लखनऊ जाना पड़ा। वहाँ वे गंगा पुस्तक माला के दफ्तर में मिरज़ा मुहम्मद अस्करी आदि के साथ स्कूली पुस्तकें तैयार करने का काम करते रहे। यहाँ वे दस महीने से अधिक न रह सके। एक तो तनखाह बहुत थोड़ी थी। सिर्फ सौ रुपये महीना मिलते थे। इसमें गुज़ारा नहीं होता था। फिर काम भी इच्छा के अनुसार नहीं था। स्कूलों के लिये जिस किस्म की पुस्तकें तैयार की जाती थीं वे उन्हें पसंद नही थीं। अप्रैल सन् १९२६ में वे फिर बनारस लौट आये और दो वर्ष अर्थात् जून सन् १९२८ तक वहीं रहकर प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझते रहे मगर

प्रेस में कुछ भी लाभ नहीं हुआ।

जुलाई १९२९ में नवलकिशोर प्रेस के मालिक मुंशी बिशन नारायण ने उन्हें फिर लखनऊ बुलाया। उनके प्रेस से "माधुरी" मासिक पत्रिका निकलती थी। प्रेमचंद को इसका संम्पादक बना दिया गया और वे नवम्बर सन् १९३१ तक नवलकिशोर प्रेस में प्रकाशन सम्बन्धी विभिन्न कार्य करते रहे। इस बीच में मंशी बिशन नारायण का देहान्त हो गया। उनकी जायदाद कोर्ट आफ वार्ड में चली गई। प्रेमचंद को इस संस्था से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना पड़ा।

"माधुरी" फिर भी निकलती रही। लेकिन प्रेमचंद के सम्पादन काल में इसे जो लोकप्रियता और सफलता प्राप्त हुई वह इस पत्रिका के इतिहास में स्मृति बनकर रह गई। फिर कभी वह बात नहीं बनी। पत्रिका को लोकप्रिय बनाने के सम्बन्ध में एक कहानी का उल्लेख जरूरी भी है और दिलचस्प भी। प्रेमचंद ने मोटेराम शास्त्री पर जितना लिखा है, उतना महात्मा गांधी पर भी नहीं लिखा होगा। सन् १९२९ में उनकी एक कहानी मोटेराम शास्त्री के नाम से प्रकाशित हुई, जिसे पढ़कर एक शास्त्री महाशय ने उन पर और उनके साथी सम्पादक कृष्ण बिहारी मिश्र पर मुकदमा दायर कर दिया। इस कहानी से 'माधुरी' के मालिक बिशन नारायण भी खुश थे। मुकदमा ठाठ से लड़ा गया। दो बैरिस्टर हर एक पेशी पर देहरादून से आते थे। कहानी का और मुकदमे का खूब चर्चा हुआ। शास्त्री महाशय मुकदमा हार गये। जज ने उनसे कहा:—

"आपको और तो कुछ नहीं कहना? बेहतर है कि आप खिड़की के रास्ते चुपके से बाहर निकल जायें।"

प्रेमचंद यह सुनकर मुस्कराये। 'माधुरी' का वह अङ्क हाथों-हाथ बिक गया।

जब वह माधुरी के सम्पादक थे तभी उन्होंने जनवरी सन् १९३० में अपना पत्र "हंस" निकालना शुरू कर दिया था जो उनके अपने सरस्वती प्रेस बनारस से प्रकाशित होता था। प्रेमचंद जानते थे कि सम्पादक का काम नये-नये लेखकों को प्रोत्साहन देना और उनकी रचना-शक्तियों को अधिक से अधिक जागरूक और विकसित करने में सहायता देना है। इसलिये वे नये लेखकों की रचनायें बड़ी मेहनत से सुधार कर छापते थे। उन्हें मित्रवत सलाह मशविरा देते और उनमें पढ़ने का शौक बढ़ाते थे। इस सिलसिले में निम्नलिखित पत्र देखिए, जो उन्होंने उपेंद्रनाथ अश्क के नाम लिखे थे। अश्क ने उन दिनों लिखना शुरू किया था और "हंस" में अपनी चीजें छपने के लिये भेजा करते थे:—

"गणेशगंज, लखनऊ,
२४ फरवरी १९३२

प्रियबन्धु,

आशीर्वाद ! मुआफ करना, तुम्हारे दो खत आये। "भिश्ती की बीवी" मैंने पढ़ा और बहुत पसन्द किया था। तुमने उर्दू का एक और छोटा-सा चुटकला भेजा था। मैं उसे हिन्दी में दे रहा हूँ। मगर हिन्दी में जो चीजें तुमने अब तक भेजी हैं, उनमें अभी ज़बान की बहुत ख़ामी है। हिन्दी के पत्र देखते रहोगे, तो साल छः महीने में यह त्रुटियां दूर हो जायंगी। कोई कहानी हमारे लिये हिन्दी में लिखो; मगर कहानी हो फैंसी। नहीं, किसी महान व्यक्ति का जीवन-चरित्र हो, तो उससे भी काम चल सकता है। मगर मेरी सलाह तो यही है कि बहुत लिखने के मुकाबिले में लिट्रेचर और फिलासफी का अध्ययन करते जाओ। क्योंकि इस वक्त का अध्ययन जिन्दगी भर के लिये उपयोगी होगा।

और तो सब खैरियत है।

शुभेच्छुक
धनपतराय

(५)

गणेशगन्ज, लखनऊ,
२३ मार्च सन् १९३२

डीयर उपेन्द्र,

आशीर्वाद ! कई दिन हुए तुम्हारी हिन्दी कहानी मिल गई। इससे पहले "फूल का अंजाम" उर्दू की चीज मिली थी। मैं इस हिन्दी कहानी में जरूरी सुधार करके "हंस" में दे रहा हूं। लेकिन तुमने नरेन्द्र को बिला काफी कारणों के शादी करने पर आमादा कर दिया। वह शादी से बेजार है। विवाहित जीवन का दृश्य देखकर उसकी तबीयत और उदासीन हो जाती है। फिर यकायक वह शादी करने पर तैयार हो जाता है। लेकिन यह कौन कह सकता है कि जिन मियाँ-बीबी को उसने लड़ते देखा था, उनका जीवन भी यौवन की पहली मधु-ऋतु में इतना ही आकर्षक न रहा होगा? तुम्हें कोई ऐसा सीन दिखाना चाहिये था, जिसमें इन्सान को अपना अकेलापन असह्य हो जाता या मियाँ-बीबी में जंग होने के बावजूद भी उनमें ऐसा चारित्रिक सौंदर्य होता, जो इन्सान को शादी की तरफ झुकने पर विवश करता। मौजूदा हालत में किस्सा (Convincing) विश्वास पैदा करने वाला नहीं है।

"फूल का अंजाम" इससे अच्छा है। इसमें एक नुक्ता है, एक चिरन्तन सत्य है। लेकिन उर्दू लेकर मैं क्या करूँ।

पढ़ने के लिये लाइब्रेरी से मनोविज्ञान की कोई किताब ले लो, स्कूली कोर्स की किताब नहीं। अभी एक किताब निकली है, (The Espects of Novel) इस विषय पर अच्छी पुस्तक है। मतलब सिर्फ यह है, इन्सान उदार विचार वाला हो जाय। उसकी सम्वेदनायें व्यापक हो जायें। डाक्टर टैगोर के साहित्यिक और दार्शनिक निबन्ध बहुत ही आला दर्जे के हैं। रोमां-रोलां का विवेकानन्द जरूर पढ़ो। उनकी "गांधी" भी पढ़ने के काबिल है। मारले के साहित्यक-जीवन लाजवाब हैं। डाक्टर राधा कृष्णन की दर्शन सम्बन्धी किताबें, टालस्टाय का (what Is Art) वगैरह किताबें जरूर देखनी चाहियें।

अख्तर साहब से मेरा सलाम कहना। मैं एक हिन्दी किस्सा लिख रहा हूँ और वह आपके लिये वक्फ़ है।

तुम्हारा खैर अंदेश
धनपतराय

खत और भी हैं; लेकिन दिखाना यह अभिप्रेत था कि प्रेमचन्द नये लिखने वालों का खास ध्यान रखते थे। उन पर मेहनत करते थे। खतों में ही नहीं जो लेखक घर पर अपनी चीजें दिखाने या सुनाने आया करते थे, वे उन्हें साहित्यिक नुक्ते बड़े धैर्य और रुचि से समझाया करते थे। उन्हें यों समय नष्ट करते देखकर शिवरानी देवी ने एक बार चिढ़कर कहा था—"तुमने क्या तमाम दुनियाँ को सिखाने का ठेका ले लिया है ?" तो प्रेमचन्द ने हँसकर जबाव दिया था कि यही लोग तो आगे चलकर साहित्य की बागडोर सँभा-लेंगे। जब वे साहित्य को समाज की भलाई और उपयोगिता की चीज समझते थे, तो क्यों न उसे आंदोलन बनाने का प्रयत्न करते। साहित्यिक आंदोलन को सशक्त बनाने के लिए तो "हंस" निकाला था।

'हंस' और 'जागरण' के लेख वह बड़ी मेहनत से लिखते थे और उन्हें हमेशा बाकायदगी और पाबंदी के साथ निकालने का ध्यान रखते थे।

सन् १९३५ की बात है। कई वे दिन से बीमार थे। रात भर ज्वर रहा। खाना तो क्या दूध तक नहीं पिया। सुबह चार बजे ज्वर उतरा, तो आप हमेशा की तरह हाथ मुंह धोकर 'हंस' के लिए सम्पादकीय लिखने बैठ गये। थोड़ी देर बाद जब शिवरानी देवी ने आकर उन्हें लिखते देखा, तो वह बहुत नाराज हुईं। प्रेमचन्द ने स्वभावानुसार हँसकर जबाव दिया:—

"लेख नहीं लिखूंगा तो "हंस" कैसे छपेगा? 'हंस' अगर समय पर नहीं निकलेगा, तो ग्राहक को परेशानी होगी। वह यह थोड़े ही जानता है कि मैं बीमार हूँ। उसने पैसे दिये हैं और वह वक्त पर 'हंस' चाहता है।"

लेकिन शिवरानी देवी ने कहाः—अब लिखोगे तो कलम तोड़ दूँगी, कागज फाड़ दूँगी। प्रेमचन्द ने लाचार होकर कम्पोजीटर को एक घण्टा में दोबारा आने की बात कहकर लौटा दिया। शिवरानी से फिर बोले :—"तुमने मुझे लिखने नहीं दिया, आदमी बेकार बैठे हैं।"

शिवरानी—तो 'हंस' कौन मोती उगल रहा है?"

प्रेमचन्द हँसकर बोले—साहब, 'हंस' मोती उगलता नहीं, चुनता है।"

बहस फिर भी जारी रही। बीबी ने कहा—तुम इतना त्याग किस लिए कर रहे हो?"

प्रेमचन्द सादगी से बोले—त्याग नहीं, नशा है, अगर मैं यह काम न करूँ तो तस्कीन नहीं मिलती।"

"मृत्यु के पीछे" कहानी में भी लगभग यही बात कही है। उसके नायक ईश्वरचन्द्र एक अखबार के सम्पादक हैं। उनमें भी वही त्याग, वही लगन और वही कर्त्तव्य-निष्ठा है। लिखते हैं:—

"एक दिन रात के दस बज गये थे। सरदी खूब पड़ रही थी। मानकी दबे पैर उनके कमरे में आई। दीपक की ज्योति में उनके मुख का पीलापन और भी स्पष्ट हो गया था। वह हाथ में कलम लिये किसी विचार में मग्न थे।...मानकी एक क्षण तक उन्हें वेदना युक्त नेत्रों से ताकती रही। तब बोली, "अब तो यह पोथा बन्द करो। आधी रात होने को आई। खाना पानी हुआ जाता है।"

ईश्वरचन्द्र ने चौंककर सिर उठाया और बोले—"क्यों, क्या आधी रात हो गई? नहीं, अभी मुश्किल से दस बजे होंगे। मुझे जरा भी भूख नहीं है।"

मानकी—"कुछ थोड़ा-सा खालो न!"

ईश्वरचन्द्र—"एक ग्रास भी नहीं। मुझे इसी समय अपना लेख समाप्त करना है।"

मानकी—"मैं देखती हूँ, तुम्हारी दशा दिन-दिन बिगड़ती जाती है। दवा क्यों नहीं करते? जान खपाकर थोड़े ही काम किया जाता है?"

ईश्वरचन्द्र—"अपनी जान को देखूं या इस संघर्ष को देखूं जिसने समस्त देश में हलचल मचा रखी है। हजारों लाखों की हिमायत में एक-

जान न भी रहे तो क्या चिन्ता ?"

इस विषय पर प्रेमचन्द की यह सबसे सुन्दर कहानी है। सच तो यह है कि क्रियात्मक जीवन में जितना ऊँचा कोई रहता है, उतना ही ऊँचा वह लिख सकता है। आदर्श जीवन के बिना सुन्दर और स्थायी साहित्य का निर्माण सम्भव नहीं।

वे इस धुन से जान खपाकर 'हंस' को चला रहे थे। हर महीने लगभग दो सौ रुपये का घाटा रहता था। कई बार लेखकों को पुरस्कार का वादा करके लेख मंगवाते थे, इससे नये लिखनेवालों का उत्साह बढ़ाना भी अभिप्रेत होता था। लेकिन नुकसान के कारण दे नहीं पाते थे तो लिखनें वाले नाराज हो जाते थे। वे उन्हें प्यार से समझा देते थे।

इस खर्च के कारण उन्होंने 'हंस' बीच में हिन्दी परिषद् वालों को भी दे दिया था। सम्पादक प्रेमचन्द खुद थे, पैसा वे लोग खर्च करते थे। लेकिन वे अधिक दिनों खर्च नहीं कर सके। आखिर तय किया कि 'हंस' प्रेमचन्द से बिल्कुल ले लिया जाय और परिषद् अपने प्रबन्ध में निकाले। इस बात का प्रेमचन्द को जो दुख हुआ, वह अख्तर हुसैन रायपुरी के नाम एक खत से विदित है। तारीख नहीं, मालूम होती है कि सन् १९३६ में लिखा गया है, क्योंकि उस समय 'गोदान' छप गया था और परिषद् ने 'हंस' अक्तूबर सन् १९३५ में अपने प्रबन्ध में लिया था :—

"डीयर अख्तर,

तुम्हारा खत मिला। मैं इस फिक्र में था कि तुमने अब तक मेरे खत का जबाब क्यों नहीं दिया। अब मालूम हुआ कि तुम पहाड़ों की सैर कर रहे हो।

अब मेरा किस्सा सुनो। मैं करीब एक माह से बीमार हूँ। मेदा (आमाशय) में गैस्ट्रिक अलसटर की शिकायत है। मुँह से खून जाता है इसलिए कोई काम नहीं करता। दवा कर रहा हूँ। मगर अभी तक तो कोई इफ़ाका (लाभ) नहीं। अगर बच गया तो 'बीसवीं सदी' रिसाला आप लोगों के ख्यालात की अशाअत के लिये जरूर निकालूंगा। 'हंस' से तो मेरा ताल्लुक टूट गया। मुफ्त की सर-मग्जी, बनियों के साथ काम करके यह सिला मिला कि तुमने 'हंस' में ज्यादा रुपया खर्च कर दिया। इसके लिए मैंने दिलो जान से काम किया। बिलकुल अकेला अपने वक्त और सेहत का कितना खून किया, इसका किसी ने लिहाज न किया। मैंने 'हंस' इन लोगों को इस ख्याल से दिया था कि वह मेरे प्रेस में छपता रहेगा और मुझे प्रेस की

तरफ से गूना (एक प्रकार की) बे-फिक्री रहेगी। लेकिन अब देहली में सस्ता साहित्य मण्डल की तरफ से निकलेगा और इस तबादले में परिषद् को अंदाजन पचास रुपये महीने की बचत हो जायेगी। मैं भी खुश हूँ।

जिस लिट्रेचर की इशाअत कर रहा था, वह हमारा लिट्रेचर नहीं है, वह तो वही भक्तनी वाला महाजनी लिट्रेचर है, जो हिन्दी ज़ुबान में काफी है…

मेरा नाविल 'गोदान' हाल ही में निकला है। उसकी एक जिल्द (प्रति) भेज रहा हूँ। उर्दू में रीव्यू करना। "मैदाने अमल" का नुस्खा तो तुम्हारे यहाँ पहुँचा ही होगा, उस पर भी लिखना। "गोदान" के लिये एक पब्लिशर की तलाश कर रहा हूँ। मगर उर्दू में तो हालत जैसी है, तुम जानते ही हो, बहुत हुआ तो एक रुपया सफ़ा कोई दे देगा।

और अब खैरीयत है। मौलवी अब्दुल हक़ क़िब्ला की ख़िदमत में मेरा आदाब कहना।

मुखलिस

धनपतराय"

हिंदी परिषद् और सस्ता साहित्य मंडल गांधी जी की देख-रेख में चल रहे थे। "हंस" लेने का फैसला वर्धा की एक बैठक में हुआ था, जिसमें प्रेमचंद को भी बुलाया गया था।

मगर पचास रुपये महीना की बचत देखने वाले बनिये "हंस" को मोती कहां खिला सकते थे? यह तो प्रेमचन्द ही का बूता था। जून सन् १९३६ के "हंस" में सेठ गोबिंददास का एक लेख प्रकाशित हुआ, जिसे सरकार ने आपत्ति-जनक समझा और "हंस" से ज़मानत मांग ली। परिषद् ने ज़मानत देने से इनकार करके पत्र बंद करने की घोषणा कर दी। प्रेमचंद उस वक्त बीमार थे। उन्हें परिषद का यह बनियापन बहुत नागवार मालूम हुआ। उन्होंने तुरन्त ज़मानत दाखिल कराई और पत्र अपने अधिकार (मलकियत) में लेकर जारी रखा।

इससे पहिले भी सरकार ने "हंस" पर कई हमले किये थे। उसके प्रकाशन के छः महीने बाद ही जून सन् १९३० में पहली बार ज़मानत मांगी गई थी, जिसके कारण पत्र बंद हो गया। लेकिन जनवरी सन् १९३१ में आर्डीनेंस खत्म हो गया तो फिर निकालने लगे। मगर दो ही तीन अङ्क निकले थे कि प्रेमचंद की "क़ातिल" कहानी प्रकाशित होने पर फिर ज़मानत मांगी गई; लेकिन बनारस के कलक्टर की सिफारिश पर सरकार ने हुक्म वापस ले लिया और "हंस" बदस्तूर निकलता रहा।

प्रेमचंद ने किसी मूल्य पर "हंस" को जारी रखने का निश्चय कर लिया था। मरते दम भी उन्हें अगर कोई चिंता थी तो यही कि मेरे बाद "हंस" कैसे जीवित रहेगा। वे उसे अपने "बेटे" की तरह प्यार करते थे। 'हंस' और जागरण को जीवित रखने के लिये उन्हें सन् १९३४ में फिल्म की नौकरी स्वीकार करनी पड़ी थी।

उनके बाद शिवरानी देवी ने और उनके बेटे अमृतराय ने हंस को बदस्तूर जारी रखा है और 'हंस' प्रेमचंद की प्रगतिशील परम्पराओं का वाहक है, जिसके कारण पाठक उससे अनुराग रखते हैं। आर्थिक कठिनाइयों के कारण अमृतराय ने दिसम्बर सन् १९४७ में छः महीने के लिये "हंस" को बंद रखने की घोषणा की थी। पाठकों ने इस फैसले का ज़बर्दस्त विरोध किया और टेप्रोस्ट के खत लिखे। पटना के एक पाठक का पत्र देखिए:—

"मैं एक अरसे से 'हंस' का पाठक रहा हूँ। 'हंस' जो नीति बरतता रहा है, उसका मैं कायल हूँ। 'हंस' कांग्रेस के ढंग से जनता की सेवा करने का ढोंग नहीं करता रहा है। उसने वर्ग विभाजन को समझा है और जनता की सेवा करने की उसमें सच्ची लगन है। आज जब हमें प्रतिक्रियावाद पर, जो हमारे चारों तरफ मौजूद है और जो अपना खूनी पंजा और मजबूत करना चाहता है, चौतरफा हमला करना है। 'हंस' प्रतिक्रियावाद के हल्के को तोड़ने के लिये हमारे हाथ में एक बहुत मजबूत हथौड़ा है।"

इस हथौड़े की चोटों से घबराकर संयुक्त प्रान्त की कांग्रेस सरकार ने मई सन् १९४९ में "हंस" के सम्पादक अमृतराय को एक नोटिस दिया, जिसमें 'हंस" पर साम्प्रदायिकता और लोगों को भड़काने का आरोप लगा कर पत्र को बंद करने की धमकी दी थी। हिंदी और उर्दू के तमाम गम्भीर और मानवता-प्रेमी लेखकों और सम्पादकों ने कांग्रेस सरकार के इस क्रम की निंदा की और "हंस" को इस आक्रमण से सुरक्षित रखा।

इसके बावजूद घरेलू झगड़ों के कारण "हंस" काफी दिनों से बंद है। मालूम हुआ है कि अमृतराय ने बड़े भाई श्रीपतराय से बँटवारा करके अपने हिस्से का प्रेस अलग कर लिया है। 'हंस' इस प्रेस में फिर छपने लगा है।

अमृतराय ही नुकसान के बावजूद पहले चला रहे थे और अब भी चलायेंगे। इस संघर्ष काल में 'हंस' की बड़ी ज़रूरत है। प्रेमचंद ने जिस मंजिल की ओर निर्देश किया था अमृतराय बड़ी तेजी से उसी ओर बढ़ रहे हैं। 'हंस' उनके और दूसरे लेखकों के हाथ में हथौड़ा है। जिससे वे मार्ग की चट्टानों

को तोड़ सकते हैं। मार्ग यह है, जो प्रेमचंद ने अपने 'बुरज़वा कलचर' (महाजनी सभ्यता) लेख में दिखाया था :—

"इस कलचर ने समाज को दो हिस्सों में बाँट दिया है, जिनमें एक हड़पने वाला है, दूसरा हड़पा जाने वाला है। इस महाजनी सभ्यता का अंत हुआ है रूस में। और जो समाजिक व्यवस्था इस देश के लिये लाभकारी सिद्ध हुई है, वह हिंदुस्तान के लिये भी हो सकती है।"

: १६ :

समर यात्रा

"आदमी आपसी संघर्ष से घबराय, तो कायर है।"

—प्रेमचन्द

प्रेमचन्द ने "सोज़े वतन" सन् १९०९ में लिखी थी उस समय देश में बंग-भंग का आन्दोलन चल रहा था। इस पुस्तक का उद्देश्य इस आन्दोलन को आगे बढ़ाना और देशवासियों में देश-प्रेम की भावना को पुष्ट करना था। सरकार ने उसे ज़ब्त कर लिया। इस पुस्तक के बाईस-तेईस साल बाद उन्होंने कहानियों की एक और पुस्तक लिखी, जिसका नाम "समर यात्रा" था। इस समय देश में सविनय-भंग आन्दोलन चल रहा था। पुस्तक का उद्देश्य इस आन्दोलन को प्रगति देना तथा स्वतन्त्रता-संग्राम को तेज़ करना था। इस पुस्तक को भी सरकार ने ज़ब्त कर लिया था।

सन् १९०९ में आज़ादी और देश-भक्ति एक रोमाञ्चकारी भावना थी। मनुष्य के मन में यह भावना इसलिये उत्पन्न होनी चाहिये कि उसे नायक बनना है, अपने व्यक्तित्व को ऊँचा उठाना है। जिसके मन में यह भावना नहीं, वह अधम है; मनुष्य के वेष में पशु है। आज़ादी एवं स्वराज्य मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है। बस ऐसी ही बातें और नारे इस भावना का आधारमात्र थीं। यह भावना मैज़िनी और गैरीनाल्डी आदि विदेशी देश भक्तों से उधार ली जा सकती थी। चुनाचे प्रेमचन्द ने 'सोज़े-वतन' की भावना-प्रधान कहानियों की तरह मैज़िनी, गैरीनाल्डी और रंजीतसिंह आदि के जीवन-चरित्र भी लिखे थे। उस समय स्वतन्त्रता-आन्दोलन के आर्थिक पहलुओं पर बिल्कुल ध्यान नहीं किया जाता था। जिस तरह आजादी और देश-भक्ति का यह आकाशी-विचार नाकिस है, उसी तरह यह कहानियां भी कला की दृष्टि से कमज़ोर थीं।

लेकिन सन् १९३०-३२ तक हमारा स्वतन्त्रता संग्राम कई मंज़िलें तय कर चुका था। वह सिर्फ बहस करने वाले वकीलों, अंग्रेज़ से अधिकारों की

भीख माँगने वाले व्यापारियों और मध्य वर्ग का आन्दोलन नहीं रह गया था। आर्थिक संकट मेहनतकश जनता की कमर तोड़ रहा था। मज़दूर किसान स्वतन्त्रता संग्राम में खिंचे चले आ रहे थे। संसार में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे थे। रूस की मज़दूर क्रान्ति बुर्जुवाई वर्ग के समस्त विरोध और षडयन्त्रों को कुचल कर दुनियाँ भर से मज़दूर और श्रमजीवी वर्ग की संगठित शक्ति का लोहा मनवा चुकी थी और अब रूस पंच-वर्षीय आर्थिक योजनाएँ बनाकर समृद्धि और सम्पन्नता की ओर बढ़ रहा था। दुनियाँ भर के पढ़े-लिखे नौजवान और मानवता प्रेमी बुद्धिजीवी रूस की नयी व्यवस्था से प्रभावित हुए थे। हमारे देश में भी गर्म दल नौजवानों की पार्टियाँ ऐसी ही क्रान्ति के लिये प्रयत्नशील थीं।

प्रेमचन्द तो पहले ही इस क्रान्ति का स्वागत कर चुके थे। अब मज़दूरों तथा किसानों को सफल होते देखकर और भी खुश होते थे और अपने देश में शासक और पूंजीपति वर्ग की लूट-खसोट को समाप्त करने के लिये रूसी ढंग की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का समर्थन करते थे।

ग़ालबन नवम्बर १९२८ की बात है। प्रेमचन्द लखनऊ में थे। वायसराय वहाँ आया। यू० पी० के ज़मींदारों ने उसका स्वागत किया और उसके आगमन की खुशी में रात को चालीस हज़ार रुपये की आतिशबाज़ी जलाने का आयोजन किया। प्रेमचन्द ने घर जाकर इस बात की चर्चा की तो शिव-रानीदेवी बोलीं, हमने तो इतनी बड़ी आतिशबाज़ी कभी नहीं देखी, क्या आप देखने चलेंगे? प्रेमचन्द बोले, हाँ क्यों नहीं चलूंगा। ग़रीबों का घर फूंक तमाशा देखा जायगा।"

शिवरानीदेवी उस समय यह नहीं समझती थीं कि इसमें ग़रीबों का घर फुंकता है। उनका ख़याल था कि बड़े-बड़े ज़मींदार राय बहादुर और खान बहादुर यह सारा समारोह करते हैं और उन्हीं का पैसा खर्च होता है। लेकिन प्रेमचन्द ने उन्हें बताया कि देश में जो अस्सी फीसदी किसान और कुछ दूसरे लोग बसते हैं, उनकी मेहनत से यह दौलत पैदा होती है। एक ओर तो मेहनत करने वालों को दो जून रूखी रोटियाँ भी नहीं मिलतीं और दूसरी ओर यह लोग सिर्फ इस आशा में कि वायसराय खिताब देगा, चालीस-चालीस पचास-पचास हजार रुपये आतिशबाजी में फूंक देते हैं। अंग्रेज़ और उनके देशी पिट्ठू नाहक गरीबों का खून चूसते हैं।

इसके बाद जो बहस शुरू हुई उसे शिवरानीदेवी अपनी पुस्तक "प्रेमचन्द घर में" इस प्रकार उद्धृत करती हैं:—

मैं बोली:—जब स्वराज्य हो जायगा, तब क्या शोषण बन्द हो जायगा?

आप बोले:—थोड़ा बहुत तो हर जगह होता है। यही शायद दुनियाँ का नियम हो गया है कि कमजोर का शोषण बलवान करें। हाँ, रूस है, जहां कि बड़ों को मार-मार कर दुरुस्त कर दिया गया, अब वहां ग़रीबों को आनन्द है। शायद यहाँ भी कुछ दिनों के बाद रूस जैसा ही हो।"

मैं बोली:—"क्या आशा है कुछ?"

आप बोले:—"अभी जल्दी इसकी आशा नहीं।"

मैं बोली:—"मान लो कि जल्दी हो जाय, तब आप किसका साथ देंगे?"

आप बोले:—"मजदूरों और काश्तकारों का। मैं पहले ही सबसे कह दूँगा। कि मैं भी मजदूर हूँ। तुम फावड़ा चलाते हो, मैं कलम चलाता हूं। हम दोनों बराबर हैं।"

मैं हँसकर बोली:—"इस तरह कहने से काम नहीं चलेगा। ये तुम्हारा विश्वास नहीं करेंगे।"

वह बोले:—"तब तक सब लोग पढ़ जायंगे। क्या रूस में लेखक नहीं हैं? वहां के लेखकों की हालत यहां के लेखकों की हालत से कई गुना अच्छी है। मैं तो उस दिन के लिये मरता हूँ कि यह दिन जल्दी आये।"

मैं बोली:—"तो रूस वाले यहां भी आयंगे?"

वह बोले:—'वे यहां नहीं आयंगे। हमीं लोगों में वह शक्ति आयगी। वह हमारे सुख का दिन होगा। जब यहां मजदूरों और काश्तकारों का राज होगा। मेरा ख्याल है कि आदमियों की जिंदगी औसतन दूनी हो जायगी।

मैं बोली:—"वह कैसे?"

आप बोले:—"सुनो, वह इस तरह होगा कि अभी हमको रात दिन मेहनत करने पर भी भरपेट आराम से रोटियां नहीं मिलतीं। रात दिन कुछ न-कुछ फिक्र हमेश रहती है।"

मैं बोली:—"तो फिक्र हम लोग अपने आप ही तो करते हैं। मज़दूरों का राज होने पर क्या हम लोगों को फिक्रों से छुट्टी मिल जायगी?"

आप बोले:—क्या नहीं छुट्टी मिलेगी? हमको आज मालूम हो जाय कि हमारे मरने के बाद भी हमारे बीबी बच्चों को कोई तकलीफ नहीं होगी और उसकी जिम्मेदारी हमारे सिर पर नहीं, बल्कि राष्ट्र के सिर पर है तो हमारा क्या सिर फिर गया है कि हम अपनी जान खपाकर दिनरात मेहनत करें और आमदनी का कुछ-न-कुछ हिस्सा काटकर अपने पास जमा करने की कोशिश करें? हमको आज मालूम हो जाय कि हमारे मरने के बाद हमारे बालबच्चों

को कोई तकलीफ नहीं होने पायगी, तो ऐसा कौन आदमी है कि आराम से खाना-पहनना नहीं चाहेगा ?"

स्पष्ट है कि प्रेमचंद के मन में मनुष्य के महान् भविष्य में विश्वास बढ़ गया था और उनके मस्तिष्क में आज़ादी का सही और स्पष्ट रूप अंकित होगया था। अब वह उसी आज़ादी के लिये लिख रहे थे और संघर्ष कर रहे थे। पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी सम्पादक 'विशाल भात' ने उनसे दरियाफ्त किया था कि आपकी अभिलाषायें क्या हैं ? इसके जवान में उन्होंने जून सन् १९३० में लिखा था :—

"मेरी अभिलाषायें बहुत सीमित हैं। इस समय सबसे बड़ी अभिलाषा यही है कि हम अपने स्वतंत्रता-संग्राम में सफल हों। मैं दौलत और शोहरत का इच्छुक नहीं हूँ। खाने को मिल जाता है। मोटर और बंगले की मुझे हविस नहीं है। हां, यह ज़रूर चाहता हूँ कि दो चार उच्चकोटि की रचनायें छोड़ जाऊँ; लेकिन उनका उद्देश्य भी स्वतन्त्रता-प्राप्त ही हो······ मैं जड़-जीवन को भी ना पसंद करता हूं। साहित्य और देश-सेवा का मुझे हमेशा से ध्यान है।

सोने और रुपये से लदा हुआ व्यक्ति किसी भी हैसियत से बड़ा नहीं होता। नौजवान मनुष्य को देखते ही कला और शिक्षा के बारे में उसके बड़बोलों को मैं दूसरे कान से निकाल देता हूँ। मुझे यह लगता है कि इस व्यक्ति ने उस सामाजिक व्यवस्था का समर्थन किया है, जो अमीरों के हाथों गरीबों का खून चूसने पर कायम है। ऐसा कोई बड़ा नाम मुझे प्रभावित नहीं कर सकता जो धन का पुजारी हो। मुमकिन है कि मेरे असफल जीवन ने मेरी भावनाओं को इतना कटु बना दिया हो और यह भी मुमकिन है कि बैंक में कोई मोटी रकम जमा करने के बाद शायद मैं भी उन जैसा हो जाता और लालच का मुकाबिला न कर सकता। लेकिन मुझे गर्व है कि प्रकृति और सौभाग्य ने मेरी सहायता की और मुझे गरीबों के दुख का भागी बना दिया। इससे मुझे आध्यात्मिक संतोष मिलता है।"

जब नानकोआप्रेशन के (असहयोग आन्दोलन) के अन्तिम दिनों में स्वराज्य पार्टी बनी और काँग्रेस दो दलों में विभाजित हो गई, तो २७ फरवरी सन् १९२३ को सम्पादक ज़माना के नाम एक पत्र में प्रेमचन्दजी ने लिखाः—

"आपने मुझ से पूछा था कि मैं किस पार्टी के साथ हूँ, मैं क़िसी पार्टी में नहीं हूँ। इसलिये कि इस वक्त दोनों में कोई पार्टी असली काम नहीं कर रही है। मैं उस आने वाली पार्टी का मेम्बर हूँ, जो अवाम-अलनास (जन

साधारण) की सियासी तालीम को अपना दस्तूरुल-अमल (विधान) बनायेगी ।"

इन सब बातों से विदित है, वे चाहते थे कि जनता उभरे। जब देखते थे कि अपने ही देश का शिक्षित समुदाय और पूँजिवादी वर्ग उसे जाहिल बनाकर लूट रहा है, तो वे उसके मुकाबिला में जनता की हिमायत करते थे, और हर तरह की लूट-खसोट खत्म करना चाहते थे। पूँजीपति वर्ग का स्वार्थ देखकर उन्हें विश्वास होता जा रहा था कि आज़ादी की लड़ाई भी जनता ही लड़ेगी। इस लड़ाई में धनी वर्ग कभी जनता का साथ नहीं दे सकता। वह उनसे धोखा करेगा। 'रंगभूमि' में कुंवर भरतसिंह जब सम्पत्ति के मोह में आंदोलन से गद्दारी कर गया तो प्रेमचन्द ने डाक्टर गांगुली के मुख से कह लाया है :—

"अब आपको विदित हुआ होगा कि हम क्यों सम्पत्ति शाली पुरुषों पर भरोसा नहीं करता। वह तो अपनी सम्पत्ति का गुलाम है। वह कभी सत्य के समर में नहीं आसकता। जो सिपाही सोने की ईंट गर्दन में बाँधकर लड़ने चले, वह कभी नहीं लड़ सकता। उसको तो अपनी ईंट की चिंता लगी रहेगी।"

स्वतंत्रता, संग्राम का यह नया दृष्टि कोण था, जो "सोजे-वतन" की देश-भक्ति से सर्वथा भिन्न था। इस विचार धारा का श्रोत जनता की लूट-खसोट और विवशता थी और उन्हीं को अपनी कठिन 'समस्यायों का हल करने के लिये यह लड़ाई लड़नी थी। और स्वराज्य का अर्थ था लूट-खसोट और जुल्म का अन्त करना "समरयात्रा" की कहानियों को देखा जाय तो आज़ादी की यह विचारधारा बहुत ही स्पष्ट रूप में उभर कर सामने आती है।

"समर यात्रा" कहानी ही को लीजिये। दल का नायक देहातियों को समझा रहा है। वह उनकी भावनाओं से नहीं खेलता, धर्म के नाम पर अपील नहीं करता बल्कि उनकी सामाजिक व्यवस्था को भावना का आधार बनाकर कहता है :—

"आपको भोग विलास से मतलब नहीं अपना काम करना और अपनी दशा पर संतोष रखना, यह आपका आदर्श है। लेकिन आपका यही देवत्व, आपका यही सीधापन आपके लिये घातक हो रहा है। ...... खेतों का लगान बरसाती नाले की तरह बढ़ता जाता है, आप चूँ तक नहीं करते। अमले और अहलकार आपको नोचते रहते हैं, आप ज़बान नहीं हिलाते। इसका यह नतीजा हो रहा है कि आपको लोग दोनों हाथों से लूट रहे हैं, पर आपको

खबर नहीं। आपके हाथों से सभी रोज़गार छिनते जारहे हैं, आपका सर्वनाश हो रहा है; पर आप आँखे खोल कर नहीं देखते। ······

एक दूसरी कहानी "जेल" है। इस कहानी में मृदुला और क्षमा देवी दो औरतें हैं। जो सविनय भंग आंदोलन में जेल जाती हैं। मृदुला पहले जेल में है और क्षमा देवी बाद में आकर उसे बाहर के हालात सुनाती है। उसने एक ठंडी साँस ली और सजल नेत्रों से बोली:—

"तुम्हें बाहर की खबरें क्या मिली होंगी। परसों शहर में गोलियां चलीं। देहातों में आज कल संगीनों की नोक से लगान वसूल किया जा रहा है। किसानों के पास रुपये हैं नहीं, दें तो कहां से दें! अनाज का भाव दिन-दिन गिरता जा रहा है। पौने दो रुपये में मन भर गेहूँ आता है। मेरी उम्र ही अभी क्या है। अम्मां जी भी कहती हैं कि अनाज इतना सस्ता कभी न था। खेत की उपज से बीजों तक के दाम नहीं आते। मेहनत और सिंचाई इसके ऊपर। ग़रीब किसान लगान कहां से दें। उस पर सरकार का हुक्म है कि लगान कड़ाई के साथ वसूल किया जाय। किसान इस पर भी राज़ी है कि हमारा जमा-जत्था नीलाम कर लो, घर कुर्क कर लो, अपनी ज़मीन ले लो; मगर यहां तो अधिकारियों को अपनी कारगुजारी दिखाने की फिक्र पड़ी हुई है। वह चाहे प्रजा को चक्की में पीस ही क्यों न डालें सरकार उन्हें मना नहीं करेगी। सरकार को तो अपने कर से मतलब है। प्रजा जिये या मरे, इससे कोई प्रयोजन नहीं। अक्सर जमींदारों ने तो लगान वसूल करने से इनकार कर दिया है। अब पुलिस उनकी मदद पर भेजी गई है। भैरवगंज का सारा इलाक़ा पीसा जा रहा है।"

"कर्म भूमि" उपन्यास भी इसी स्वतंत्रता-संग्राम के बारे में लिखा गया था। इसमें भी किसानों की यही तस्वीर खींची गई है। लिखते हैं:—

"इस साल अनायास ही जिन्सों का भाव गिर गया। इतना गिर गया, जितना चालीस साल पहले था। जब भाव तेज़ था, किसान अपनी उपज बेच-बाचकर लगान दे देता था। लेकिन जब दो और तीन की जिन्स एक में बिके तो किसान क्या करे। कहां से लगान दे, कहां से दस्तूरियां दे और कहां से कर्ज़ चुकाये। विकट समस्या आ खड़ी हुई, और यह दशा कुछ इसी इलाके की न थी। सारे प्रान्त, सारे देश, यहां तक कि सारे संसार में यह मंदी थी। चार सेर का गुड़ कोई दस सेर में भी नहीं पूछता। आठ सेर का गेहूँ डेढ़ रुपये मन भी मँहगा है। ३०) मन की कपास १०) में जाती है, १६) मन का सन ४) में। किसानों ने एक-एक दाना बेच डाला, भूसे का एक-एक तिनका

भी न रखा; लेकिन यह सब कुछ करने पर भी चौथाई लगान से अधिक अदा न कर सके।...''

उस समय के आर्थिक संकट की कितनी सीधी, सच्ची तस्वीर है। जब अनाज कौड़ियों के भाव बिकता था तो किसान लगान कहां से देते? उधर विश्वव्यापी मंदी के कारण दुकानदार और मध्यमवर्ग की कमर टूट रही थी। बेकारी दिन-दिन बढ़ती जा रही थी, जिससे देश में बेचैनी फैलती जा रही थी। लावा उबलता है, तो भूँचाल आता है, जड़ता टूटती है। देश में भूख का लावा उबल रहा था और सत्ताधारी वर्ग का सिंहासन डोल रहा था।

इन्हीं परिस्थितियों में गांधी जी ने नमक सत्याग्रह शुरू किया था और डाडी को मार्च करते हुए घोषित किया था—''मैं लौटूंगा तो आज़ादी लेकर, वरना मेरी लाश समुन्दर मे तैरती नज़र आयेगी।''

लोगों ने इस बात को सच समझा और सारा देश हरकत में आ गया। नमक क़ानून तोड़ा जाने लगा, विलायती कपड़े जलाये जाने लगे, विदेशी कपड़े और शराब की दुकानों पर पिकेटिंग होने लगी और जेलें भरी जाने लगीं। प्रेमचंद भी जेल जाने को तैयार थे; लेकिन उनसे पहले शिवरानी देवी चली गई। अब अगर प्रेमचंद भी जायें, तो पीछे बच्चों को कौन संभाले, घर का क्या बने? इसलिये जेल जाने की हसरत मन में रह गई।

उनके दिल में स्वतंत्रता-संग्राम में सम्मिलित होने की जो उत्कट भावना थी—उसे उन्होंने समर-यात्रा की कहानियों मे कार्यान्वित किया। अगरचे यह स्वतन्त्रता संग्राम भी गांधी जी के नेतृत्व में और अहिंसा के सिद्धान्त पर चलते हुए लड़ा जा रहा था और प्रेमचंद उनके नेतृत्व को क़बूल करते थे; लेकिन आश्चर्य की बात है कि इन कहानियों से ऐसा लगता है कि उन्हें गाधीवाद पर विश्वास नहीं रह गया था। उनके मन में शंका ही नहीं, बल्कि उन्हें साफ दिखाई दे रहा था कि सिर्फ अहिसा से और महज़ जुलूस निकाल कर आज़ादी नहीं आयेगी। इस बात का प्रमाण 'क़ातिल' कहानी है। इसमें मां-बेटे का सम्वाद सुनिये। मा अहिंसा के मानने वाली और बेटा आतंकवादी है:—

'धर्मवीर:—मुझे आशा नहीं कि पिकेटिंग और जुलूसों से हमें आजादी प्राप्त हो सके। यह अपनी कमज़ोरी और मज़बूरी का खुला ऐलान है। झंडियाँ निकालकर और गीत गाकर देश आज़ाद नहीं हुआ करते मुझे तो यह सब कुछ बच्चों का-सा खेल मालूम होता है। लड़कों को रोने-धोने से मिठाइयाँ मिला करती हैं, वही इन लोगों को मिल जायेगा। असली आज़ादी जभी मिलेगी, जब हम उसका मूल्य चुकाने को तैयार होंगे।''

माँ :—"मूल्य क्या हम नहीं दे रहे हैं, हमारे लाखों आदमी जेल नहीं गये? हमने डंडे नहीं खाये? हमने अपनी जायदादें नहीं जब्त करायीं?

धर्मवीर :—इससे अंग्रेज का क्या नुकसान हुआ। वे हिन्दुस्तान उस वक्त छोड़ेंगे, जब उन्हें विश्वास हो जायेगा कि हम यहां अब एक क्षण भी ज़िंदा नहीं रह सकते। आज अगर हिंदुस्तान के एक हज़ार अंग्रेज कत्ल कर दिये जायें तो आज स्वराज्य मिलजाये। रूस इस तरह आज़ाद हुआ, आयरलैंड इस तरह आज़ाद हुआ और हिन्दुस्तान भी इसी तरह आज़ाद होगा..."

इस कहानी के कारण सन् १९३१ में "हंस" से ज़मानत मांगी गई थी।

प्रेमचंद इस बात को नहीं मानते थे कि लाठियां और गोलियाँ खाते जाओ, आखिर अंग्रेज का हृदय परिवर्तन होगा और वे राज हमें सौंप कर चले जायेंगे।

"जेल" कहानी में पहले दिन जलूस निकलता है, गोलियां चलती हैं, बहुत-से लोग मारे जाते हैं। जलूस दूसरे दिन फिर निकलते है। प्रेमचन्द उसका समर्थन करते हैं :—

"लोग कहते हैं, जलूस निकालने से क्या होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि हम जीवित हैं, अटल हैं और मैदान से हटे नहीं हैं। हमें अपने हार न मानने वाले आत्माभिमान का प्रमाण देना है। हमें यह दिखाना था कि हम गोलियों और अत्याचारों से भयभीत होकर अपने लक्ष्य से हटने वाले नहीं और हम उस अवस्था का अन्त करके रहेंगे, जिसका आधार स्वार्थपरता और खून पर है।

उधर पुलिस ने भी जलूस को रोक कर अपनी शक्ति और विजय का प्रमाण देना आवश्यक समझा। शायद जनता को धोखा हो गया हो कि कल की दुर्घटना ने नौकर शाही के नैतिक ज्ञान को जाग्रत कर दिया है। इस धोखे को दूर करना उसने अपना कर्त्तव्य समझा। वह यह दिखा देना चाहती थी कि हम तुम पर शासन करने आये हैं और शासन करेंगे।"

उन्हें कांग्रेसी लीडरों की नीति की तह में समझौता बाज़ी भी नज़र आने लगी थी और उन्हें संदेह होने लगा था कि इन लोगों के लाये जो स्वराज्य आयगा, उसमें भी लूट-खसोट इसी प्रकार जारी रहेगी। उनकी कहानी "आहुति" की नायिका रूपमणि कांग्रेस की इस बुर्ज़्वा राजनीति का विरोध करते हुए कहती है :—

"अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूँगी ऐसे स्वराज्य का न आना

ही अच्छा। अंग्रेजी महाजनों की धन लोलुपता और शिक्षितों का सब हित ही आज हमें पीसे डाल रहा है। जिन बुराइयों को दूर करने के लिये आज हम प्राणों को हथेली पर लिये हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिये सिर चढ़ायेगी कि वे विदेशी नहीं स्वदेशी हैं? कम-से-कम मेरे लिये तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं कि जॉन की जगह गोविन्द बैठ जायँ।"

यह भविष्यवाणी थी।

'समर यात्रा' की कहानियों से सिर्फ अंग्रेज़ सरकार पर ही नहीं, पूजीपति वर्ग और कांग्रेस की समझौता नीति पर भी गहरी चोट पड़ती थी। अंग्रेज़ सरकार ने समझ लिया था कि गाँधी जी के नमक सत्याग्रह से यह किताब ज्यादा खतरनाक है। इसलिये उसे जब्त कर लिया।

"कर्मभूमि" उपन्यास में भी आन्दोलन का भौतिक धरातल वही है, जो इन कहानियों में; लेकिन उस पर गाँधीवाद की छाप अधिक गहरी है। सारे आन्दोलन का नेतृत्व ऊँचे वर्ग के लोग करते हैं और अहिंसावादी ढंग से करते हैं। फिर आश्चर्य की बात यह है कि घृणित तथा चोरी का माल खाने वाले समरकान्त और धनीराम जैसे सेठों का हृदय परिवर्तन भी हो जाता है। शायद प्रेमचन्द ने अभी तक इस वर्ग से कुछ आशायें लगा रखी थीं। शायद उन्हें गाँधीवाद का समर्थन करना अभिप्रेत था, वरना इसी उपन्यास में लिखते हैं:—

"धन ही तो संसार में हर प्रकार की गुलामी को कायम रखे हुए है।"

: १६ :

फिल्म

"अपने मन को समझाने के लिये युक्तियों का अभाव नहीं होता। संसार में सबसे आसान काम अपने आपको धोखा देना है।"

—प्रेमचन्द

एक बार प्रेमचन्द और उनकी पत्नी शिवरानी ड्योढ़े दर्जे में सफर कर रहे थे। आजकल की तरह उन दिनों भी गाड़ियों में बड़ी भीड़ रहती थी। बहुत से किसान उनके डिब्बे में घुस आये। पूछने पर मालूम हुआ कि वे शीतलादेवी के दर्शन करने गये थे और एक-एक आदमी के कम-से-कम पन्द्रह-पन्द्रह रुपये खर्च हुए थे। किसान के लिये उन दिनों पन्द्रह रुपये बड़ी बात थी।

प्रेमचन्द समझाने लगे। इसका यह मतलब है कि तुम लोगों ने चार-चार महीने के खाने का अनाज बेच दिया। इससे अच्छा होता कि देवीजी की पूजा तुम लोग घर पर ही कर लेते। देवी देवता तभी खुश होते है जब तुम आराम से रहो।

शिवरानीदेवी चाहती थीं कि किसान किसी तरह तीसरे दरजे के डिब्बे में चले जायें क्योंकि वहाँ भीड़ अधिक हो गई थी। वह बोलीं—"फिर समझा लेना मेरा तो दम घुटा जा रहा है।"

प्रेमचन्द ने जवाब दिया—"उन्हीं के लिये जेल जाती हो, लड़ाई लड़ती हो, और उन्हीं को हटा रही हो। मुझे तो इन ग़रीबों पर रहम आ रहा है। बेचारे भूखों धर्म के पीछे मर रहे हैं।"

शिवरानी:—"तो गाड़ी में बैठे नहीं सीख जायेंगे।"

प्रेमचन्द:—"आखिर तब कब समझाया जाय?"

शिवरानी:—"आप इन्हीं के लिये तो पोथा का पोथा लिख रहे हैं।"

प्रेमचन्द:—"यह किताबें लेकर थोड़े ही पढ़ते हैं, हाँ मेरे नाविलों के फिल्म तैयार करके गाँव-गाँव में मुफ्त दिखाये जाते, तो लोग देखते।"

(प्रेमचन्द घर में)

यह सन् १९२९ की घटना थी। उसके उपरान्त सन् १९३४ में बम्बई की अजन्ता सिनेटोन फिल्म कम्पनी ने उन्हें बुलाया। प्रेमचन्द ने सोचा, अच्छा अवसर मिला है। बम्बई जाने के लिये तैयार हो गये। इससे माकूल आमदनी की आशा थी। "हंस" और "जागरण" दो पत्र निकल रहे थे। खर्च सामर्थ्य से बढ़ा हुआ था। उन्हें चलाना मुश्किल हो रहा था। शिवरानीदेवी से सलाह की तो उन्होंने मना कर दिया।

आप बोले:—"तुम्हीं सोचो, बिना जाये काम भी तो नहीं चल सकता। यहाँ जो कुछ आमदनी होती है; अपने पर खर्च हो जाती है। यह "हंस" और 'जागरण' कैसे चलें ?"

शिवरानी:—"तो फिर इनके लिये भी मैं बम्बई जाना ठीक नहीं समझती।"

वह बोले:—"अब जो इन हाथियों को गले से बांधा है, तो क्या उनको चारा नहीं दोगी ? आखिर उनको भी तो जिंदा रखना है।"

शिवरानी:—"आप जो काम करते हैं, जान की आफत मोल ले लेते हैं।"

वह बोले:—"अरे साहब ! इन बातों का रोना तो पचासों बार हो चुका है। अब जब इनको बांध लिया है तो इनको चलाना भी होगा, और एक बात बताता हूँ, जो वहां जाने का खास लाभ होगा वह यह कि उपन्यास और कहानियाँ लिखने में जो लाभ नहीं हो रहा, इससे कहीं ज्यादा फिल्म दिखा कर हो सकता है। कहानियाँ और उपन्यास जो लोग पढ़ेंगे, वे तो उनसे लाभ उठा सकेंगे, फिल्म से हर जगह के लोग लाभ उठा सकते हैं।"

शिवरानी:—"लोग लाभ उठा सकते हैं, मुझे क्या लाभ होगा ?"

प्रेमचन्द—"यह तो तुम्हारी गलती है, लोगों के फायदे के लिये मैं थोड़े ही लिखता हूँ ? अपनी आत्मा के संतोष के लिये जो कुछ लिखता हूँ, उसे जितने ही लोग तादाद में ज्यादासमझ सकें, देख सकें तथा पढ़ सकें, उतना ही मुझे अधिक संतोष मिलेगा। उसके बाद दूसरा फायदा यह होगा कि "हँस" "जागरण" के चलाने के लिये मैं अधिक रुपया दे सकूँगा। नौ हजार रुपये साल वे देने का वादा करते हैं, और उसके साथ यह भी है कि बम्बई में एक साल रहने के बाद वे मुझे दस हजार घर बैठे देंगे……।"

(प्रेमचन्द घर में)

इस आशा में वह बम्बई चले गये और दादर में एक मकान किराया पर लेकर रहने लगे। वहाँ से १० जुलाई सन् १९३४ को सम्पादक जमाना के नाम एक पत्र लिखा:—

"मैं एकम जुलाई को बम्बई चला आया, इस कम्पनी से एक मुआहिदा (करारनामा) कर लिया है। साल भर में छः किस्से उसे देने होंगे। रिसालों से मुतवातर (लगातार) नुकसान हो रहा था। बुकसेलरों से रुपये वसूल न होते थे। काग़ज वगैरह का बार (बोझ) बढ़ता जाता था। मजबूर होकर मैंने यह मुहाहिदा कर लिया। छै किस्से लिखना मुश्किल नहीं। हाँ, डायरेक्टरों के मशिवरा से लिखना ज़रूरी है। क्या चीज़ फ़िल्म के लिये मोजूँ (उचित) होगी, इसका बेहतरीन फ़ैसला वही कर सकते हैं……।"

प्रेमचन्द को इस वक्त कागज के लिये लग भग दो हजार रुपये के करीब जमा करने थे। बम्बई जाने से पहले जैनेन्द्र कुमार के नाम एक खत में इन्हीं आर्थिक कठिनाईयों का उल्लेख किया था। लिखते हैं:—

"बम्बई की एक फिल्म मुझे बुला रही है। वेतन की बात नहीं, कंट्राक्ट की बात है। ८,००० सालाना। मैं उस अवस्था को पहुँच गया हूँ, जब मुझे इसके सिवा कोई उपाय नहीं रह गया है, या तो वहां चला जाऊँ या अपने उपन्यास को बाजार में बेचूँ।……कम्पनी वाले हाजरी की कोई कैद नहीं रखते। मैं जो चाहूँ लिखूँ जहाँ चाहे चला जाऊँ। वहां साल भर रहने के बाद ऐसा कंट्राक्ट कर लूँगा, यहीं (बनारस में) बैठे-बैठे मैं चार कहानियां लिख दिया करूँगा। और चार पाँच हजार रुपये मिल जाया करेंगे, जिनसे जागरण व 'हंस' दोनों मजे में 'चलेंगे' और पैसों का संकट कट जायगा।"

इन दिनों बेकारी और मन्दी खूब फैल रही थी, जिसके कारण मजदूरों और मिल मालिकों में टक्कर हो रही थी। प्रेमचन्द समय की इस जटिल समस्या से उदासीन कैसे रह सकते थे और मजदूरों तक अपना संदेश पहुँचाने के लिये फिल्म एक अच्छा साधन था। इसलिये उन्होंने अपनी पहली कहानी "मिल मजदूर" लिखी।

लिखने के बाद यह कहानी फिलम के रूप में कैसे तैयार हुई, इस विषय में एक साहब ललितकुमार ने लिखा है जो प्रेमचन्द की सहायता से कम्पनी के ऐक्टरों में भरती हुए थे, और प्रेमचन्द से लग-भग प्रतिदिन का मिलना होता था। उन्होने एक लेख "मिल मजदूर फिलम कैसे बनी" में लिखा है:—

"उस वक्त वह अपनी कहानी "मिल मजदूर" समाप्त करने में व्यस्त थे।

कहानी समाप्त करते ही उन्हें उसका उर्दू अनुवाद भी करना पड़ा, क्योंकि कम्पनी के मैनेजिंग डायरेक्टर, फिल्म डायरेक्टर मिस्टर भूटानी और उनके साथी मिस्टर खलील आफताब हिंदी न जानते थे। फिर सेनेरियो की सुविधा और भूटानी साहब की सम्मति के अनुसार कहानी में कई परिवर्तन करने पड़े। कुछ नई बातें जोड़ीं। और कुछ हटायी गईं। जो शक्ल पहले निश्चित की गई थी, उसके तमाम भाग अलग कर दिये गये और कहानी को नया रूप दे दिया गया। इससे प्लाट में सिर्फ़ तबदीली ही नहीं हुई, बल्कि कई स्थानों पर वास्तविक अर्थ और भाषा का माधुर्य भी जाता रहा। इसके बाद शूटिंग शुरू हुई। तस्वीर तैयार की जाने लगी और कई स्थानों पर तबदीलियाँ हुईं। खैर, दिन रात मेहनत कर के तीन महीने में फिल्म तैयार हुई।......इस फिल्म से कम्पनी को बड़ी-बड़ी आशायें थीं, क्योंकि इसमें एक ऐसी सामयिक समस्या पर प्रकाश डाला गया था, जिसमें धनियों अर्थात् मिल मालिकों और मजदूरों का संघर्ष दिखाया गया था। प्रेमचन्द की इस जोशीली तस्वीर में इस समस्या पर बहुत ही सुन्दर रीति से प्रकाश डाला है। मालिकों के स्वार्थपूर्ण व्यवहार, अत्याचार, दमन और मन माना बरताव, मजदूरों की दुर्दशा, उनकी बहू बेटियों की दीन दशा और उसका कुपरिणाम आदि सब बातें बड़ी स्पष्टता और योग्यता से दिखाई गई हैं......।"

इस फिल्म में एक पंचायत भी है, जिसके प्रधान प्रेमचन्द खुद हैं। इस पंचायत का काम मिल-मालिकों और मज़दूरों में समझौता कराना है, अर्थात् इस फिल्म में गाँधीवाद की समझौता नीति मौजूद है। जिसका आशय वर्ग संघर्ष को वर्ग-समन्वय में ढालना है, जो मिल-मालिकों और मिल-मजदूरों को मिल-जुलकर—पिता-पुत्र के समान रहने का उपदेश करती है।

लेकिन गाँधीवाद की यह हड़ताल-तोड़ नीति अपनाने के बावजूद प्रेमचन्द की यह विशेषता है कि वे भौतिक परिस्थितियों को दृष्टि से ओझल नहीं करते। वे मजदूरों, किसानों और ये श्रमजीवि-वर्ग के संघर्ष की जड़ें, सदा उनकी आर्थिक समस्याओं में ढूँढ़ते है। और बिलकुल ठीक ढंग से उभरते हुए दिखाते हैं।

उनकी एक कहानी "**डामल का कैदी**" है, जिसमें गाँधीवाद के अनुसार मिल-मालिक का सिर्फ हृदय परिवर्तन ही नहीं होता, बल्कि आवागमन की भूल-भुलैयाँ भी मौजूद हैं जिससे असल सवाल काफी उलझन में पड़ जाता है फिर भी वर्ग संघर्ष काफी तीव्रता से उभर कर सामने आता है। प्रेमचन्द ने

एक ओर सेठ की लोलुपता और पाखंड का चित्रण किया है और दूसरी ओर मज़दूरों को छाँटी, मजदूरी में कमी और उसके परिणाम स्वरूप हड़ताल और संघर्ष भली प्रकार दर्शाया है।

कहानी के कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं—

"सेठ जी के जीवन का मुख्य काम धन कमाना था, और उसके साधनों की रक्षा करना उनका मुख्य कर्त्तव्य। उनके सारे व्यवहार इसी सिद्धान्त के अधीन थे।"

"अन्य धनियों की भांति सेठजी ने भी एक मंदिर बनवाया था। सेठजी की पूजा के लिये एक पुजारी नौकर रख लिया था और नित्य प्रति दर्शन किया करते थे रात को संसार के धन्धों से निपट कर।"

"सेठ खूबचन्द का स्वदेशी मिल देश के बहुत बड़े मिलों में है। जब से स्वदेशी आन्दोलन चला है, मिल के माल की खपत दूनी हो गई है। सेठजी ने कपड़े की दर में दो आने रुपया बढ़ा दिये हैं। फिर भी बिक्री में कोई कमी नहीं है; लेकिन इधर अनाज कुछ सस्ता हो गया है, इसलिये सेठजी ने मजदूरी घटाने की सूचना दे दी है। कई दिन से मजदूरों के प्रतिनिधियों और सेठजी में बहस होती रही! सेठजी जौ-भर भी न दबना चाहते थे। जब उन्हें आधी मजूरी पर नये आदमी मिल सकते हैं, तब वह क्यों पुराने आदमियों को रखें। वास्तव में यह चाल पुराने आदमियों को भगाने ही के लिये चली गई थी।"

फिर जब हड़ताल होती है, तो सेठ जी और सरकार का गठबंधन देखिये:—

"प्रातःकाल का समय है मिल के हाते में मज़दूरों की भीड़ लगी हुई है। कुछ लोग चहार दीवारी पर बैठे हैं, कुछ ज़मीन पर; कुछ इधर-उधर मटर गश्ती कर रहे हैं। मिल के द्वार पर कॉंस्टेबलों का पहरा है। मिल में पूरी हड़ताल है।"

मज़दूरों का प्रतिनिधि लाख मिन्नत-आरज़ू करता है पर सेठ जी एक नहीं सुनते। वह हार कर अपने मजदूर साथियों से कहता है:—

"वह मजूरी घटाने पर तुले हुए हैं, चाहे कोई काम करे, या न करे। इस मिल को इस साल दस लाख का फायदा हुआ है। धन वालों का पेट कभी नहीं भरता। व्यापार मंडल उनकी ओर है। सरकार उनकी ओर है, मिल के हिस्सेदार उनकी ओर हैं। हमारा कौन है?...साथियो! प्रण कर लो कि किसी बाहरी आदमी को मिल में नहीं घुसने देंगे, चाहे वे अपने साथ फौज

लेकर ही क्यों न आये। कुछ परवाह नहीं, हमारे ऊपर लाठियाँ बरसें, गोलियां चलें...''

लड़ाई भी होती है खून भी बहता है और कहानी इस प्रकार आगे चलती है। फिल्म की कहानी भी इसी प्रकार आगे चली होगी। कतर-ब्योंत के बावजूद कम्पनी को उम्मीद थी कि फिल्म खूब चलेगी। लेकिन सेंसर की कैंची ने उम्मीदों पर पानी फेर दिया। इस निर्दयता से काँट-छाँट की कि फिल्म की धज्जियाँ उड़ा दीं। कितने ही प्रभावशाली सीन काट दिये गये और कई छोटे कर दिये। फिल्म का उद्देश्य नष्ट और चेहरा विकृत हो गया।

कम्पनी को फिर से मेहनत करके कितनी ही तस्वीरें दोबारा लेनी पड़ीं। फिर भी सेंसर की तसल्ली न हुई। बम्बई सरकार ने फिल्म का प्रदर्शन बंद कर दिया। अलबत्ता पंजाब में, चूंकि वहाँ कारखाने और मज़दूर नहीं थे, यह फिल्म कुछ दिनों दिखाई गयी; मगर बम्बई सरकार का अनुकरण करते हुए पंजाब सरकार ने भी इसे जल्द बंद कर दिया। फिर मिस्टर भूटानी ने डेढ़ साल की कोशिशों के बाद "उसे ग़रीब मज़दूर" के नाम से दिखाने की आज्ञा प्राप्त की, क्योंकि ग़रीब मज़दूर को तो सरमायेदार देख सकता हैं, उस पर दया कर सकता हैं; लेकिन लड़ाका मज़दूर देखना उसे गवारा नहीं। भय लगता है।

इस बात ने प्रेमचंद को निराश कर दिया। वे जो अरमान लेकर बम्बई आय थे, पूरा नहीं हुआ। उन्होंने एक और फिल्म "नवजीवन" या "शेर दिल" औरत लिखी; उसकी भी उनकी इच्छा के अनुसार फिल्म नही बनी। डायरेक्टरों के व्यवहार ने उन्हें फिल्म से बिलकुल निराश कर दिया। उन्होने एक दिन शिवरानी देवी से कहा:—"यहां जो कुछ है, सिनेमा के मालिक लोगों के हाथों में है। लेखक को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता वह तो हमेशा कमाना जानते है।"

और साल भर भी बम्बई आये नहीं हुआ था कि जैनेंद्र कुमार के नाम ३० अप्रैल सन् १९३५ को एक खत लिखा:—

"मैं जिन इरादों से आया था, उनमें एक भी पूरा होता नज़र नहीं आता। यह प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियां बनाते आये हैं, उस लीक से जौ भर नहीं हट सकते। अश्लील मज़ाक को यह लोग तमाशे की जान समझते हैं। अद्भुतता ही में उनका विश्वास है राजा-रानी, उनके मंत्रियों के षड्यंत्र, नक़ली लड़ाई आदि ही उनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियां लिखी हैं, जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे। लेकिन उनकी फिल्म बनाने में इन लोगों को संदेह होता है कि चलें या न चलें। यह साल तो पूरा करना

है ही। कर्जदार हो गया हूँ। कर्ज़ पटा दूँगा, मगर और कोई लाभ नहीं उपन्यास (गोदान) के अंतिम पृष्ठ लिखने बाक़ी हैं। इधर मन ही नहीं जाता। अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूँ। वहां धन नहीं है, मगर संतोष अवश्य है। यहां तो जान पड़ता है, जीवन नष्ट कर रहा हूँ।"

ज़या उलदीन बरनी के नाम एक ख़त में लिखा है:—

"बम्बई में मुझे हम-मज़ाक आदमी नहीं मिलता। इसलिये आप से मिलने का मुझे कितना शौक़ है, वह आप समझ सकते हैं।"

बम्बई आने से पहले महालक्ष्मी सिनेटोन को "सेवा सदन" फिल्म बनाने की अनुमति दे दी थी। इस बीच में वह भी फिल्म बनकर सामने आयी, तो बड़े दुःखी हुए। ललित कुमार लिखते हैं:—

"यह फिल्म पहले-पहल बम्बई के इम्पीरियल सिनेमा हाऊस में चलाई गयी। उसमें मैं मौजूद था। बड़ी निराशा हुई। प्रेमचंद से मुलाक़ात होने पर मैंने इसका कारण पूछा।—"भाई, मुझ से किताब का कापीराईट मांगा गया, मैंने उसे दे दिया। अब यदि फिलम बनाने वाले उसे अच्छी तरह न बना सकें तो मेरा क्या दोष ?"

बम्बई में उनकी सेहत भी अच्छी न रहती थी और अजंता सिनेटोन की आर्थिक-स्थिति बिगड़ गई थी इसलिए उन्होंने साल भर पूरा होने से पहले ही बम्बई छोड़ने का निश्चय कर लिया।

बम्बई टाकीज के डायरेक्टर दिनेशराय ने चाहा कि वह उनकी कम्पनी के लिए कहानियाँ लिखें। लेकिन प्रेमचन्द ने बम्बई के जल-वायु को अपने स्वास्थ्य के अनुकूल न बताते हुए कहा कि बस अब मैं बनारस ही जाकर रहना चाहता हूँ। जब उनसे कहा गया कि बनारस ही से कहानियाँ भेज दिया करें, तो उन्होंने अपनी विवशता प्रकट की और अपनी जगह दूसरे आदमी की सिफारिश कर दी।

वे फिल्म लाइन से निराश हो चुके थे। अब अपने आपको धोखा देने की गुन्जाइश नहीं थी।

: १७ :

सभापति

"हमारी परिषद्, साहित्य को उद्योग और कर्म का संदेश-वाहक बनाने की दावेदार है।"

—प्रेमचन्द

ये शब्द प्रेमचन्द ने प्रगतिशील-लेखक-संघ के बारे में कहे थे, जिसका पहिला अधिवेशन सन् १९३६ में लखनऊ में हुआ था, और जिसके वे सभापति चुने गए थे। उन्होंने सभापति-पद से अपना भाषण जिस आनन्द और उल्लास से शुरू किया है, इससे विदित है कि इस अधिवेशन पर उन्हें कितना गर्व था और संघ से उन्होंने क्या-क्या आशायें लगा रखी थीं। लिखते हैं—

"सज्जनो! यह सम्मेलन हमारे साहित्य के इतिहास में एक स्मरणीय घटना है। हमारे सम्मेलनों और अंजुमनों में अब तक आमतौर पर भाषा और उसके प्रचार पर ही बहस की जाती रही है। यहाँ तक कि उर्दू और हिन्दी का जो आरम्भिक साहित्य मौजूद है, उसका उद्देश्य, विचारों और भावों पर असर डालना नहीं, किन्तु केवल भाषा का निर्माण करना है। वह भी एक बड़े महत्त्व का कार्य था। जब तक भाषा एक स्थायी रूप न धारण करले, उसमें विचारों और भावों को व्यक्त करने की शक्ति ही कहाँ से आयेगी? हमारी भाषा के "पायनियरों" ने—रास्ता साफ करने वालों ने, हिन्दुस्तानी-भाषा का निर्माण करके जाति पर जो एहसान किया है, उसके लिये हम उनके कृतज्ञ न हों, तो यह हमारी कृतघ्नता होगी।

भाषा साधन है, साध्य नहीं। अब हमारी भाषा ने वह रूप प्राप्त कर लिया है, कि हम भाषा से आगे बढ़कर भाव की ओर ध्यान दें और इस पर विचार करें कि जिस उद्देश्य से यह निर्माण कार्य आरम्भ किया था, वह

क्योंकर पूरा हो। वही भाषा, रचना ही सबसे बड़ी साहित्य-सेवा थी, अब इस योग्य हो गयी है कि उसमें शास्त्र और विज्ञान के प्रश्नों की भी विवेचना की जा सके, और यह सम्मेलन इस सचाई की स्पष्ट स्वीकृति है।"

सम्भवतः सन् १९२४ की बात है प्रेमचन्द और दयानारायण निगम हिन्दूस्तानी एकेडेमी खुलवाने के फिक्र में थे। आखिर हिन्दुस्तानी एकेडेमी खुली, तो प्रेमचन्द उसके सक्रिय सदस्य थे। उसकी मीटिंगों से लौटने के बाद शिवरानी देवी उनसे अक्सर एकेडेमी के बारे में पूछा करतीं। एक दिन प्रेमचंद ने कहा –

"जिस प्रकार की हम अंजुमन क़ायम करना चाहते थे वह तो नहीं हुई।"

शिवरानी—"तब इन लोगों ने यह क्या खोला है?"

प्रेमचन्द—"कुछँ-न-कुछ तो जरूर होगा।"

शिवरानी—"तो आप लोग सन्तुष्ट नहीं हैं"

प्रेमचन्द—"काम करने का यह कोई तरीका नहीं हैं। हम तो चाहते थे, कि हिन्दुस्तान की हर ज़बान का एक-एक लेखक हो, इस कमेटी में। जिस किसी विषय पर कोई पुस्तक निकलती, उसे पहिले लेखकों की यह कमेटी देख लेती। इस प्रकार कोई भद्दी पुस्तक न निकल सकती। इससे इन लेखों के गुणों के विकास को हानि न पहुँचती। अपने यहाँ साहित्य की उन्नति भी होती, और साथ-साथ इन लेखकों का विकास भी होता; जिस चीज की कमी होती, उसे बढ़ाया जाता। लेखकों को इधर-उधर भटकने की जरूरत न रहती। नये-लेखकों के गुण-दोष कोई बताता नहीं, बस "नहीं ठीक है" कहकर लौटा दिया जाता है। यह न्याय थोड़ा है। नये लेखकों के प्रति, विद्वानों का कर्त्तव्य यह है कि वे उनके गुण-दोष समझा दें। इस ढंग से एकेडेमी अपना काम करती। रहा मुआवजे का सवाल, रायल्टी पर भी ले सकती थी, यक-मुश्त देकर भी ले सकती थी।

शिवरानी—"लेखकों की रचनायें कहीं पड़ी थोड़े ही रहती हैं?"

प्रेमचन्द—ऐसे पब्लिशरों की जरूरत नहीं है, जो अपना ही पेट भरें, लेखकों को भी कुछ मिलना चाहिये। एकेडेमी और लेखकों का तो कुटुम्ब का-सा सम्बन्ध होना चाहिये। जब तक दोनों में ऐसा सम्बन्ध नहीं होगा, कुछ भी नहीं होने का इस तरह लेखक को जब कुछ भी लाभ नहीं होता, तो वह निराश होकर बैठ जाता है, और साहित्य की प्रगति रुक जाती है।

शिवरानी—"साहित्य की प्रगति और कैसे हो ?"

प्रेमचन्द—"अभी 'प्रगति' का तो नाम तक नहीं; बल्कि कहना तो यह चाहिये कि काम से अधिक आपस में "तू-तू मैं-मैं" है। "तू-तू मैं-मैं" में कहीं काम होता है ?"

शिवरानी—"तब काम कैसे होगा ?"

प्रेमचन्द—"जब तक यहाँ का साहित्य तरक्की नहीं करेगा, तब तक समाज और राजनीति, सब-के-सब ज्यों-के-त्यों पड़े रहेंगे।"

शिवरानी—"तब क्या आप इन तीनों की एक माला-सी पिरोना चाहते हैं ?"

प्रेमचन्द—"और क्या यह चीजें माला जैसी ही है। जिस भाषा का साहित्य अच्छा होगा, उसका समाज भी अच्छा होगा। समाज के अच्छा होने पर मजबूरन राजनीति भी अच्छी होगी। ये तीनों साथ-साथ चलने वाली चीजें हैं।"

शिवरानी—"तो क्या जरूरी है कि तीनोंको साथ लेकर ही चला जाये ?"

प्रेमचन्द—इन तीनों का जब उद्देश्य ही एक है, तो साहित्य, समाज और राजनीति का सम्बंध अटूट है। समाज आदमियों के गिरोह ही को तो कहते हैं। समाज में जो हानि-लाभ और सुख-दुख होता है वह व्यक्तियों ही पर होता है ना। राजनीति में जो सुख-दुख होता है, वह भी व्यक्तियों पर पड़ता है। साहित्य से लोगों का विकास होता है, साहित्य से मनुष्य के विचार अच्छे या बुरे बनते हैं; इन्हीं विचारों को लेकर मनुष्य जीता है। इन तीनों चीजों की पैदावार का कारण मनुष्य है।

शिवरानी—"आप शायद जड़ तक पहुँचने की कोशिश करते हैं ?"

प्रेमचन्द—"जड़ ही की रक्षा में सब सम्भव है। बिना जड़ की सुरक्षा के कुछ नहीं होता।"

शिवरानी—"इन लोगों के दिमाग़ में यह बातें क्यों नहीं आतीं ?"

प्रेमचन्द—"बड़े आदमियों के दिमाग़ में क्यों आयें ? ग़रीबों की समस्याओं की ओर उनका ध्यान कब जाता है ? जब तक उन पर नहीं बीतेगी, तब तक कैसे समझ सकेंगे। इन सभों को सुधारने के लिये साहित्य ही एक साधन है। जब तक कोई उसे अपने हाथ में नहीं लेगा, तब तक नहीं सुधार सकता।"

(प्रेमचन्द घर में)

उन्होंने हिन्दी के कुछ लेखकों को साथ लेकर एक "लेखक-संघ" भी

खोला था। हिंदी परिषद् को इस उम्मीद में "हँस" दे दिया था कि वह लेखकों की उन्नति और विकास के लिये उपयोगी सिद्ध होगी। लेकिन उस पर तो सम्पूर्ण सेठों का कब्ज़ा था। इस लिये क्या होता ?

प्रेमचन्द ने सदैव सुन्दर और महान् सपने देख थे, और इन्हीं सपनों को यथार्थ रूप देने के लिये वह संघर्ष करते रहे थे। पहले वह सपने अपने व्यक्तिव की सीमा में सीमित थे। वह उच्च शिक्षा प्राप्त करके इस समाज में, उच्च और सम्मानित पद प्राप्त करना चाहते थे। धीरे-धीरे उन्होंने महसूस किया कि एक व्यक्ति की उन्नति से क्या बनता है। अगर सारा समाज सुखी हो, तभी वास्तव में एक व्यक्ति भी सुखी रह सकता है; वरना यह सुख बेकार है। यों उनका व्यक्तिवाद सारे समाज का प्रतिनिधि बन गया; और वह बेहतर समाज, बेहतर जिन्दगी और मनुष्य के उज्वल भविष्य के सपने देखने लगे।

युद्ध जहाँ विनाश, ध्वंस और आर्थिक-संकट का कारण बनता है, वहाँ उसका अनिवार्य परिणाम यह भी होता है कि वर्ग-संघर्ष उभर कर सामने आ जाता है। पुरानी मान्यतायें टूटती है, और मानव-चेतना तेज़ी से सोचने लगती है। अब प्रेमचन्द का व्यक्तित्व, समाज का प्रतिनिधित्व करता था। इसलिए पहले विश्व-युद्ध की हमारे समाज में जो समस्यायें उठ खड़ी हुईं, उसमें जो मानसिक और वर्ग-द्वन्द बढ़ा, वह "प्रेमाश्रम" में पाया जाता है।

आरम्भ में लखनपुर, हिन्दुस्तान के ग्राम-देहातों की तरह गंदा, उजड़ा हुआ सा गाँव है, जिसे विदेशी सरकार के अफसर, प्या.दे, जमींदार और उसके गुमाश्ते सब मिल कर लूटते हैं। लेकिन उपन्यास के अंत में माया शंकर अपनी जमींदारी के अधिकार त्याग देता है, और जमींदारी का अन्त होते ही लखनपुर की काया-पलट हो जाती है। लूट-खसोट से मुक्ति पाकर किसान का धन उसके जीवन को सम्पन्न और समृद्ध बनाता है। प्रेमचन्द के अपने शब्दों में नये लखनपुर का चित्र देखिए:—

"बाबू माया शंकर घोड़े पर सवार लखनपुर में दाखिल हुए। उन्हें यहाँ बड़ी रौनक और सफाई दिखाई दी। प्रायः सभी द्वारों पर सायवान थे, उनमें बड़े-बड़े तख्ते बिछे हुए थे। अधिकांश घरों पर सफेदी हो गयी थी। फूस के झोंपड़े गायब हो गये थे। अब सब घरों पर खपरैल थे। द्वारों पर बैलों के लिये पक्की चकतियाँ बनी हुई थीं और कई द्वारों पर घोड़े बंधे हुए नजर आते थे। पुरानी चौपाल में पाठशाला थी और उसके सामने पक्का कुआँ और एक धर्मशाला थी··· ।"

अब लोगों के पास बैल, घोड़े हैं। घरों में अनाज है। बलराज तो खिला

बोर्ड का मेम्बर बन गया है। जहाँ पहले कोई अखबार का नाम भी नहीं जानता था, वहाँ अब अच्छा-खासा पुस्तकालय है और लोगों का आचार भी सुधर गया है।

लेखक अपनी रचनाओं में कल्पित सुन्दर संसार का निर्माण इसलिये करता है कि जब पाठकों के मस्तिष्क पर यह चित्र-अंकित होगा, तो वे सुन्दर संसार और सुन्दर जीवन के स्वप्न देखेंगे। इन स्वप्नों को सार्थक बनाने के लिये संघर्ष करेंगे। अर्थात् साहित्य विपन्न-जीवन से सम्पन्न-जीवन की ओर बढ़ने का मार्ग तैयार करता है।

प्रेमचन्द ने ठीक ऐसा ही किया था और जब उन्होंने देखा कि लोग सुन्दर संसार के लिये वाकई संघर्ष कर रहे हैं, तो वह भी नौकरी से इस्तीफा देकर इस संघर्ष में शामिल हो गये।

गांधीजी का नेतृत्व उन्होंने इसलिए स्वीकार किया था कि उन्होंने समझा था कि इससे गुलामी के बंधन टूटेंगे, जमींदारी का अंत होगा और देश में खुशहाली आयेगी।

वह समझौते की नीति को कभी पसंद नहीं करते थे इसलिये उदार दल (लिबरल पार्टी) का हमेशा विरोध करते थे और गांधी जी से पहले तिलक के पक्षपाती थे। मुँशी दयानारायण निगम लिखते हैं :—

"प्रेमचंद का झुकाव गर्म-दल की ओर था। अहमदाबाद कांग्रेस देखने हम लोग साथ-साथ गये, और एक ही जगह ठहरे। लेकिन वह लोकमान्य तिलक के मानने वाले थे। मैं गोखले और सर फिरोज़शाह का पक्ष लेता था। हर वक्त बहस रहती थी। मगर दोनों अपनी जगह स्थिर रहे।"

वह मार्ले और मांटेगू चैम्स फोर्ड योजना से संतुष्ट नहीं थे और कहते थे कि इस प्रकार के ऊपरी सुधारों से कुछ नहीं बनेगा। वैधानिक सुधारों के बारे में उनका दृष्टिकोण २१ दिसम्बर सन् १९१९-२० के खत से स्पष्ट हो जाता है। लिखते हैं :

"मैं, रिफार्म-स्कीम या ऐक्ट के मुताल्लुक़ मिस्टर चिंतामणि वगैरह से मुतफिक़ नहीं हूँ। मेरे ख्याल में मुअतदिल-पार्टी इस वक्त ज़रूरत से ज्यादा मग़रूर और नाज़ाँ है, हालांकि इस्लाहों (सुधारों) में अगर कोई खूबी है तो बस यह कि तालीम-याफ्ता जमाअत (शिक्षितवर्ग) को कुछ असामियाँ ज्यादा मिल जायेंगी और जिस तरह यह जमात वक़ील बनकर रिआया का खून पी रही है, उसी तरह यह आइंदा हाकिम बनकर रिआया का गला काटेगी। इसके सिवाय और कोई जदीद अख्तियार (नया-अधिकार) नहीं दिया गया

है। जो अख्तियारात दिये गये हैं, उनमें भी इतनी शर्तें लगा दी हैं कि उनका देना, न-देना बराबर है।...''

निगम साहब आगे लिखते हैं :—

"प्रेमचंद ना-बराबरी की लड़ाई में समझौते के खयाल से मुश्तबाह (शंकित) रहते थे। उनका ख्याल था कि कड़ी जद्दोजहद के बग़ैर कुछ हासिल न होगा। वह इसके लिये अवाम (जनता) को जल्द-से-जल्द तैयार करने की तरफ थे। उनका ख्याल था कि हकूमत से सख्त टक्कर लिये बग़ैर काम न चलेगा और वह इस के लिये नुक़सानात बर्दाश्त करने के लिये भी तैयार थे। अंग्रेज़ हुक्काम (अफसरों) से उन्हें आम तौर से बदज़नी (घृणा) थी। बिलाखिर वह सरकारी मुलाज़िमत तरक करके बाज़ाब्ता नान कॉप्रेटर (असहयोगी) हो गये। एक खत का, जिस में गांधी जी तहरीके-नमक (नमक-सत्याग्रह) को क़बल-अज़-वक्त (समय से पहले) कहा गया था, वह निहायत गर्म-जोशी से जवाब देते हैं :—

"जिस तरह मौत हमेशा क़बल-अज़-वक्त होती है, साहूकार का तकाज़ा हमेशा क़बल-अज़-वक्त होता है, उसी तरह ऐसे सारे काम जिनमें हमें माली या वक्ती नुक़सान का अंदेशा हो, क़बल-अज़-वक्त मालूम होते हैं। इस तहरीक़ की कबूलियत (लोकप्रियता) ही बता रही है, कि वह क़बल-अज़-वक्त नहीं है।"

आंदोलन वाक़ई समय से पूर्व नहीं था। जनता, सचमुच लड़ने के लिये तैयार थी। लेकिन जैसे ही आंदोलन शहरों से निकल कर देहात में फैलने लगा, और किसानों ने लगान न देने की मुहिम शुरू की, गाँधी जी ने झट स्विच-आफ कर दिया। गांधी-इर्विन पैक्ट हुआ। आज़ादी तो क्या मिलनी थी, गाँधी जी ने जिन ग्यारह मांगों को घोषणा करके डांडी-मार्च शुरू किया था, उनमें से भी एक नहीं मानी गयी।

इस समझौता-बाज़ी से प्रेमचंद को जो आघात पहुँचा, जो दुःख हुआ, उसे उन्होंने 'गोदान' में व्यक्त कर दिया है :—

"मन पर जितना गहरा आघात होता है, उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही गहरी होती है।"

प्रमचंद जिस लखनपुर को स्वर्ग तुल्य और जिस किसान को समृद्ध देखना चाहते थे, वह पहले से भी दीन-हीन और विपन्न हो गया। होरी के गांव बेलारी का चित्र देखिए :—

"गोबर ने घर पहुँच कर उसकी दशा देखी, तो ऐसी निराशा हुई कि उसी वक्त यहाँ से लौट जाये। घर का एक हिस्सा गिरने को हो गया था।

द्वार पर केवल एक बैल बंधा हुआ था, वह भी नीमजान।"

"और यह दशा कुछ होरी ही की न थी। सारे गाँव पर यह विपत्ति थी। ऐसा एक आदमी भी नहीं, जिसकी रोनी सूरत नहीं, मानो उनके प्राणों की जगह वेदना ही बैठी उन्हें कठपुतलियों की तरह नचा रही है। चलते-फिरते थे, काम करते थे, पिसते थे, घुटते थे, इसलिये कि पिसना और घुटना उनकी तक़दीर में लिखा था। जीवन में न कोई आशा है, न कोई उमंग, जैसे उनके जीवन के सारे सोते सूख गये हों······। द्वार पर मनों कूड़ा जमा है, दुर्गन्ध उड़ रही है; मगर उनकी नाक में न गंध है, न आँखों में ज्योति। सरे-शाम से द्वार पर गीदड़ रोने लगते हैं; मगर उन्हें कोई ग़म नहीं।······"

इधर इनकी यह दशा है, उधर इन्हें लूटने वाले बेजारी से देश भक्त ज़मींदार की कुत्सित विडम्बना यह है:—

"पिछले सत्याग्रह-संग्राम में राय साहब ने बड़ा यश कमाया था। कौंसिल की मेम्बरी छोड़ कर जेल चले गये थे। तब से उनके इलाक़े के असामियों को उनसे बड़ी श्रद्धा हो गयी थी। यह नहीं कि उनके इलाक़े में असामियों के साथ कोई खास रिआयत की जाती हो, या डांड और बेगार की कड़ाई कुछ कम हो; मगर यह सारी बदनामी मुख़तारों के सर जाती थी। राय साहब की कीर्ति पर कोई कलङ्क न लग सकता था। वह बेचारे भी तो उसी व्यवस्था के ग़ुलाम थे।"

इस समझौता-बाज़ी से बहुत से लोगों का भ्रम टूटा था, विशेष रूप से उन नौजवानों को जो बड़े जोश और शुद्ध भाव से इस आन्दोलन में शामिल हुए थे। गांधीवाद और अहिंसा से उनका विश्वास उठ गया था। प्रेमचन्द अपनी एक कहानी "भाड़े के टट्टू" में लिखते हैं:—

"रमेश जेल से छूट कर पक्का क्रान्तिकारी बन गया था। जेल की अंधेरी कोठरी में दिन भर के कठिन परिश्रम के बाद वह दीनों के उपकार और सुधार के मंसूबे बाँधा करता था। सोचता, मनुष्य क्यों पाप करता है? इसीलिये न कि संसार में इतनी विषमता है। कोई तो विशाल भवनों में रहता है, और किसी को पेड़ की छाँह भी मयस्सर नहीं। कोई रेशम और रत्नों से मढ़ा हुआ है, किसी को फटा वस्त्र भी नहीं। ऐसे न्याय-विहीन संसार में यदि चोरी, हत्या और अधर्म है, तो यह किसका दोष है? वह एक ऐसी समिति खोलने का स्वप्न देखा करता, जिसका काम इस संसार से विषमता को मिटा देना हो। संसार सब के लिये है—और उसमें सबको सुख भोगने का समान अधिकार है। न डाका है न चोरी है। धनी अगर अपना धन खुशी से नहीं

बाँट देता, तो उसकी इच्छा के विरुद्ध बाँट लेने में क्या पाप। धनी उसे पाप कहता है, तो कहे। उसका बनाया हुआ क़ानून अगर दण्ड देना चाहता है, तो दे। हमारी अदालत भी अलग होगी। उसके सामने वे सभी मनुष्य अपराधी होंगे, जिसके पास ज़रूरत से ज्यादा सुख-भोग की सामग्रियाँ हैं।······जेल से निकलते ही, उसने इस सामाजिक क्रान्ति की घोषणा कर दी। गुप्त सभायें बनने लगीं, शस्त्र जमा किये जाने लगे।"

देश म सचमुच वर्ग-संघर्ष तीव्र हो गया था। समाजवादी विचारों के नौजवानों ने मजदूरों और किसानों को संगठित करना शुरू कर दिया था। प्रगतिशील लेखक संघ ने इन्हीं नई परिस्थितियों में जन्म लिया था। उसकी नींव डालनें वाले वे प्रगतिशील और मानव प्रेमी लेखक थे, जो राजनीति में इस नई प्रगतिशील विचार-धारा के समर्थक थे; जिसका उद्देश्य धन और मेहनत की विषमता, लूट-खसोट का अन्त करके समानता की व्यवस्था स्थापित करना था। अंजुमन के घोषणा-पत्र में कहा गया था:—

"हमारे देश में बड़े बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। पस्ती और प्रतिक्रिया को यद्यपि मौत का परवाना मिल चुका है, लेकिन वह अभी तक अशक्त और अलोप नहीं हुई। नित्य नये रूप धारण कर यह घातक विष हमारी संस्कृति के प्रत्येक भाग में पैठता जा रहा है।

इसलिये हिन्दुस्तानी लेखकों का कर्त्तव्य है कि देश में जो नई प्रगतिशील रुचियाँ उभर रही हैं, उनका प्रतिपादन करें, और उनके विकास में पूरा हिस्सा लें।"

इस घोषणा-पत्र को बनाने में प्रेमचन्द का बड़ा हाथ था, उन्होंने सभापति-पद से अपने उक्त भाषण में "साहित्य का उद्देश्य" बयान करते हुए कहा था:—

"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की प्रेरणा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो—जो हम में गति और संघर्ष, बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं; क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"

निश्चय ही ये शब्द किसी एक व्यक्तिमात्र नहीं, समाज की सम्पूर्ण चेतना के मुख से निकले थे। जिस प्रकार इस भाषण में प्रेमचन्द की चेतना का विकास और गम्भीरता प्रकट होती है, उसी प्रकार वह केवल नाममात्र के सभापति नहीं थे, उनका वास्तविक अधिकार ही उन्हें इस पद पर लाया था। हम एक ऐसे व्यक्ति को सभापति के सिंहासन पर विराजमान देखते हैं, जिसकी आँखों मे गम्भीर और दृढ़ संकल्प था, जिसे वास्तव में पीड़ित मानवता के प्रतिनिधित्व का अधिकार था।

: १८ :

कर्म

"जीने का उद्देश्य कर्म है।" —प्रेमचन्द

प्रेमचन्द ने अपनी बच्चों की रामायण में लिखा है कि जब राम और लक्ष्मण राक्षसों से युद्ध करने के लिए विश्वामित्र के साथ चले, तो रास्ते में विश्वामित्र ने उन्हें एक ऐसा मन्त्र सिखाया, जिसको पढ़ लेने से थकावट पास तक न आती थी।

मन्त्र यह था कि उन्होंने आततायी और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने की ज़रूरत को समझ लिया था और वे दमन तथा हिंसा को मिटाने के लिए पूरे मनोवल से तैयार हो गए थे। जब मनुष्य अत्याचार के विरुद्ध तीव्र संघर्ष करता है तो उस काम से अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त होती है, और थकावट सचमुच पास नहीं आती। कर्मशील व्यक्ति जाने-अनजाने विकास की मंज़िल तय करता रहता है, आगे बढ़ता रहता है—जब कर्म में ज्ञान भी शामिल हो जाये, तो मंज़िलें तय करने की रफ्तार तेज हो जाती है। आदमी पद-पद पर अपने विकास को माप सकता है, देख सकता है और वह इसी अनुपात से अपने संघर्ष को तीव्र कर देता है।

प्रेमचन्द में अब यह तीव्रता आगई थी। उन्होंने बड़ी विद्युत्गति से बहुत-सी मंजिलें पार करली थीं। यह वह युग था जब उनका सुधारवाद क्रान्ति का रूप धारण कर चुका था। उन्हें हृदय-परिवर्तन की नीति, अहिंसा और ऊँचे वर्ग के लोगों के नेतृत्व में कोई विश्वास नहीं रह गया था। उन्हें सम्पन्न और पददलित दो वर्ग साफ दिखाई दे रहे थे। वह समझते थे कि केवल लड़कर ही इस अन्याय और विषमता का अंत हो सकता है। उनके नये अधूरे उपन्यास "मंगल सूत्र" में इस नये भाव और नई चेतना की तीव्रता स्पष्ट दिखाई देती है, लिखते हैं:—

"देवता हमेशा रहे हैं और रहेंगे। उन्हें संसार अब भी धर्म और

नीति पर चलता हुआ नज़र आता है। वे अपने जीवन की आहुति करदे संसार से विदा हो जाते हैं। लेकिन उन्हें देवता क्यों कहें ? कायर कहो, स्वार्थी कहो, आत्मसेवी कहो। देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिये प्राण दे दे। अगर वह जानकर अनजान बनता है, तो धर्म से गिरता है। अगर उसकी आँखों में यह कुव्यवस्था खटकती नहीं तो वह अंधा भी है और मूर्ख भी, देवता किसी तरह नहीं।"

"परिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिये हथियार बांधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं, जड़ता है।"

उनके मन में इस प्रकार का संकल्प-विकल्प चल रहा था। इसीलिए इसी उपन्यास में एक दूसरी जगह लिखा है—

"इस तरह का आत्म-मन्थन उनके जीवन में पहले कभी न हुआ था। उनकी साहित्यिक बुद्धि ऐसी व्यवस्था से संतुष्ट तो हो ही नहीं सकती थी।"

प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन ने साहित्य द्वारा राजनीति के प्रगतिशील आंदोलन को—स्वतन्त्रता संग्राम को आगे बढ़ाने की जो घोषणा की थी, प्रेमचन्द उसे कार्यान्वित कर रहे थे और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए "मंगल सूत्र" लिखना शुरू किया था। लेकिन खेद की बात है कि अधिवेशन के थोड़े ही दिनों बाद वह सख्त बीमार पड़ गए और उन्हे यह उपन्यास पूर्ण करने का अवकाश नहीं मिला।

२५ जून को रात के ढाई बजे के करीब सहसा उनकी तबियत ख़राब हो गई। आमाशय का रोग उन्हें मुद्दत से था। इससे वह कभी स्वस्थ नहीं हुए। तनिक सी बदपरहेजी की और बीमार पड़ गये। लेकिन इस बार उन्हें खून की कै आई और चेहरा पीला पड़ गया। शिवरानी उनकी यह दशा देखकर घबरा गयीं; लेकिन डाक्टर ने तसल्ली दी कि बलगम की खराबी है, जल्द आराम हो जाएगा।

लेकिन यह सब पेट की खराबी थी। उस दिन से चारपाई से ऐसे लगे कि फिर छोड़ने की नौबत नहीं आई। तबियत बेचैन रहती थी और रात को नींद कम आती थी। मगर वह इसी दशा में काम किए जाते थे। रात को प्रकाश में पढ़ते-लिखते थे। इसी दशा में "मंगल सूत्र" के बीसियों पृष्ठ लिख डाले। अब उनकी रचनाओं में अधिक ओज आ गया था। वह व्यक्तिगत जीवन और मध्यमवर्ग की बात नहीं कहते थे। सारी व्यवस्था और समस्त समाज की बात करते थे। अब उनकी कल्पना प्रौढ़ थी और उसमें व्यापकता आगई थी। उन्हें शोषित वर्ग की वकालत करनी थी इसलिए घीसो,

माधो, होरी, धनिया और तुलिया उनकी कहानियों के विशेष पात्र थे। 'कफ़न" कहानी इन्हीं दिनों लिखी गयी थी। जिसमें उन्होंने बताया है कि लूट-खसोट की यह व्यवस्था किस प्रकार मनुष्य की कार्य-शक्ति को कुंठितकर देती है। जब आदमी को मेहनत का फल न मिले, तो वह मेहनत किस लिये करेगा। काम करने की उमंग ही उत्पन्न नहीं होती।

शिवरानी उन्हें बीमारी की इस दशा में काम करने से मन्हाँ करती थी। लेकिन दूसरे ही क्षण महसूस होता था कि उनके लिये कर्म ही तो जीवन है, फिर मन्हाँ क्या करती।

जुलाई में वह इलाज कराने लखनऊ चले गये। वहाँ कई डाक्टर परिचित थ। उन्होंने बड़ी सहानुभूति से देखा और रोग को भली प्रकार से समझ कर इलाज शुरू किया; लेकिन लाभ कुछ नहीं हुआ। वह फिर बनारस लौट आये। हालत पहिले से भी खराब हो गयी थी।

इस दशा में भी लिखना-पढ़ना और मित्रों से पत्र-व्यवहार बराबर जारी रहा। रोग बढ़ रहा था; मृत्यु निकट आ रही थी। लेकिन उन्होंने मानसिक रूपसे मृत्यु को पराजित कर दिया था। पेट का रोग पुराना था। बीस-बाईस साल से मृत्यु के साथ लड़ते आये थे। जून सन् १९२५ में सम्पादक 'ज़माना' के नाम एक खत में लिखा था:—

"मेरे लिये बुढ़ापे का जिक्र फ़िज़ूल है, मैं किसी बूढ़े से कम हूँ ?"

इसके उपरान्त सन् १९१८ मे गोरखपुर से एक खत लिखा था:—

"आप बजा कहते हैं, ज़िंदगी की उम्मीद यहाँ भी कम है। मगर चाहता हूँ कि या तो साथ चलें या ख़फ़ीफ़ तक़दीमो ताखेर (थोड़ा आगा-पीछा) हो। मैं आपका पेशरो (अनुगामी) बनना चाहता हूँ। मगर मौत की फिक्र मारे डालती है। कितना चाहता हूँ, परमात्मा पर भरोसा रखूँ। मगर दिल मूज़ी है, समझता नहीं। किसी महात्मा की सोहबत मिले, तो शायद रास्ते पर आये। यही फिक्र है कि आज मर जाऊँ, तो इन बच्चों का कौन पुरसाने हाल (पूछने वाला) होगा। घर में कोई ऐसा नहीं··· ···दोस्तों अगर हैं तो आप, और अगर नहीं हैं तो आप और न होगा तो मेरे बाद साल-दो साल उनकी ख़बर तो ले सकते हैं।"

इतने अरसा से वह मृत्यु को बड़ी सफलता के साथ धत्ता बताते आये थे। और अब तो उन्हें यह संतोष भी प्राप्त हो गया था कि मौत आ भी जाये तो क्या चिंता है। कुछ-न-कुछ काम तो कर लिया है, जिंदगी बेकार तो नहीं खोई। काम से उनके मन में जो विश्वास और भरोसा उत्पन्न हो गया था,

उसे "लेखक" कहानी में यों व्यक्त किया है:—

"हमारा धर्म है काम करना। हम काम करते हैं और तन मन से करते हैं। अगर इस पर भी हमें फ़ाका करना पड़े, तो मेरा दोष नहीं। मर ही तो जाऊँगा। हमारे जैसे लाखों आदमी रोज़ मरते हैं। मौत डरने की वस्तु नहीं।······मैं उससे नहीं डरता।"

इस सम्बन्ध में उनका एक पत्र उल्लेखनीय है। पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक बार उनके एक एकान्तवास की शिकायत करते हुए लिखा था कि उन्हें जवानी और जिंदा दिली बनाये रखने के लिये सैर-सफर करना चाहिये। प्रेमचन्द ने उन्हें उत्तर दिया था:—

"नौजवानी और जिंदादिली का सम्बंध मन से है। बहुत से नौजवान हैं। जो मनस्थिति के कारण मुझसे बहुत बूढ़े हो गये हैं और बहुत से बृद्ध हैं, जो विचारों के अनुसार मुझसे भी अधिक नवयुवक हैं। लेकिन उनकी यही धारणा बन गयी है कि इस प्रकार मेरी जवानी बहुत तरक्की कर रही है। मैं परलोक में विश्वास नहीं रखता। इसलिये मुक्ति का विचार जो मनुष्य की नौजवानी के लिये सब से अधिक घातक है, मुझे कभी सताता ही नहीं। हां, यह ज़रूर है कि जवानी भी दो प्रकार की होती है—एक स्वस्थ और दूसरी उन्मत्त। स्वस्थ जवानी का विशेष गुण यह है कि मनुष्य अचानक खाड़ियों से बचता हुआ एक उन्नतिशील और आशावादी मार्ग ग्रहण करे। उन्मत्त जवानी में मनुष्य अंधा रहता है, वह अपनी योग्यता के बारे में भ्रांति पूर्ण विचार रखती है। और अपनी इच्छाओं की पूर्ति के सुन्दर सपने देखा करता है। मैं भी कभी-कभी सपने देखता हूँ और कई बार अदूरदर्शिता भी कर बैठता हूँ। लेकिन भ्रान्ति में नहीं पड़ता। इस उन्माद के गुण से ही आनन्दित होता हूँ और अब यह अनुभव करने लगा हूँ कि संतोष का गृहस्थ-जीवन, संसार का सब से बड़ा उपहार है।"

जिस आदमी की कर्मठता और कर्म शीलता का यह हाल हो कि उसने समझ सोच कर प्रगतिशील और आशा युक्त मार्ग अपना लिया हो, जो उन्माद को अपना आप सौंपने के बजाय खुद उन्माद का नेतृत्व कर रहा हो, मौत कहाँ सता सकती है ?

अगस्त का महीना था। इस बीमारी की हालत में रात को दो बजे उठकर फर्श पर बैठ गये और लिखने लगे। दो दिन बाद "आज" के आफिस में गोर्की की मृत्यु पर शोक सभा होने वाली थी उसके लिये भाषण लिख रहे थे। शिवरानी देवी को भी उन दिनों नींद नहीं आती थी, सेवा सुश्रूषा में लगी

रहती थी; उन्होंने कहा :—

"जब तबियत ठीक नहीं तो भाषण कैसे लिखा जायगा? और फिर लिखना क्या ज़रूरी है?"

आप बोले :—"ज़रूरी तो नहीं है। बिना लिखे काम नहीं चलेगा। अपनी खुशी से काम करने में आराम या तकलीफ़ का एहसास नहीं होता। जिसको आदमी फर्ज़ समझ लेता है, उसको करने में तकलीफ नहीं होती। इन कामों को आदमी सबसे ज्यादा ज़रूरी समझता है।

शिवरानी :—"यह मीटिंग है कैसी?

प्रेमचंद:—"अफसोस करना है।"

शिवरानी:—"वह कौन हिन्दुस्तानी थे?"

प्रेमचंद:—"यही तो हम लोगों की तंग दिली है। गोर्की इतना बड़ा लेखक था कि उसके बारे मे देश या जाति का सवाल ही पैदा नहीं होता। लेखक हिन्दुस्तानी या युरोपियन नहीं देखा जाता। वह जो कुछ लिखेगा उससे सभी को फायदा होता है।"

शिवरानी:—ठीक, उसने हिन्दुस्तान के लिये भी कुछ लिखा है?"

प्रेमचंद:—तुम ग़ल़ती करती हो रानी! लेखक के पास होता ही क्या है, जिसे वह बाँट देगा। लेखक के पास तो उसकी तपस्या ही होती है। वही सबको वह दे सकता है, उससे सब लोग लाभ भी उठाते हैं। लेखक जो तपस्या करता है, उससे जनता का भला होता है। वह अपने लिये तो कुछ भी नहीं करता।

शिवरानी:—गांव वालों में तो शायद ही कोई गोर्की का नाम जानता हो?

प्रेमचंद:—यहाँ के गाँव की बात छोड़ो। यहाँ के लोग तो अपनों को नहीं जानते। इसका अर्थ यह नहीं कि यहाँ के लोगों के लिये कुछ काम ही न किया जाय।"

शिवरानी:—जानते क्यों नहीं? तुलसी, सूर, कबीर वे किसको नहीं जानते?"

प्रेमचंद:—उनको भी जानने वाले गाँव में थोड़े हैं। इसका सबब है शिक्षा का अभाव। अभी यहां शिक्षा थोड़ी है। इस वजह से यहां जो कुछ होता है, वह बहुत थोड़े लोगों के लिये होकर रह जाता है। जब घर-घर शिक्षा का प्रचार हो जायेगा, तो क्या गोर्की का असर भी घर घर नहीं हो जायेगा? वह भी तुलसी, सूर की तरह चारों तरफ पूजे जायेंगे।"

(प्रेमचंद घर में)

बीमारी और दुर्बलता के बावजूद मीटिंग में गये। सीढी चढते-चढते दम

उखड़ गया। मीटिंग में खड़े नही हो सके। किसी और सज्जन ने उनका भाषण पढ़कर सुनाया। लौटकर आये तो पांव लड़खड़ा रहे थे। चलना मुश्किल था। शिवरानी ने शिकायत की। नाहक परेशानी उठाई, न गये होते। आपने जवाब दिया:—कमज़ोरी आये या चाहे जो कुछ। कहीं इस तरह बैठा जाता है ?"

सितम्बर के अन्त में उनकी दशा बहुत बिगड़ गयी। पेट में गैस्ट्रिक अलस्टर की शिकायत थी। खाना हज़म नहीं होता था। जिसके मारे क़ै दस्त हो जाते थे, वरना पेट फूला रहता था, जैसे पानी भर गया हो। वह प्रायः बेहोश भी रहने लगे।

मौत सामने थी; मगर उन्हें मौत का डर नही था। परलोक की चिंता नहीं थी। उन्हें चिंता थी तो बस इसी दुनियां की, जिसे वह संवारना और सुन्दर बनाना चाहते थे। इस दुनियां को कैसे संवारा जा सकता है, इसका वास्तविक ज्ञान उन्हें हाल ही में—नमक सत्याग्रह का समझौता करने के बाद हुआ था। दुश्मन स्पष्ट रूप में सामने था और उस पर वह भरपूर वार कर रहे थे। उनकी आखिरी कहानी "दो बहनें" है, जो अक्तूबर सन् १६३६ में "इस्मत" दिल्ली में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी का एक पात्र कहता है:—

"जितने धनी हैं, वे सब के सब लुटेरे हैं, पक्के लुटेरे, डाकू। कल मेरे पास रुपये हो जायें और मैं एक धर्मशाला बनवा दूँ। फिर देखिए मेरी कितनी वाह-वाह होती है। कौन पूछता है, मुझे दौलत कहाँ से मिली ?"

वह इस व्यवस्था को, जिसमें धोखे-घड़ी और छल से धन कमाना उचित है, जिसमें ब्लैक मार्केट और लूट-खसोट द्वारा श्रम-जीवि वर्ग—का मांस नोचने वाला गिद्ध और लुटेरा एक धर्मशाला बनाकर "दानवीर" और धर्मात्मा कहलाता है उसे, वह अन्त हुआ देखना चाहते थे। "मंगलसूत्र" में उन्होंने जो कहानी शुरू की थी, यही उसका अन्त था। अगर वह खुद उसे पूर्ण नहीं कर सके तो कम-से-कम ऐसे साधन ऐसे उपादान जुटा देना चाहते थे कि उनके बाद आने वाले लेखक उसका अन्त लिख सकें।

अपना यह संदेश वसीयत करने के लिये उन्होंने अंतिम समय अपने समस्त मित्रों और सम्बंधियों को जमा कर लिया था। लड़के लड़की, भाई और साले के अलावा उनके प्रिय मित्र मुन्शी दयानारायण निगम, जैनेन्द्रकुमार आदि बनारस पहुँच गये।

मुन्शी दयानारायण निगम लिखते है—

"मौत से पन्द्रह दिन पहिले मुझे तार देकर बनारस बुलाया। तमाम रास्ता अजीब उम्मीदोबीम (आशा और भय) की हालत में कटा। सुबह को

मुलाकात का समाँ उम्र भर न भूलेगा। वही प्रेमचन्द जो अपनी सुर्खो-सफेद सूरत के लिहाज से हजारों में से एक थे। ऐसे ज़ारोनज़ार (दुर्बल और क्षीण) होगये थे कि मुश्किल से पहचान पड़ते थे। धंसी हुई आंखें, बैठे हुए गाल, कांटे की तरह सूखे हुए हाथ पांव देखकर आंखों के सामने अंधेरा छा गया। उनके मुसलसल कहकहे बात करने की भी मुहलत न देते थे; मगर अब आंसुओं का तार बँधा हुआ था। न उठने की ताकत थी, न बैठने की शक्ति, लेटे-ही-लेटे हाथ पकड़ लिया और गले से चिपटा लिया, जैसे कोई डरा हुआ बच्चा सीने से चिपटने की कोशिश करे। इतने कमजोर हो गये थे कि बात करते भी थकान होती थी। ताहम (फिर भी) दम ले-लेकर आहिस्ता-आहिस्ता बात करते ही रहे। मैंने मन्हा करना चाहा, तो कहने लगे कि दोबारा मुलाकात की उम्मीद नहीं, वरना तुम्हारा कहना न टालता। यहां और जो कोई आता है, यास-अंगेज (निराशाप्रद) बातें करके परेशान कर जाता है। बीबी की तरफ इशारा करके कहा कि अगर यह ढारस न बँधाए रहतीं, तो कब का मर चुका होता। वाकई मिसेज प्रेमचन्द ने उन दिनों बड़ी हिम्मत से काम लिया और दिल शिकन हालात (प्रतिकूल परिस्थितियों) में कभी एक लमहा (क्षण) के लिये अपने दिली सदमा को उनपर जाहिर नहीं होने दिया। अगर कभी उन्होंने कोई मायूसी (निराशा) की बात भी की, तो समझा-बुझाकर तसल्ली दे दी। इसीलिये कहते थे कि खुदा मालूम उनके बगैर मेरा क्या हाल होता......"

निगम की तरह जैनेंद्र भी उनके घनिष्ट मित्र थे। लेकिन यह सोचना पड़ता है कि मित्रता जैनेन्द्र निभाते थे या प्रेमचन्द, क्योंकि दोनों के मार्ग भिन्न थे, दृष्टिकोण भिन्न थे। जैनेन्द्र ने इतना निकट होते हुए भी प्रेमचन्द को और उनके आदर्शों को नहीं समझा था और शायद अब तक नहीं समझा। वह उन्हें अपनी ही तरह आस्तिक बनाने की चिन्ता में थे।

प्रेमचन्द उन्हें जवाब देते:—"यह आहें और कराहें। यह दुख और दर्द, यह दरिद्रता, यह भूख और यह......"

जैनेन्द्र, कहते:—"आहों कराहों से ऊपर उठो। इधर देखो ईश्वर की ओर।"

लेकिन प्रेमचन्द की जड़ें तो जनता में थीं। वह आहों से ऊपर कैसे उठते। "बासी भात मे खुदा का साझा" कहानी में शायद जैनेन्द्र ही उनके लक्ष्य हैं और वह ईश्वर के बारे में दो-टूक जवाब देते हैं:—

'प्रेम ही हमारे जीवन का सत्य है; मगर तुम्हारा ईश्वर दण्ड-भय से

सृष्टि का संचालन करता है। फिर उसमें और मनुष्य में क्या फर्क हुआ? ऐसे ईश्वर की उपासना मैं नहीं करना चाहता, नहीं कर सकता। जो मोटे हैं उनके लिये ईश्वर दयालु होगा; क्योंकि वे दुनिया को लूटते हैं। हम जैसों को तो ईश्वर की दया कहीं नजर नहीं आती। हां, भय पग-पग पर खड़ा घूरा करता है......।"

लेकिन जैनेन्द्र ने बहस जारी रखी और ईश्वर और सत्य में सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया, तो प्रेमचन्द और स्पष्ट हो गये।

"जब तक संसार में यह व्यवस्था है, मुझे ईश्वर पर विश्वास नहीं आने का; अगर मेरे झूठ बोलने में किसी की जान बचती है तो मुझे कुछ भी संकोच नहीं होगा। मैं प्रत्येक कार्य को उसके मूल कारणों से तोप रखता हूँ, जिससे दूसरों का भला हो, वही सच है, जिससे दूसरों को नुकसान हो वही झूठ है।"

जैनेन्द्र को आशा थी कि वह मरने से पहले ईश्वर को याद करेंगे और हर एक आस्तिक इसी भ्रम में फंसा रहता है। जैनेन्द्र की यह आशा पूरी न हुई। वह प्रेमचन्द के निकट बैठे थे। उन्होंने अपना दाहिना सूजा हुआ हाथ बढ़ा कर कहा—"दबादो" प्रेमचन्द आधी रात तक बातें करते रहे। वह बात "हंस" के बारे में थीं, साहित्य और उसके भविष्य से सम्बन्धित थीं। उनकी आशायें और आकांक्षायें शब्दों से कहीं अधिक आंखों से व्यक्त होती थी।

आखिर प्रातःकाल ८ अक्तूबर सन् १९३६ को क्रियाशील शक्ति का अन्त हो गया। संसार का रूप निखारने वाली लेखनी रुक गई? जीवन को प्रज्वलित करने वाला दीपक बुझ गया और यों उन्होंने अपने जीवन की कहानी को पराकाष्ठा पर लाकर अन्त कर दिया।

: १६ :

कला

"साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पन्दित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं।"

—प्रेमचन्द

प्रेमचन्द के जीवन की जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद उनके साहित्य पर बहस की गुन्जाइश नहीं रहती। प्रत्येक लेखक की कला उसके जीवन का अंग होती है। कोई लेखक जितना ही अपने समय की आत्मा को पहचान लेता है और इतिहास की विकासात्मक शक्तियों को समझकर उनका साथ देता है, उतना ही उसका साहित्य शाश्वत, प्रभावशाली और व्यापक होता है और उतना ही वह स्थायी और मूल्यवान होने के कारण शताब्दियों और युगों तक पढ़ा जाता है। प्रेमचन्द ने लगभग तीन सौ कहानियाँ एक दर्जन उपन्यास लिखे। उन्हें सिलसिलेवार पढ़ने से हमारे देश का बीसवीं सदी के शुरू पैंतीस-छत्तीस वर्ष का इतिहास तैयार हो जाता है। अर्थात् प्रेमचन्द के साहित्य का इतिहास हमारे देश के राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तनों का इतिहास है।

लेकिन उनका साहित्य अपने युग का प्रतिबिम्ब मात्र ही नहीं है, उन्होंने जीवन के जो गहरे और अमिट रेखा-चित्र तैयार किये हैं, उनसे हमें यह भी पता चलता है कि जीवन की ये रेखायें किस दिशा में आगे बढ़ रही हैं और घटनाओं की ऐतिहासिक धारा का आगामी रुख क्या है? अर्थात् लेखक का काम सिर्फ जीवन को चित्रित करना ही नही होता, बल्कि जहाँ जीवन की कमी हो उसे निर्माण करना भी होता है। प्रेमचन्द ने यह कार्य भी बड़ी अच्छी तरह पूरा किया है। परिस्थितियों और वातावरण का निरीक्षण करने के उपरान्त वह बड़े इत्मीनान से कहते हैं—

"लेकिन यह सब होने पर भी हमारा भविष्य उज्ज्वल है। मुझे इसमें सन्देह नहीं। भारत की आत्मा अभी जीवित है।"

परिवर्तन सदा व्यक्तियों और घटनाओं में प्रगट होते हैं; लेकिन इन परिवर्तनों का कारण सामने आने वाले व्यक्तियों और घटनाओं ही में नहीं, समाज़ में निहित होता है। लेखक का काम यह है कि वह इन व्यक्तियों और घटनाओं का निरीक्षण करके इन कारणों की जड़ें समाज में खोज निकाले। जितना वह इस उद्देश्य में सफल होता है, उतना ही उसका साहित्य प्रभावशाली और उपयोगी होता है। जहां वह इस निरीक्षण में असफल रहता है, वहीं उसका साहित्य प्रभावहीन और दुर्बल हो जाता है।

इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि लेखक समाज में से कुछ व्यक्तियों और घटनाओं को उदाहरण के रूप में चुन लेता है और उनके द्वारा वह समस्त समाज अथवा पूरे जीवन का निरीक्षण करता है। खुद प्रेमचन्द ने इस बात को यों कहा है:—

"साहित्य की बहुत-सी परिभाषायें की गई हैं; पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।"

लेकिन जीवन की आलोचना साहित्य की पहली मंज़िल है। लेखक का काम इस मंज़िल पर रुक जाना नहीं, बल्कि आगे बढ़ना है। बालुज़क और चार्लज़ डिक्नज़ आदि लेखकों ने भी अपनी समाज की भरपूर और निर्भीक आलोचना की है, क्योंकि उन्हें यह भय नहीं था कि ऐसा करने से वे समाज की जड़ें हिला देंगे। और ना ही उन्हें इस बात की जरूरत महसूस होती थी, क्योंकि पूंजीवाद अपनी पराकाष्ठा पर था और उसका प्रतिद्वन्द्वी कोई ऐसा आंदोलन अभी नहीं था। जिसका उद्देश्य इससे बेहतर समाज स्थापित करना हो। उस समय आलोचना ही साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा थी।

लेकिन जब क्रान्ति का युग हो, जब पुराने और जर्जर के स्थान पर नए और उन्नत समाज के निर्माण के लिये संघर्ष हो रहा हो, तो लेखक का काम पक्षपात के साथ लोगों को संघर्ष के लिए तैयार करना होता है। अगर उस समय आलोचना को कर्म की प्रेरणा से अलग रखा जाय, तो लेखक; लेखक नहीं रहता या कम-से-कम लेखक अपने कर्त्तव्य का पूर्ण ढंग से पालन नहीं करता। ऐसे युग में उत्तम और श्रेष्ठ साहित्य वही होता है, जिसमें जीवन की आलोचना के साथ जीवन को आगे न बढ़ाने के लिए कर्मशील होने की

प्रेरणा भी मिलती है। प्रेमचन्द गो जीवन की आलोचना को साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा कहते हैं; लेकिन वह स्वयं क्रियाशील होने की प्रेरणा भी देते हैं—

"जिस समाज का आधार ही अन्याय पर हो, उसकी सरकार के पास दमन के सिवा और क्या दवा हो सकती है। एक दिन आयेगा, जब आज के देवता, कल कंकर-पत्थर की तरह उठा-उठाकर गलियों में फेंक दिये जायेंगे और पैरों से ठुकराये जायेंगे।"

(कर्मभूमि)

लेकिन यह मंज़िल भी दूसरी मंज़िल है। आखिरी और तीसरी मंज़िल इससे आगे है, जो काफ़ी कठिन है, जिस पर पाँव डगमगाते हैं। लेखक की परीक्षा इसी मंज़िल पर पहुँच कर होती है। यहीं खरा और खोटा परखा जाता है। यह मंज़िल हैं संघर्ष को सफलता के साथ अपने प्राकृतिक परिणाम तक ले जाना। समाज की नई शक्तियों को पुरानी और जर्जर शक्तियों से टकरा देना। यह काम सहज नहीं, बहुत कठिन है। लेखक अपने वर्ग के अनुसार पुराने समाज के साथ हज़ारों बन्धनों से बँधा हुआ होता है। जब तक वह एक-एक सम्बन्ध तोड़ कर अपने आपको पुराने समाज से अलग न कर ले, जब तक वह सक्रिय रूप से अपने आपको नये समाज के साथ पूर्ण रूप से जोड़ न ले, जब तक कि वह अपने आपको नये समाज की नई शक्तियों का अविच्छेद अंग न बना ले, तब तक कंकर-पत्थर के देवताओं को उठा कर फेंकते समय उसका हाथ काँप जायेगा, वह अपने संघर्ष को अधूरा छोड़ देगा और दुर्बलता और पराजय को छिपाने के लिये झूठे दर्शन का आसरा लेगा।

जब हम इस मंज़िल पर पहुँचते हैं तो प्रेमचन्द का प्रतिवाद स्पष्ट हो जाता है हमें उनकी मानसिक सीमाओं का बोध होता है। तब हम यह भी जान लेते हैं कि उन्होंने, "साहित्य अपने समय का प्रतिबिम्ब होता है"—क्यों कहा है और केवल 'जीवन की आलोचना' ही को साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा क्यों बताया है, जबकि वह खुद उससे बहुत आगे जाते हैं?

प्रेमचन्द ने चूंकि स्वतन्त्रता-संग्राम को आगे बढ़ाने के लिये साहित्य-रचना की थी। वह स्वयं भी नौकरी से इस्तीफा देकर इस आन्दोलन में शामिल हो गये थे। इसलिये उन्होंने जीते-जागते क्रियाशील पात्रों की रचना की हैं, जो सिर्फ़ स्वतन्त्रता-संग्राम के बारे में सोचते ही नहीं, बल्कि उसमें शामिल होते हैं और सक्रिय भाग लेते हैं। लेकिन उनके कर्म की एक सीमा है। जब कर्म उससे आगे बढ़ने लगता है, तो वह उसे झट रोक देते हैं और झूठे दर्शन का

आसरा लेकर अपने मन को सान्त्वना देते हैं और कई बार तो सान्त्वना भ
प्राप्त नहीं होती। मन में कुरेद लगी रहती है।

उदाहरणार्थं उनके उपन्यास "काया कल्प" को लीजिये। उपन्यास क
नायक चक्रधर सच्चे और ओजस्वी नौजवान के रूप में हमारे सामने आता है
उसे समाज की जर्जर परम्पराओं, शठता और गुलामी से घृणा है। वह स्वतन्त्र
सुन्दर और समृद्ध समाज का निर्माण चाहता है। इसलिये वह सच्ची औ
न्याय संगत बातें करता है। हम उसे अत्यन्त निर्भीकता के साथ कहते हुए
सुनते हैं—"मैं बदनामी के भय से अन्याय करना उचित नहीं समझता"—
और न्याय अथवा अन्याय की जड़ें भौतिक स्थिति में होती हैं; इसलिये चक्र
धर कहता है:—

**"यह भौतिकवाद ही हमें आध्यात्मिकवाद की ओर ले जायगा। जीवन
के वे रहस्य जिन पर अब तक पर्दा पड़ा हुआ है, खुल जायेंगे।"**

वह कर्मशील युवक है। कुल की परम्परागत मान्यतायों और रीति-रिवाज
से विद्रोह करता है और साम्प्रदायिक दंगे रोकने के लिये अपने प्राण खतरे में
डाल देता है। लूट-खसोट, अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध सत्याग्रह करत
है। उत्पीड़ित वर्ग का साथ देता है। लेकिन जब कृषक लूट-खसोट से तंग
आकर अत्याचार को मिटाने के लिये तैयार होते हैं, राजा के कारिन्दों, अफसरे
और सिपाहियों पर आक्रमण करते हैं, तो चक्रधर का दिल कांप जाता है
वह आगे बढ़कर और स्वयं आहत होकर इस स्वाभाविक घटना को
रोक देता है और मन को समझाने के लिये मिथ्या दर्शन की आड़ लेता है:—

**"वह सोच रहा है, यह हत्याकाण्ड क्यों हुआ? मैंने तो भूल कर भी
किसी से ऐसा करने को नहीं कहा।······यह हमारी नीयत का फल है
हमारे त्याग और सदोपदेश में स्वार्थ निहित है। यदि हमारी नीयत साफ़
हो, तो जनता के मन में राजाओं पर चढ़ दौड़ने का जोश ही पैदा न हो।"**

विदित है कि यहाँ चक्रधर ने भौतिकवाद के दर्शन को अलग फेंक कर
आध्यात्मिकता का आवरण ओढ़ लिया है और वह कृषकों के स्वाभाविक क्रोध
के भौतिक कारणों की उपेक्षा करके उसे "नीयत" "मन" और व्यक्तियों के
सिर थोप रहा है। जो सर्वथा प्रतिक्रियावाद का दर्शन शास्त्र है। लेकिन चूंकि
वह वास्तव में प्रतिक्रियावादी नहीं बल्कि ईमानदार है, इसलिये उसके मन
को इस मिथ्या दर्शन से सन्तोष नहीं मिलता। कुरेद लगी रहती है।
सोचता है:—

"फिर अगर अत्याचार का विरोध न किया जाय तो संगठन से लाभ ही क्या ?"

अब होता यह है कि चूंकि संगठन में कोई लाभ दिखाई नहीं देता, इसलिये चक्रधर सब कुछ छोड़-छाड़ कर संन्यास धारण कर लेता है। एकान्तसेवी और निष्क्रिय जीवन व्यतीत करता है। चूंकि उसने भौतिकता का मार्ग छोड़ दिया है; इसलिये जीवन के गुप्त रहस्यों पर पर्दा ही पड़ा रहता है। और प्रेमचन्द की कला ने आवागवन के गोरखधंधों में उलझ कर अपना तत्त्व खो दिया है। एक गैर मार्क्सवादी लेखक ने इस उपन्यास पर आलोचना करते हुए लिखा है:—"रब्त और रवानी पहले हिस्सा में कुछ ज्यादा है; मगर रफ्ता-रफ्ता कम होते-होते ग़ायब हो गयी।" कारणों में जाने की ज़रूरत नहीं। मिथ्यादर्शन में हृदय को पकड़ने का सामर्थ्य नहीं होता।

इसी प्रकार "डामुलका क़ैदी" कहानी उस समय तक रोचक और दिलचस्प बनी रहती है, जब तक प्रेमचन्द मिल के मालिक सेठ की धन लोलुपता, मुनाफ़ाखोरी और पाखंड का भांडा फोड़ते है और मज़दूरों के कर्तव्य को उभारते है। लेकिन जब गोपीनाथ मज़दूरों के संघर्ष का नेतृत्व करने की बजाय उनके क्रोध और सेठ के बीच में पड़ कर हड़ताल तोड़ने का काम करता है और घायल होकर मर जाता है, तो फिर आवागवन का वही अस्वाभाविक क्रम आरम्भ होता है और कहानी निस्सार और शुष्क होकर रह जाती है।

उनके एक दूसरे उपन्यास 'कर्मभूमि' को लीजिये। इस उपन्यास का नायक अमरकान्त, चक्रधर से अधिक सजग और सचेत व्यक्ति है। उसके चरित्र में अधिक प्रौढ़ता और दृढ़ता है, जो निश्चय ही अनुभव और क्रियाशीलता से उत्पन्न हुई है। हम अपनी आँखों से उसके व्यक्तित्व का विकास होते देखते हैं। वह चक्रधर से बहुत आगे की बात सोचता है। जिसका कारण यह है कि सन् १६३० के नमक सत्याग्रह में सन् १६२२ का अंधविश्वास और खिलाफत का-सा धार्मिक रंग शामिल नहीं था। अब स्वतंत्रता का आन्दोलन धर्म-निष्ठा पर निर्भर नहीं था, उसका एक ठोस आर्थिक आधार बन चुका था और उसमें क्रान्तिकारी नवयुवकों का साहस और उत्कट भावना शामिल थी। प्रेमचन्द का यह नायक भी परिस्थितियों के अनुकूल इसी अन्दाज़ से सोचता है:—

"मैं किसी रिश्ते या दौलत को अपनी आत्मा के गले की जंज़ीर नहीं बना सकता। मैं उन आदमियों में नहीं हूँ, जो ज़िंदगी की जंज़ीरों को ज़िंदगी समझते हैं। मैं ज़िंदगी की आरज़ुओं को ज़िंदगी समझता हूँ।"

लेकिन जंज़ीरें केवल सोचने ही से नहीं टूट जातीं और न कामनाएँ पूरी

होती हैं। अमरकान्त उसका ऐतिहासिक और सहज उपाय सोचता है:—

"वह अब क्रान्ति ही में देश का उद्धार समझता था—ऐसी क्रान्ति में, जो सर्वव्यापक हो, जो जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धान्तों का, परिपाटियों का अन्त कर दे, जो एक नये युग की प्रवर्तक हो, एक नई सृष्टि खड़ी कर दे, जो मिट्टी के असंख्य देवताओं को तोड़कर चकनाचूर कर दे। जो मनुष्य को धन और धर्म के आधार पर टिकने वाले राज्य से मुक्त कर दे।"

अपने इस स्वप्न को सार्थक और चरितार्थ करने के लिये वह सूदखोर और चोरी का माल हड़पने वाले पिता से विद्रोह करता है। उसका घर और धन त्याग कर गांव में जाकर किसानों और मज़दूरों में रहने लगता है। लेकिन जब यही किसान मज़दूर उसके स्वप्न को सार्थक करने के लिये तैयार हो जाते हैं, धन और धर्म के आधार पर टिकने वाला राज्य का अन्त करने के लिये आक्रमण शुरू करते हैं, तो अपने ही "सभ्य" और "शिक्षित" वर्ग को, इन गंवारों के प्रहार की ज़द से प्रभावित देखकर अमर का दिल कांप जाता है। वह क्रुद्ध उत्तेजित जन-समूह के सामने लेटकर अपने लंगोटिये साथी सलीम को साफ़ बचा लेता है।

अब चूंकि अमर सत्याग्रह करके जेल जाने ही को कर्म की आखिरी मंज़िल समझ लेता है; इसलिये उसके मन में वह कुरेद भी नहीं होती, जो चक्र धर के मन में उत्पन्न हुई थी। फिर लुत्फ़ की बात यह है कि उसका धन का लोभी बाप भी "हृदय परिवर्तन" के चूरन से शुद्ध होकर जेल में आ जाता है। वहां से रिहा होकर बेटा बाप के हाथ में हाथ डालकर उसी घर में लौट आता है, जहां से विद्रोह करके वह व्यापक क्रान्ति करने और जीवन के मिथ्या आदर्शों का अन्त करने निकला था।

यह सत्याग्रही की जीत हो सकती है; पर कान्तिकारी की हार में संदेह नहीं। प्रश्न यह उठता है कि प्रेमचंद का नायक अथवा आर्ट यह हार क्यों अंगीकार करता है? इसका कारण क्या है?

प्रेमचन्द को सुधारवादी बताने वाले साहित्यकार और आलोचक कहते हैं कि यह गांधीवाद है।

उनकी यह बात मानने से किसी को भी संकोच नहीं हो सकता। निस्संदेह यह गांधीवाद है। लेकिन यहीं बात का अन्त नहीं होता। अब हमें यह देखना होगा कि गांधीवाद का सामाजिक आधार क्या है।

जिस प्रकार समाज में उत्पन्न होने वाले परिवर्तन व्यक्तियों और घटनाओं में प्रकट होते हैं। उसी प्रकार समाज से उत्पन्न होने वाला प्रत्येक दर्शन भी

व्यक्तियों और घटनाओं में उत्पन्न होता है। किसी दर्शन और विचार को किसी व्यक्ति विशेष से सम्बंधित किया जा सकता है; लेकिन वह उसे आकाशवाणी के रूप में प्राप्त नहीं होता और न वह उस व्यक्ति विशेष के साथ उत्पन्न होता तथा मर जाता है। यही सिद्धान्त गांधीवाद पर लागू होता है जो गांधीजी के व्यक्तित्व से सम्बंधित अवश्य है लेकिन हमें उसकी जड़ें अपने वर्ग विभाजित समाज में वर्गों में खोजने से मिलेंगी।

प्रेमचंद सन् १९३५ में हिन्दी साहित्य-परिषद् की बैठक के सिलसिले में वर्धा गये और वहां उनकी गांधी जी से पहली और अंतिम भेंट हुई। लौटकर आये तो अपनी इस भेंट का जिक्र शिवरानी देवी से किया। वह गांधी जी के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित थे।

शिवरानी बोलीं:—"इसका मतलब है आप भी महात्मा गांधी के चेले हो गये।"

प्रेमचन्द:—"चेला बनने का मतलब किसी की पूजा करना नहीं, उसके गुणों को अपनाना होता है। मैंने उन्हें अपना कर ही तो 'प्रेमाश्रम' लिखा जो सन् १९२२ में छपा है।

शिवरानी:—"वह तो पहले ही लिखा जा रहा था, उसमें महात्मा गांधी की कौन ख़ास बात हुई।"

प्रेमचंद:—"इसका अर्थ यह है कि वह जो कुछ करना चाहते हैं, उसे मैं पहले ही कर रहा था।"

शिवरानी:—"यह तो कोई दलील न हुई।"

प्रेमचंद ने कहा कि दलील की बात नहीं। वह भी मज़दूरों किसानों की भलाई के लिये आंदोलन चला रहे हैं और मैं भी क़लम से यही कुछ कर रहा हूँ। (प्रेमचन्द घर में)

हजारों लाखों हिन्दुस्तानियों की तरह प्रेमचंद ने भी भूल से यह समझ लिया कि गांधी जी जो कुछ चाहते हैं, वह पहले से वही कुछ कर रहे थे। "प्रेमाश्रम" में मनोहर ग़ौसखां को कत्ल करता है और प्रेमचंद एक कलाकार की सहानुभूति और पक्षपात के साथ उसके कृत्य का समर्थन करते हैं, उसे वीर और शूरमा बताते हैं। लेकिन गांधी जी ने मनोहर के कृत्य का कभी समर्थन नहीं किया बल्कि वह मनोहर के कृत्य को आधे में ही रोकने के लिये आगे आये थे। कांग्रेस के नेता बने थे।

मनोहर का यह कृत्य कोई व्यक्तिगत कृत्य नहीं था, वह इस वर्ग का कृत्य था, जो लूट-खसोट से और घोर दरिद्रता से उत्पीड़ित था। गौसखां के बाद

उसका अगला वार ज्ञानशंकर जमींदार, उसके संरक्षक अंग्रेज और सारे शोषक वर्ग पर पड़ता था। युद्ध के पश्चात् जनता का यह सामूहिक आन्दोलन शुरू हो चुका था। इस आंदोलन को रोकने के लिये ही जलियाँवाला बाग का हत्याकांड घटित हुआ था। लेकिन जनता का जोश गोलियों से शांत नहीं हुआ करता। यदि उनके आन्दोलन को स्वाभाविक ढंग से आगे बढ़ने दिया जाता तो गोलियों से तपकर निकलने वाली जनता न सिर्फ अंग्रेजी शासन का बल्कि प्रत्येक प्रकार के शोषण का अन्त करके दम लेती। प्रेमचन्द जनता की जिस महानता के कायल थे वह अन्तस्तल से उभर कर ऊपर आ जाती।

पूंजीवादी वर्ग ने भी जनता के यह तेवर पहचान लिये थे और उनसे वे स्वभावतः ही भयभीत थे। अब तक कांग्रेस-आन्दोलन कुछ पढ़े लिखे लोगों और उनके अपने वर्ग तक सीमित था। श्रमिक वर्ग पहली बार स्वतन्त्रता-संग्राम में सम्मिलित हो रहा था। उसकी भावना को इस हद तक उभारना जरूरी था कि विदेशी सरकार से सौदा पटाया जा सके, समझौता हो सके, जान के स्थान पर गोबिन्द को गद्दी पर बैठाया जा सके; लेकिन इस भावना को लूट-खसोट की सम्पूर्ण व्यवस्था से, इस समाज से टकराने से रोका जाये।

इस भय और दूरदर्शिता का नाम गाँधीवाद है जिसका आशय व्यक्तिगत सम्पत्ति और सम्पत्तिशाली वर्ग की रक्षा करना है। गोया गांधीवाद वह वृक्ष है, जिसकी जड़ें 'रामराज्य,' 'ट्रस्टीशिप,' 'हृदय परिवर्तन,' 'सत्याग्रह,' 'अहिंसा' और 'सत्य' में निहित हैं; और उसकी छाया में विडम्बना पलती है।

देश में मजदूर आन्दोलन इतना सशक्त नहीं था कि गान्धीवाद का विवेचन करके उसके वर्ग-आधार को समझ लिया जाता। मध्यमवर्ग के स्वतन्त्रता प्रिय सच्चे नौजवानों ने इस सिद्धान्त को अपना लिया, क्योंकि उनके सामने संघर्ष का और कोई व्यापक कार्यक्रम नहीं था और फिर मध्यमवर्ग यद्यपि श्रम की दृष्टि से मजदूर वर्ग के समीप होता है; लेकिन सामाजिक दृष्टि से वह पूंजीवाद की परम्पराओं को अपनाता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और विरासत के संरक्षण की भावना उसके जन्मजात संस्कारों में निहित रहती है।

प्रेमचन्द का जन्म भी मध्यमवर्ग में हुआ था। उनकी भी गांव में पैत्रिक भूमि थी। पैत्रिक घर था और 'घर' से उन्हें वह अनुराग था, जो मध्यमवर्ग के लोगों को हुआ करता है। इस अनुराग के कारण वे बार-बार देहात में जाने की इच्छा करते रहे। आखिर वे देहात में गये, पूर्वजों के कच्चे मकान की जगह पक्का मकान बनवाया और यही कारण था कि वे सन् १६३० के सत्याग्रह आन्दोलन में बहुत चाहने के बावजूद जेल नहीं जा सके। सोचते रहे

कि शिवरानी चली गयीं, यदि वे भी चले गये तो बच्चों का और घर का क्या बनेगा ?

सत्याग्रह की लड़ाई इसी प्रकार लड़ी जाती थी कि घर भी बना रहे और जेल यात्रा भी हो जाये। बड़े आदमी जब जेल जाते थ, तो बाहर उनका कारोबार बराबर चलता रहता था।

प्रेमचन्द ने जीवन को खिलाड़ी की भांति बिताने का जिक्र प्रायः किया है। यह खिलाड़ीपन का दर्शन भी गान्धीवाद ही की एक धारा है। उसने बहुत से लोगों को खिलाड़ी बनाया है; लेकिन उनके सिद्धान्त को चर्खे से बांधे रखा है। प्रेमचन्द के अमरकान्त और चक्रधर भी खिलाड़ी थे। बड़ी ही शुद्ध भावना और ईमानदारी से आन्दोलन में शामिल हुए थे। लेकिन आज उन्हें ढूंडना हो तो वे काँग्रेस के बड़े-बड़े नेताओं, पदाधिकारियों और मंत्रियों में मिलेंगे। चूँकि उन्होंने अपने कृत्य का विवेचन करके उसकी त्रुटियों और न्यूनताओं को नहीं समझा। चूंकि वे अहिंसा के पुजारी बनकर हार को ही जीत समझते रहे। जिसका परिणाम यह हुआ कि होते-होते पाखंड उनके जीवन का अंग बन गया और अब वे अपने इस पाखंड से गान्धीवाद को सार्थक और साकार बनाये हुए हैं।

प्रेमचन्द के यहाँ बड़ा खिलाड़ी—गांधी ही का दूसरा रूप "रंग भूमि" का नायक सूरदास है। जो एक पैसे के लिये तीन-तीन मील दौड़ लगाता है, पैत्रिक सम्पत्ति—अपनी भूमि की रक्षा के लिये एकाकी और व्यक्तिगत ढंग से लड़ता है। वह यथार्थ से आँखें मूंद कर खिलाड़ी के सदृश लड़ता हुआ मर जाता है। प्रेमचन्द उसे सच्चा सत्याग्रही और आदर्श व्यक्ति कहते हैं उसे प्रस्तुत करने म कलाकार के पक्षपात से काम लेते हैं।

यह आदर्श सम्पत्ति के संरक्षण का आदर्श है। अपने जन्मजात संस्कारों को बदलना आसान नहीं, बहुत कठिन है। इंसान अपने वर्ग की रूढ़िगत परम्पराओं को झटक कर हजार बार आगे बढ़ता है और वे हजार बार मार्ग काट कर नया रूप धारण करके सामने आ जाती हैं। प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में जिन रूढ़िगत परम्पराओं का दामन झटक दिया था, गाँधीवाद के रूप में वे फिर सामने आगयीं और उन्होंने बिना पहिचाने उन्हें फिर अपना लिया।

इसके बाद जब सत्याग्रह, अहिंसा और जुलूसों से उनका विश्वास उठ जाता है और "भाड़े के टट्टू" कहानी का नायक रमेश जेल से छूटकर वर्ग क्रान्ति की घोषणा कर देता है; लेकिन फिर "कफन" कहानी में वे सिर्फ जीवन की आलोचना करके ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। कृषकों तथा मजदूरों की

भावना को बिलकुल नहीं उभारते। धीसू और माधव को सिर्फ चंडूखाने में लेजाकर छोड़ देते हैं।

सन् उनत्तीस तीस में और पैंतीस छत्तीस तक मजदूर आन्दोलन बहुत आगे बढ़ गया था। उन्होंने कानपुर, अहमदाबाद और बम्बई में बड़ी-बड़ी हड़तालें की थीं। प्रेमचन्द उनका जिक्र नहीं करते अपनी रचनाओं को मध्यम वर्ग तक ही सीमित रखते हैं। 'गोदान' में मजदूरों की हड़ताल का गौण-रूप से उल्लेख किया है। उसे भी बुरी तरह कुचल दिया जाता है और मजदूरों पर जो अत्याचार और दमन होता है उसका प्रतिकार खन्ना के मिल को दैवयोग से आग लगाकर भावुकतापूर्ण ढँग से लिया गया है। "मिल मजदूर" फिल्म में समझौता कमेटी अर्थात् सुलाह कमेटी मौजूद है। और "डमुल का कैदी" कहानी में मजदूरों के संघर्ष की जो बाढ़ आती है, उसे आवागमन की मरु-भूमि ने सुखा दिया है।

इन सब बातों के बावजूद मानवीय-प्रेम प्रेमचन्द के साहित्य की जान है। वह कदाचित लूट-खसोट, अन्याय और अत्याचार सहन करने को तैयार नहीं। जिस प्रकार बिहार के भूकम्प ने उनके पक्के मकान में दरारें डालदी थीं उसी प्रकार जीवन के अनुभवों, कटु और कठोर यथार्थ ने—घटनाओं के झटकों ने उनके गान्धीवाद में दरारें ही नहीं गढ़े डाल दिये। इस पेड़ की टहनियाँ झड़ चुकी थीं, सिर्फ जड़ शेष थी। लेकिन "गोदान" में भी टूटती और सूखती हुई दिखाई देती है क्योंकि होरी किसान जिस भूमि पर जान देता है और दरिद्र होते हुए भी पूंजीवादी वर्ग की परम्पराओं से चिपटा हुआ है, अन्त में उसे खोकर मजदूर बनने के लिये विवश हो जाता है।

मध्यम वर्ग को टूटकर मजदूर बनते दिखाना गांधीवाद के आधार आदर्श-वादी दर्शन की हार है और प्रेमचन्द की प्रगतिशील कला, दर्शन और साहित्य को जीत। उन्होंने समझ लिया था कि इस शोषण व्यवस्था में मध्यम वर्ग के लिये अपना अस्तित्व बनाये रखना सम्भव नही। इससे विदित है कि उनका कदम किस दशा में उठ रहा था और इसीसे उनके साहित्य में ताजगी और निखार आ रहा था।

: २० :

कीर्ति

"मनुष्य-जीवन की सबसे बड़ी लालसा यही है कि वह कहानी बन जाय और उसकी कीर्ति हर एक जबान पर हो" (प्रेमचन्द)

प्रेमचन्द को अपने जीवन में काफी कीर्ति प्राप्त हो गई थी। वह उर्दू और हिन्दी के सर्वोत्तम लेखक गिने जाते थे, कोई दूसरा कहानीकार उनके आस-पास भी नहीं आता था। उर्दू वालों नें उन्हें "फितरतनिगार" और हिन्दी वालों मे "उपन्यास सम्राट्" की उपाधि से सम्मानित किया था। उनकी कहानियाँ गुजराती, मराठी और बंगाली आदि प्रान्तीय भाषाओं में तो अनुवाद होती ही थीं, लेकिन इसके अतिरिक्त अँग्रेजी और जापानी आदि विदेशी भाषाओं में भी उनकी कुछ कहानियाँ अनुवाद हो चुकी थीं और उनकी कीर्ति अब तक फैलती जा रही है। अभी रूसी भाषा में "प्रेमाश्रम" अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

लेकिन प्रेमचन्द ने कीर्ति प्राप्त करने का कभी प्रयत्न नहीं किया क्योंकि प्रयत्न से न कीर्ति प्राप्त होती है और न कीर्ति का कोई लाभ है, बल्कि उसका मार्ग दूसरा है। प्रेमचन्द लिखते हैं—

"अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करें तो मान, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पांव चूमेंगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिंता हमें क्यों सताये? और उसके न मिलने से हम निराश क्यों हों? सेवा में तो आध्यात्मिक आनन्द है ही, वही हमारा पुरस्कार है।"

फिर भी हर एक व्यक्ति के मन में प्रसिद्धि की जो लालसा होती है, उसका कारण क्या है? प्रेमचन्द अपनी कहानी "लेखक" में इसका कारण बताते हैं। लेखक अपनी पत्नी से कहता है :—

"अब तुम्हें कैसे समझाऊँ, प्रत्येक प्राणी के मन में आदर और सम्मान

को एक क्षुधा होती है ? तुम पूछोगी यह क्षुधा क्यों होती है। इसलिये कि यह हमारे आत्म-विकास की एक मंजिल है। हम उस महान सत्ता के सूक्ष्मांग हैं, जो समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। अंश में पूर्ण गुणों का होना लाजिमी है। इसलिये कीर्ति और सम्मान आत्मोन्नति और ज्ञान की ओर हमारी स्वाभाविक रुचि है। मैं इस लालसा को बुरा नहीं समझता।"

कीर्ति की लालसा विकास की कामना का दूसरा नाम है और वह भी प्राप्त हो सकती है, जब मनुष्य जीवन के सम्पूर्ण विकास, ऐतिहासिक सत्य को आगे बढ़ाने में मदद करे। मनुष्य अपने निजी विकास को इस प्रकार सामूहिक विकास में शामिल करदे, जिस प्रकार छोटे-छोटे नाले अपने आपको नदी में मिला देते हैं, और नदी का बहाव बढ़ता और फैलता जाता है और वह नदी जीवन को सींचती, उर्वर और समृद्ध बनाती चली जाती है। यही कर्म, कर्म और यही त्याग, त्याग है। जो वर्ग और त्याग इस सिद्धान्त को छोड़कर किया जाता है, उसका परिणाम कीर्ति नहीं बदनामी है और वह जीवन के लिये हानिप्रद है, क्योंकि उसका उद्देश्य विकास को आगे बढ़ाने के बजाय उसे रोकना होता है।

प्रेमचन्द ने निश्चित् रूप से जीवन के विकास में वृद्धि की है। वास्तव में उनका जीवन ही विकास का आन्दोलन था। जैसे-जैसे साहित्य का प्रगतिशील आंदोलन अपनी परम्पराओं पर स्थिर रहकर आगे बढ़ रहा है और फैल रहा ह, प्रेमचन्द की कीर्ति उज्वल होती और फैलती जा रही है।

प्रेमचन्द के बाद प्रगतिशील लेखकों ने जीवन की आलोचना का काम भले ही किया है; लेकिन क्रियाशील और साधु पात्र (Positive character) बहुत ही कम पेश किये हैं। प्रेमचन्द के बाद साहित्य के प्रगतिशील आन्दोलन का काफिला फ्रायडवाद की टेढ़ी-मेढ़ी घाटियों में भटक गया था। इससे जिस कदर आन्दोलन की प्रगतिशील परम्पराओं का ह्रास हुआ, उसी कदर प्रेमचन्द की कीर्ति भी मंद पड़ गयी। हम उन्हें सुधारवादी कहकर उनकी उपेक्षा करते रहे, अगर पढ़ना एकदम बन्द नहीं किया था, तो कम जरूर कर दिया था। हम समझते थे कि फ्रायड के सिद्धान्तों ने हमें "मनो-विश्लेषण" का जो गुरु मंत्र दिया है, प्रेमचन्द इससे परिचित न थे और इन सिद्धान्तों के कारण हमारी कहानी उनसे बहुत आगे बढ़ गई है। लेकिन हम उनको और अपने आपको भुला रहे थे। प्रेमचन्द ने फ्रायड के सिद्धान्तों को देखा, परखा और फिर रद्द कर दिया। "मिस पद्मा" कहानी उन्होंने इसी विषय को लेकर लिखी है। वेइस कहानी में लिखते हैं (हिंदी में यह शब्द नहीं मैं उर्दू से

अनुवाद करके दे रहा हूँ) :—

"पद्मा ने शिक्षा से जो लाभ उठाया था, उसमें मनोवासना की पूर्ति ही जीवन का उद्देश्य था। संयम आत्म विकास के लिये विष था। फ्रायड के सिद्धान्त उसके जीवन का आधार मात्र थे। किसी अङ्ग को बांध दो, थोड़े ही दिनों में रक्त-प्रवाह बन्द हो जाने के कारण बेकार हो जायेगा, विषैला पदार्थ उत्पन्न करके जीवन को भय और संकट में डाल देगा। यह जनून पागलपन और मस्तिष्क की खराबी के रोग इतने क्यों बढ़ गये हैं, केवल इसीलिये कि मनोवासनाओं को रोका गया। भोग में उसे कोई नैतिक बाधा न थी, इसे वह केवल देह की एक भूख समझती थी।"

एक बार प्रेमचन्द और जैनेन्द्र कुमार में साहित्य पर बात-चीत हो रही थी। विषय टैगोर और श्रुतचन्द्र थे। बात-चीत का आरम्भ जैनेन्द्र के एक प्रश्न से हुआ था और वह जैनेन्द्र ही के शब्दों में यहाँ उद्धृत की जाती है:—

"जैनेन्द्र कुमारः-बंगाली साहित्य हृदय को अधिक छूता है—इससे आप सहमत हैं, तो इसका कारण क्या है ? प्रेमचन्द ने कहाः—सहमत तो हूँ। कारण, उसमें स्त्री-भावना अधिक है। मुझमें वह काफी नहीं है।'

जैनेन्द्र उनकी ओर देखने लगे और पूछा—स्त्रीत्व है, इसीसे वह साहित्य हृदय को अधिक छूता है ?"

प्रेमचन्द बोले:—हां तो। वह जगह-जगह Reminisent (स्मरणशील) हो जाता है। स्मृति से भावना की तरलता अधिक होती है, संकल्प में भावना का काठिन्य अधिक होता है। विधायकता के लिये दोनों चाहियें—

कहते-कहते उनकी आंखें जैनेन्द्र को पार कर कहीं दूर देखने लगी थीं। उस समय उन आंखों की सुर्खी एकदम गायब होकर उनमें एक प्रकार की पारदर्शी नीलिमा भर गई थी। बोले—जैनेन्द्र मुझे ठीक नहीं मालूम। मैं बंगाली नहीं हूँ। वे लोग भावुक हैं। भावुकता में जहां पहुँच सकते हैं, वहाँ मेरी पहुँच नहीं। मुझमें उतनी देन कहाँ? ज्ञान से जहां नहीं पहुँचा जाता, वहां भी भावना से पहुँचा जाता है। लेकिन जैनेन्द्र, मैं सोचता हूं काठिन्य भी चाहिए। रवीन्द्र, शरत् दोनों महान हैं। पर हिन्दी के लिये क्या वही रास्ता है; शायद नहीं। हिन्दी राष्ट्र भाषा है। मेरे लिये तो वह राह नहीं हो है।" ("हंस" अक्तूबर सन् १६४८)

इसलिय प्रेमचन्द ऐसी कविता को खास तौर पर गजल को पसन्द नहीं करते थे, जो सिर्फ जुल्फों के पेचो-खम मैं उलझकर रह जाये। एक बार

दयानारायण निगम ने "ज़माना" का आतिश नम्बर निकाला था, तो प्रेमचन्द उनपर बहुत बिगड़े थे कि इतने पृष्ठ व्यर्थ खो दिये। उन्हें वह साहित्य पसन्द नहीं था, जो युग के तकाजों को पूरा न करता हो। स्त्री-भावना-प्रधान साहित्य को वह राष्ट्र के पतन का द्योतक समझते थे। लिखते हैं:—

"निस्सन्देह, काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाता है; पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय श्रृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होने वाली विरह-व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो—जिसमें दुनिया और दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गई हो, हमारी विचार और भाव सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरी कर सकता है? श्रृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अङ्ग मात्र है, और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और उस युग के लिये गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।"

एक ओर प्रगतिशील आंदोलन पर फ्रायडवादियों का कब्जा था और उन्होंने अपने आपको प्रगतिशील लेखक घोषित करके अपने मध्यमवर्ग के और बुर्जवा वर्ग की स्त्री-पुरुष सम्बन्धी भावनाओं और दुर्बलताओं को बयान करना ही काफी समझा और मजदूर-किसानों के आन्दोलन से और जनसाधारण की भावनाओं और आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं रखा। दूसरी ओर सुधारवादी और गांधीवादी लेखक थे। वे प्रगतिशील आंदोलन के साथ भी थे और विरुद्ध भी थे। वह प्रेमचन्द का मूल्यांकन भी अपने ही सिद्धान्तों के अनुसार करते थे। इसलिए वे प्रेमचन्द को प्रगतिशील मानते हुये भी उन्हें सुधारवादी और गांधीवादी बनाकर पेश करते थे और उनके साहित्य के क्रांतिकारी अंश को सर्वथा छोड़ देते थे। इन लोगों के किसी लेखक, विचारक और नेता को बड़ा बनाकर पेश करने का एक मात्र उद्देश्य यह होता है कि उसकी कीर्ति उनके पुराने और जर्जर समाज को सहारा मिले और लोग उसकी प्रगतिशील और क्रान्तिकारी परम्पराओं को भूलकर उसे देवता बनाकर पूजते रहें।

साहित्य के वर्ग रूप पर उनकी दृष्टि नहीं जाती। गांधीवाद तो राजनीति में भी वर्ग-विभाजन पर पर्दा डालता है। जो लोग गाँधी को अपने युग का सबसे बड़ा प्रगतिशील और क्रान्तिकारी कहते हैं, अगर वे प्रेमचन्द को भी प्रगतिशील कहते हैं; तो केवल उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं। उन्हें

क्रान्ति की प्रवर्तक उन शक्तियों से कुछ भी सरोकार नहीं होता, जो साहित्य और मनुष्य को वास्तव में प्रगतिशील बनाती है, जो प्रेमचन्द की रचनाओं में ओत-प्रोत हैं।

बुर्ज़्वा वर्ग के लेखकों ने रूस के महान् कलाकार टालस्टाय के साथ भी यही बर्ताव किया था। टालस्टाय ने अपने उपन्यासों और कहानियों में जार-शाही समाज पर जो आलोचना की है, शासन वर्ग के अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध जो आवाज़ उठाई है, दरिद्र किसानों की भावनाओं और अभि-लाषाओं को जो लावे की तरह उबलते हुए दिखाया है, इस से उन्हें कोई सरो-कार नहीं। वे तो केवल टालस्टाय से अपना सम्बंध जोड़कर अपनी राजनीतिक-पूंजी में बृद्धि करते हैं। सिर्फ लेनिन ने टालस्टाय की रचनाओं के क्रान्तिकारी रूप पर प्रकाश डाला और बताया कि जब देश में इतनी बड़ी हलचल थी, तो कैसे सम्भव था कि टालस्टाय सरीखा सचमुच महान लेखक उसके कुछ महत्त्व-पूर्ण पहलुओं को प्रतिबिम्बित न करता।

अब जब कि १५ अगस्त सन् १९४७ के पश्चात् देश की राजनीति का वर्गरूप उभर कर सामने आ गया है और साहित्य का आंदोलन भी स्पष्ट रूप से दो कैम्पों में विभाजित हो गया है, प्रेमचंद को नये दृष्टिकोण से देखा और परखा जा रहा है। इस बारे में यह बात उल्लेखनीय है कि हमारे कुछ साथी प्रेमचद की तुलना टालस्टाय से करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि जहां तक किसानों की लूट-खसोट और शासक वर्ग के अत्याचार और अन्याय के विरोध की बात है, दानो की तुलना हो सकती है। लेकिन दोनों में एक बड़ा अंतर है, जिसे भुलाया नहीं जा सकता। अन्तर यह है कि टालस्टाय शुरू से सुधारवादी थे और अन्त में एक दम पादरी बन गये। वह रूसी किसानों पर होने वाले अत्या-चार, दमन और दु.ख की कहानियाँ तो लिखते रहे; लेकिन जब यही किसान क्रान्ति करने को उठे तो टालस्टाय के सामंती संस्कार जाग उठे। वह क्रान्ति से भयभीत होकर चर्च में जा छिपे और धर्म का प्रचार करने लगे। उनकी धार्मिक रंग की पुस्तकें हमारे यहाँ गांधीवाद का प्रचार करने के लिये बहुत इस्तेमाल हुईं और अब तक हो रही हैं। इसके विपरीत प्रेमचंद का धर्म (मज़हब) में विश्वास नहीं था, बल्कि वह धर्म को पाखंड का आभूषण समझते थे और कहते थे कि सौगंद झूठ का समर्थन मात्र है। यही कारण है कि उनका सुधारवाद क्रान्ति मे तबदील हो रहा था। उनमें सुधारवाद का अभी जो थोड़ा-बहुत अंश बाक़ी था, उसके दूर हो जाने की सम्भावना थी। टालस्टाय नें क्रान्ति की प्रवर्तक शक्तियों को अनजाने ही चित्रित किया है और प्रेमचंद ने

जान-बूझकर क्रान्तिकारी शक्तियों को उभारा है। प्रेमचंद का विकास जारी था, जब कि टालस्टाय ने जीवन के अंतिम पर्व में विकास को तिलांजलि दे दी थी।

देश में जैसे-जैसे क्रान्ति की प्रवर्तक-शक्तियाँ उभर रही हैं, विचार स्पष्ट हो रहे हैं--प्रेमचंद की कीर्ति और महानता भी उभर रही है। साहित्य का प्रगतिशील आंदोलन जिसकी उन्होंने नींव डाली थी भूल-भुलैयों से निकलकर सीधे और ठीक मार्ग पर चल पड़ा है।

परिशिष्ट

साहित्य का उद्देश्य

(सभापति पद से भाषण)

(अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का पहला अधिवेशन सन् १९३६ में लखनऊ में हुआ। प्रेमचन्दजी उसके प्रधान थे और उन्होंने सभापति पद से यह भाषण दिया था। इसमें उन्होंने साहित्य का उद्देश्य भली प्रकार स्पष्ट किया है।)

सज्जनो,

यह सम्मेलन हमारे साहित्य के इतिहास में एक स्मरणीय घटना है। हमारे सम्मेलनों और अंजुमनों में अब तक आम तौर पर भाषा और उसके प्रचार पर ही बहस की जाती रही है। यहाँ तक कि उर्दू और हिन्दी का जो आरम्भिक साहित्य मौजूद है, उसका उद्देश्य विचारों और भावों पर असर डालना नहीं, किन्तु केवल भाषा का निर्माण करना था। वह भी एक बड़े महत्व का कार्य था। जब तक भाषा एक स्थायी रूप न प्राप्त कर ले, उसमें विचारों और भावों को व्यक्त करने की शक्ति ही कहाँ से आयेगी? हमारी भाषा के 'पायनियरों' ने—रास्ता साफ करनेवालों ने—हिन्दुस्तानी भाषा का निर्माण करके जाति पर जो एहसान किया है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ न हों तो यह हमारी कृतघ्नता होगी।

भाषा साधन है, साध्य नहीं। अब हमारी भाषा ने वह रूप प्राप्त कर लिया है कि हम भाषा से आगे बढ़कर भाव की ओर ध्यान दें और इसपर विचार करें कि जिस उद्देश्य से यह निर्माण-कार्य आरम्भ किया गया था, वह क्योंकर पूरा हो। वही भाषा, जिसमें आरम्भ में 'बागो-बहार' और 'बैताल-पचीसी' की रचना ही सबसे बड़ी साहित्य-सेवा थी, अब इस योग्य हो गयी है कि उसमें शास्त्र और विज्ञान के प्रश्नों की भी विवेचना की जा सके और यह सम्मेलन इस सचाई की स्पष्ट स्वीकृति है।

भाषा बोल-चाल की भी होती है और लिखने की भी। बोल-चाल की भाषा तो मीर अम्मन और लल्लूलाल के जमाने में भी मौजूद थी; पर उन्होंने जिस भाषा की दाग-बेल डाली, वह लिखने की भाषा थी और वही साहित्य है। बोल-चाल से हम अपने करीब के लोगों पर अपने विचार प्रकट करते हैं—अपने हर्ष-शोक के भावों का चित्र खींचते हैं। साहित्यकार वही काम लेखनी द्वारा करता है। हाँ, उसके श्रोताओं की परिधि बहुत विस्तृत होती है, और अगर उसके बयान में सचाई है, तो शताब्दियों और युगों तक उसकी रचनाएँ हृदयों को प्रभावित करती रहती है।

परन्तु मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि जो कुछ लिख दिया जाय, वह सब-का-सब साहित्य है। साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गयी हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित एवं सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य में वह गुण पूर्णरूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गयी हों। तिलस्माती कहानियों, भूत-प्रेत की कथाओं और प्रेम वियोग के आख्यानों से किसी जमाने में हम भले ही प्रभावित हुए हों, पर अब उनमें हमारे लिए बहुत कम दिलचस्पी है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव-प्रकृति का मर्मज्ञ साहित्यकार राजकुमारों की प्रेम-गाथाओं और तिलस्माती कहानियों में भी जीवन की सचाइयां वर्णन कर सकता है, और सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है; परन्तु इससे भी इस सत्य की पुष्टि ही होती है कि साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयों का दर्पण हो। फिर आप उसे, जिस चौखटे में चाहें, लगा सकते हैं—चिड़े की कहानी और गुलोबुलबुल की दास्तान भी उसके लिए उपयुक्त हो सकती है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गयी हैं; पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।

हमने जिस युग को अभी पार किया है; उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलस्म बाँधा करते थे! कहीं फिसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख्याल की और कहीं चन्द्रकान्ता-संतति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत-रस-प्रेम की तृप्ति; साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन; दोनों परस्पर-विरोधी

वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौन्दर्य का आँखों को। इन्हीं शृंगारिक भावों को प्रकट करने में कवि-मण्डली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य में कोई नयी शब्द-योजना, नयी कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफी था—चाहे वह वस्तु-स्थिति से कितनी ही दूर क्यों न हो। आशियाना (=घोंसला) और क़फ़स (=पिंजरा), बर्क़ (=बिजली) और ख़िरमन (=खलियान) की कल्पनाएँ विरह-दशाओं के वर्णन में निराशा और वेदना की विविध अवस्थाएँ, इस ख़ूबी से दिखायी जाती थीं कि सुनने-वाले दिल थाम लेते थे। और आज भी इस ढंग की कविता कितनी लोक-प्रिय है, इसे हम और आप खूब जानते हैं।

निस्सन्देह, काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है; पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय शृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होने-वाली विरह-व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो—जिसमें दुनिया और दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गयी हो, हमारी विचार और भाव सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है? शृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अंग मात्र है, और जिस साहित्य का अधिकांश इसीसे सम्बन्ध रखता हो वह उस जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।

क्या हिन्दी और क्या उर्दू—कविता में दोनों की एक ही हालत थी। उस समय साहित्य और काव्य के विषय में जो लोक-रुचि थी, उसके प्रभाव से अलिप्त रहना सहज न था। सराहना और क़द्रदानी की हवस तो हरएक की होती है। कवियों के लिए उनकी रचना ही जीविका का साधन थी। और कविता की क़द्रदानी रईसों और अमीरों के सिवा और कौन कर सकता है? हमारे कवियों को साधारण जीवन का सामना करने और उसकी सचाइयों से प्रभावित होने के या तो अवसर ही न थे, या हर छोटे-बड़े पर कुछ ऐसी मानसिक गिरा-वट छायी हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था।

हम इसका दोष उस समय के साहित्यकारों पर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदय को स्पन्दित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो, और उसका

एक एक शब्द नैराश्य में डूबा हो, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा हो और शृंगारिक भावों का प्रतिबिम्ब बना हो, तो समझ लीजिये कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फँस चुकी है और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाकी नहीं रहा। एसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बन्द करली हैं और उसमें से दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गयी है।

परन्तु हमारी साहित्यक रुचि बड़ी तेजी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता; किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूँढ़ता और न अनुप्रास का अन्वेशण करता है; किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है, जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है, जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति पैदा करता है।

नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अन्तर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवन में जो कुछ देखते हैं, या जो कुछ हम पर गुजरती है, वही अनुभव और वही चोटें कल्पना में पहुँचकर साहित्य सृजन की प्रेरणा करती हैं। कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दरजे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत हो—जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।

पुराने जमाने में समाज की लगाम मजहब के हाथ में थी। मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और वह भय या प्रलोभन से काम लेता था—पुण्य-पाप के मसले उसके साधन थे।

अब साहित्य ने यह काम अपने जिम्मे ले लिया है और उसका साधन, सौन्दर्य-प्रेम है। वह मनुष्य में इसी सौन्दर्य-प्रेम को जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें सौन्दर्य की अनुभूति न हो। साहित्यकार में यह

वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौन्दर्य-बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उसपर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। तो कहिये कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बांधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज़ है। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौन्दर्य-वृत्ति को जाग्रत करके अपना यत्न सफल समझता है।

पर साधारण वकीलों की तरह साहित्यकार अपने मुवक्किल की ओर से उचित-अनुचित—सब तरह के दावे नहीं पेश करता, अतिरंजना से काम नहीं लेता, अपनी ओर से बातें गढ़ता नहीं। वह जानता है कि इन युक्तियों से वह समाज की अदालत पर असर नहीं डाल सकता। उस अदालत का हृदय-परिवर्तन तभी सम्भव है, जब आप सत्य से तनिक भी विमुख न हों, नहीं तो अदालत की धारणा आपकी ओर से खराब हो जायगी और वह आपके खिलाफ फ़ैसला सुना देगी। वह कहानी लिखता है, पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए; मूर्ति बनाता है, पर ऐसी कि उसमें सजीवता हो और भावव्यंजकता भी—वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र हर हालात में और हर मौके पर इस तरह आचरण करें, जैसे रक्त-मांस का बना मनुष्य करता है; अपनी सहज सहानुभूति और सौन्दर्य-प्रेम के कारण वह जीवन के उन सूक्ष्म स्थानों तक जा पहुँचता है, जहाँ मनुष्य अपनी मनुष्यता के कारण पहुँचने में असमर्थ होता है।

आधुनिक साहित्य में वस्तु-स्थिति-चित्रण की प्रवृत्ति इतनी बढ़ रही है कि आज की कहानी यथा सम्भव प्रत्यक्ष अनुभवों की सीमा के बाहर नहीं जाती। हमें केवल इतना सोचने से ही सन्तोष नहीं होता कि मनोविज्ञान की दृष्टि से सभी पात्र मनुष्यों से मिलते-जुलते हैं; बल्कि हम यह इत्मीनान चाहते हैं कि वे सचमुच मनुष्य हैं, और लेखक ने यथासम्भव उनका जीवन-चरित्र ही लिखा है; क्योंकि कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है; उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की

गयी है अथवा अपने पात्रों की जबान से वह खुद बोल रहा है।

इसीलिए साहित्य को कुछ समालोचकों ने लेखक का मनोवैज्ञानिक जीवन-चरित्र कहा है।

एक ही घटना या स्थिति से सभी मनुष्य समान रूप में प्रभावित नहीं होते। हर आदमी की मनोवृत्ति और दृष्टिकोण अलग है। रचना-कौशल इसीमें है कि लेखक जिस मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से किसी बात को देखे, पाठक भी उसमें उससे सहमत हो जाय। यही उसकी सफलता है। इसके साथ ही हम साहित्यकार से यह भी आशा रखते हैं कि वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारों की विस्तृति से हमें जाग्रत करे, हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत करे—उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमें आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले।

सुधार की जिस अवस्था में वह हो, उससे अच्छी अवस्था में जाने की प्रेरणा हर आदमी में मौजूद रहती है। हममें जो कमजोरियां हैं, वह मर्ज की तरह हमसे चिमटी हुई हैं। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और रोग उसका उलटा, उसी तरह नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य भी प्राकृतिक बात है और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावट से उसी तरह सन्तुष्ट नहीं रहते, जैसे कोई रोगी अपने रोग से सन्तुष्ट नहीं रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सक की तलाश में रहता है, उसी तरह हम भी इस फिक्र में रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमजोरियों को परे फेंककर अधिक अच्छे मनुष्य बनें। इसलिए हम साधु-फकीरों की खोज में रहते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, बड़े-बूढ़ों के पास बैठते हैं, विद्वानों के व्याख्यान सुनते हैं और साहित्य का अध्ययन करतेहैं।

और हमारी सारी कमज़ोरियों की जिम्मेदारी हमारी कुरुचि और प्रेम-भाव से वञ्चित होने पर है। जहाँ सच्चा सौन्दर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेम की विस्तृति है, वहां कमजोरियाँ कहाँ रह सकती हैं? प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमजोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार इसमें सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत, इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। पर जबतक कलाकार खुद सौन्दर्य-प्रेम से छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योति से प्रकाशित न हो, वह हमें यह प्रकाश क्योंकर दे सकता है?

प्रश्न यह है कि सौन्दर्य है क्या वस्तु? प्रकटतः यह प्रश्न निरर्थक सा मालूम होता है; क्योंकि सौन्दर्य के विषय में हमारे मन में कोई शंका—सन्देह

नहीं। हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, ऊषा और संध्या की लालिमा देखी है, सुन्दर सुगन्धि-भरे फूल देखे हैं, मीठी बोलियाँ बोलनेवाली चिड़ियां देखी है, कल-कल निनादिनी नदियां देखी हैं, नाचते हुए झरने देखे हैं,—यही सौन्दर्य है।

इन दृश्यों को देखकर हमारा अन्तःकरण क्यों खिल उठता है? इसलिए कि इनमें रंग या ध्वनि का सामंजस्य है। बाजों का स्वर-साम्य अथवा मेल ही संगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्त्वों के समानुपात के संयोग से हुई है; इसलिए हमारी आत्मा सदा उस साम्य तथा सामंजस्य की खोज में रहती है। साहित्य-कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह इसमें वफादारी, सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और ममता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव हैं, वहीं दृढ़ता है और जीवन है; जहां इनका अभाव है वहीं फूट, विरोध स्वार्थपरता है—द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है। यह बिलगाव—विरोध, प्रकृति-विरुद्ध जीवन के लक्षण हैं, जैसे रोग प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार का चिन्ह है। जहां प्रकृति से अनुकूलता और साम्य है, वहां संकीर्णता और स्वार्थ का अस्तित्व कैसे सम्भव होगा? जब हमारी आत्मा प्रकृति के मुक्त वायुमण्डल में पालित-पोषित होती है, तो नीचता—दुष्टता के कीड़े अपने आप हवा और रोशनी से मर जाते हैं। प्रकृति से अलग होकर अपने को सीमित कर लेने से ही यह सारी मानसिक और भावमय बीमारियाँ पैदा होती हैं! साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है; दूसरे शब्दों में, उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।

'प्रगतिशील लेखक-संघ' यह नाम ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है; अगर यह उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। उसे अपने अन्दर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इसी कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छन्दता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखायी नहीं देती। इसलिए, वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अन्त कर देना चाहता है, जिससे दुनिया में जीने और मरने के लिए इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाय। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाये रखता है। उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों

सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बन्धन में पड़कर कष्ट भोगता रहे। क्यों न ऐसे सामान इकट्ठा किये जायँ कि वह गुलामी और गरीबी से छुटकारा पा जाय? वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतना ही उसकी रचना में जोर और सचाई पैदा होती है। अपनी अनुभूतियों को वह जिस क्रमानुपात में व्यक्त करता है, वही उसकी कला कुशलता का रहस्य है; पर शायद इस विशेषता पर जोर देने की जरूरत इसलिये पड़ी कि प्रगति या उन्नति से प्रत्येक लेखक या ग्रन्थकार एक ही अर्थ नहीं ग्रहण करता। जिन अवस्थाओं को एक समुदाय उन्नति समझ सकता है, दूसरा समुदाय असन्दिग्ध अवनति मान सकता है; इसलिए साहित्यकार अपनी कला को किसी उद्देश्य के अधीन नहीं करना चाहता। उसके विचारों में कला केवल मनोभावों के व्यक्तीकरण का नाम है, चाहे उन भावों से व्यक्ति या समाज पर कैसा ही असर क्यों न पड़े।

उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है, जिससे हममें दृढ़ता और कर्म-शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दुःखावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अन्तर्बाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँच गये, और उन्हें दूर करने की कोशिश करें।

हमारे लिए कविता के ये भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की नश्वरता का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाय, जिनसे हमारे हृदयों में नैराश्य छा जाय। वे प्रेम-कहानियाँ, जिनसे हमारे मासिक-पत्रों के पृष्ठ भरे रहते हैं, हमारे लिए अर्थहीन हैं, अगर वे हममें हरकत और गरमी नहीं पैदा करतीं। अगर हमने दो नवयुवकों की प्रेम-कहानी कह डाली, पर उससे हमारे सौन्दर्य प्रेम पर कोई असर न पड़ा और पड़ा भी तो केवल इतना ही कि हम उनकी विरहव्यथा पर रोयें, तो इससे हममें कौन-सी मानसिक या रुचि-सम्बन्धी गति पैदा हुई? इन बातों से किसी जमाने में हमें भावावेश हो जाता रहा हो; पर आज के लिए वे बेकार हैं। इस भावोत्तेजक कला का अब जमाना नहीं रहा। अब तो हमें उस कला की आवश्यकता है, जिसमें कर्म का सन्देश हो। अब तो हजरते इकबाल के साथ हम भी कहते हैं—

रम्ज़े हयात जोई, जुज़ दर तपिश नयाबी,
दरकुलज़ुम आरमीदन नंगस्त आबे जू रा।
ब आशियाँ न नशीनम ज़े लज्ज़ते परवाज़,
गहे बशाखे गुलम, गहे बरलबे जूयम।

[अर्थात्, अगर तुझे जीवन के रहस्य की खोज है, तो वह तुझे संघर्ष के

सिवा और कहीं नहीं मिलने का—सागर में जाकर विश्राम करना नदी के लिए लज्जा की बात है। आनन्द पाने के लिए मैं घोंसले में कभी बैठता नहीं,—कभी फूलों की टहनियों पर, तो कभी नदी-तट पर होता हूं।]

अतः हमारे पंथ में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है, जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्ति-रूप में उपयोगी है और न समुदाय-रूप में।

मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तोलता हूँ। निस्सन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्य-वृत्ति की पुष्टि करता है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है; पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है, और दुःख भी। आसमान पर छाई लालिमा निस्सन्देह बड़ा सुन्दर दृश्य है; परन्तु आषाढ़ में अगर आकाश पर वैसी लालिमा छा जाय, तो वह हमें प्रसन्नता देनेवाली नहीं हो सकती। उस समय तो हम आसमान पर काली-काली घटाएँ देखकर ही आनन्दित होते हैं। फूलों को देखकर हमें इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलों की आशा होती है, प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर रहने में हमें इसीलिए आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है, और जिन भावों, अनुभूतियों और विचारों से हमें आनन्द मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक है कलाकार अपनी कला से सौन्दर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।

परन्तु सौन्दर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं,उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दुःख का कारण हो सकती है। एक रईस अपने सुरभित सुरम्य उद्यान में बैठकर जब चिड़ियों का कल-गान सुनता है, तो उसे स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होती है; परन्तु एक दूसरा सज्ञान मनुष्य वैभव की इस सामग्री को घृणिततम वस्तु समझता है।

बन्धुत्व और समता, सभ्यता तथा प्रेम सामाजिक जीवन के आरम्भ से ही आदर्शवादियों का सुनहला स्वप्न रहे हैं। धर्म-प्रवर्तकों ने धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक बन्धनों से इस स्वप्न को सचाई बनाने का सतत किन्तु निष्फल यत्न किया है। महात्मा बद्ध, हजरत ईसा, हजरत मुहम्मद आदि सभी पैगम्बरों

और धर्म प्रवर्तकों ने नैतिकता की नींव पर इस समता की इमारत खड़ी करनी चाही; पर किसी को सफलता न मिली और आज छोटे-बड़े का भेद जिस निष्ठुर रूप में प्रकट हो रहा है, शायद कभी न हुआ था।

'आजमाये को आजमाना मूर्खता है', इस कहावत के अनुसार यदि हम अब भी धर्म और नैतिकता का दामन पकड़कर समानता के ऊँचे लक्ष्य पर पहुँचना चाहें, तो विफलता ही मिलेगी। क्या हम इस सपने को उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि समझकर भूल जायँ? तब तो मनुष्य की उन्नति और पूर्णता के लिए कोई आदर्श ही बाकी न रह जायगा। इससे कहीं अच्छा है कि मनुष्य का अस्तित्व ही मिट जाय। जिस आदर्श को हमने सभ्यता के आरम्भ से पाला है, जिसके लिए मनुष्य ने, ईश्वर जाने कितनी कुरबानियाँ की हैं; जिसकी पूर्ति के लिए धर्मों का आविर्भाव हुआ, मानव-समाज का इतिहास जिस आदर्श की प्राप्ति का इतिहास है, उसे सर्वमान्य समझकर, एक अमिट सचाई समझकर, हमें उन्नति के मैदान में कदम रखना है। हमें एक ऐसे नये संगठन को सर्वाङ्गपूर्ण बनाना है, जहाँ समानता केवल नैतिक बन्धनों पर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले, हमारे साहित्य को उसी आदर्श को अपने सामने रखना है।

हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हींकी कद्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलम्बित था और उन्हींके सुख दुःख, आशा निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अन्तःपुर और बंगलों की ओर उठती थी। झोंपड़े और खँडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इसकी चर्चा करता भी था, तो इनका मजाक उड़ाने के लिए। ग्रामवासी की देहाती वेष-भूषा और तौर-तरीके पर हँसने के लिए, उसका शीन-काफ दुरुस्त न होना या मुहाविरों का गलत उपयोग उसके व्यंग्य विद्रूप की स्थायी सामग्री थी। वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है और उसमें भी आकांक्षाएं हैं,—यह कला की कल्पना के बाहर की बात थी।

कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप-पूजा का, शब्द-योजना का, भाव-निबन्धन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊंचा उद्देश्य नहीं है,—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊंची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौंदर्य

का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौंदर्य का अस्तित्व सम्भव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री है,—उस बच्चोंवाली गरीब रूप-रहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है; उसने निश्चय कर लिया है कि रँगे होठों, कपोलों और भौंहों में निस्सन्देह सुन्दरता का वास है,—उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों में सौन्दर्य का प्रवेश कहाँ ?

पर यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौन्दर्य देखनेवाली दृष्टि में विस्तृति आ जाय तो वह देखेगी कि रँगे होठों और कपोलों की आड़ मे अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाये हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों के आँसुओ में त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है। हाँ, उसमें नफ़ासत नहीं, दिखावा नहीं, सुकुमारता नहीं।

हमारी कला यौवन के प्रेम मे पागल है और यह नहीं जानती कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या उसके रूप-गर्व, और चोंचलों पर सिर धुनने में नहीं है। जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा का, आत्म-त्याग का। उसे तो इक़बाल के साथ कहना होगा—

अज़ दस्ते, जुनूने मन जिब्रील ज़बू सैदे,
यज़दाँ बकमन्द आवर ऐ हिम्मते मरदाना।

[अर्थात् मेरे उन्मत्त हाथों के लिए जिब्रील एक घटिया शिकार है। ऐ हिम्मते मरदाना, क्यों न अपनी कमन्द में तू खुदा को ही फाँस लाये ?]

अथवा

चूं मौज साज़े बजूदम ज़े सैल बेपरवास्त,
गुमां मबर कि दरीं बहर साहिले जोयम।

[अर्थात् तरंग की भाँति मेरे जीवन की तरी भी प्रवाह की ओर से बेपरवाह है, यह न सोचो कि इस समुद्र में मं किनारा ढूढ़ रहा हूँ।]

और यह अवस्था उस समय पैदा होगी, जब हमारा सौन्दर्य व्यापक हो जायगा, जब सारी सृष्टि उसकी परिधि में आ जायगी। वह किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित न होगा, उसकी उड़ान के लिए केवल बाग की चहारदीवारी न होगी, किन्तु वह वायु-मण्डल होगा जो सारे भूमण्डल को घेरे हुए है। तब कुरुचि हमारे लिए सह्य न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जायँगे। हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हजारों आदमी कुछ अत्याचारियों की गुलामी करें, तभी हम केवल कागज के

पृष्ठों पर सृष्टि करके ही सन्तुष्ट न हो जायँगे, किन्तु उस विधान की सृष्टि करेंगे, जो सौन्दर्य, सुरुचि, आत्म-सम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।

साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरञ्जन का सामान जुटाना नहीं है,—उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।

हमें अकसर यह शिकायत होती है कि साहित्यकारों के लिए समाज में कोई स्थान नहीं,—अर्थात् भारत के साहित्यकारों के लिए। सभ्य देशों में तो साहित्यकार समाज का सम्मानित सदस्य है और बड़े-बड़े अमीर और मन्त्रि-मण्डल के सदस्य उससे मिलने में अपना गौरव समझते हैं; परन्तु हिन्दुस्तान तो अभी मध्य-युग की अवस्था में पड़ा हुआ है। यदि साहित्य ने अमीरों के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनों, हलचलों और क्रान्तियों से बेखबर हो जो समाज में होरही है,—अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो,तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है। जब साहित्यकार बनने के लिए अनुकूल रुचि के सिवा और कोई कैद नही रही,—जैसे महात्मा बनने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं,—आध्यात्मिक उच्चता ही काफी है, तो महात्मा लोग दर-दर फिरने लगे, उसी तरह साहित्यकार भी लाखों निकल आये।

इसमें शक नहीं कि साहित्यकार पैदा होता है, बनाया नहीं जाता; पर यदि हम शिक्षा और जिज्ञासा से प्रकृति की इस देन को बढ़ा सकें, तो निश्चय ही हम साहित्य की अधिक सेवा कर सकेंगे। अरस्तू ने और दूसरे विद्वानों ने भी साहित्यकार बननेवालों के लिए कड़ी शर्तें लगायी हैं; और उनकी मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक और भावगत सभ्यता तथा शिक्षा के लिए सिद्धान्त और विधियाँ निश्चित कर दी गयी हैं; मगर आज तो हिन्दी में साहित्यकार के लिए प्रवृत्तिमात्र काफ़ी समझी जाती है,और किसी प्रकार की तैयारी की उसके लिए आवश्यकता नहीं। वह राजनीति, समाज-शास्त्र या मनोविज्ञान से सर्वथा अपरिचित हो, फिर भी वह साहित्यकार है।

साहित्यकार के सामने आजकल जो आदर्श रखा गया है, उसके अनुसार ये सभी विद्याएँ उसके विशेष अंग बन गयी हैं और साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रही, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। अब वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता, किन्तु उसे समाज के एक-अंग रूप में देखता है। इसलिए नहीं कि वह समाज पर हुकूमत

करे, उसे अपने स्वार्थ-साधन का औजार बनाये,—मानो उसमें और समाज में सनातन शत्रुता है, बल्कि इसलिए कि समाज के अस्तित्व के साथ उसका अस्तित्व कायम है और समाज से अलग होकर उसका मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।

हममें से जिन्हें सर्वोत्तम शिक्षा और सर्वोत्तम मानसिक शक्तियाँ मिली हैं, उनपर समाज के प्रति उतनी ही जिम्मेदारी भी है। हम उस मानसिक पूँजीपति को पूजा के योग्य न समझेंगे, जो समाज के पैसे से ऊँची शिक्षा प्राप्त कर उसे स्वार्थ-साधन में लगाता है। समाज से निजी लाभ उठाना ऐसा काम है, जिसे कोई साहित्यकार कभी पसन्द न करेगा। उस मानसिक पूँजीपति का कर्तव्य है कि वह समाज के लाभ को अपने निजी लाभ से अधिक ध्यान देने योग्य समझे—अपनी विद्या और योग्यता से समाज को अधिक-से-अधिक लाभ पहुँचाने की कोशिश करे। वह साहित्य के किसी भी विभाग में प्रवेश क्यों न करे,—उसे उस विभाग से विशेषतः और सब विभागों से सामान्यतः परिचय हो।

अगर हम अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यकार-सम्मेलनों की रिपोर्ट पढ़ें, तो हम देखेंगे कि ऐसा कोई शास्त्रीय, सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्न नहीं है, जिसपर उनमें विचार-विनिमय न होता हो। इसके विरुद्ध, हम अपनी ज्ञान-सीमा को देखते हैं तो हमें अपने अज्ञान पर लज्जा आती है। हमने समझ रखा है कि साहित्य-रचना के लिए आशुबुद्धि और तेज कलम काफी है; पर यही विचार हमारी साहित्यिक अवनति का कारण है। हमें अपने साहित्य का मान-दण्ड ऊँचा करना होगा जिसमें वह समाज की अधिक मूल्यवान् सेवा कर सके, जिसमें समाज में उसे वह पद मिले जिसका वह अधिकारी है, जिसमें वह जीवन के प्रत्येक विभाग की आलोचना-विवेचना कर सके और हम दूसरी भाषाओं तथा साहित्यों का जूठा खाकर ही सन्तोष न करें, किन्तु खुद भी उस पूंजी को बढ़ायें।

हमें अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल विषय चुन लेना चाहिए और विषय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिए। हम जिस आर्थिक अवस्था में जिन्दगी बिता रहे हैं, उसमें यह काम कठिन अवश्य है, पर हमारा आदर्श ऊँचा रहना चाहिए। हम पहाड़ की चोटी तक न पहुंच सकेंगे, तो कमर तक तो पहुँच ही जायँगे, जो जमीन पर पड़े रहने से कहीं अच्छा है। अगर हमारा अन्तर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो, तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं जिस पर हम विजय न प्राप्त कर सकें।

जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मन्दिर में उनके लिए स्थान नहीं है।

यहाँ तो उन उपासकों की आवश्यकता है, जिन्होंने सेवा ही अपने जीवन की सार्थकता मान ली हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज्जत तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो मान, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पाँव चूमेंगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिन्ता हमें क्यों सताये ? और उसके न मिलने से हम निराश क्यों हों ? सेवा में जो आध्यात्मिक आनन्द है, वही हमारा पुरस्कार है—हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हवस क्यों हो ? दूसरों से ज्यादा आराम के साथ रहने की इच्छा भी हमें क्यों सताये ? हम अमीरों की श्रेणी में अपनी गिनती क्यों करायें ? हम तो समाज के झण्डा लेकर चलनेवाले सिपाही हैं और सादी जिन्दगी के साथ ऊँची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता। उसे अपनी मनस्तुष्टि के लिए दिखावे की आवश्यकता नहीं,—उससे तो उसे घृणा होती है। वह तो इकबाल के साथ कहता है—

मर्दम आजादम आँगूना ग़यूरम कि मरा,
मी तवां कुश्त व यक जामे जुलाले दीगरां।

[अर्थात् मैं आजाद हूँ और इतना हयादार हूँ कि मुझे दूसरों के निथरे हुए पानी के एक प्याले से मारा जा सकता है।]

हमारी परिषद् ने कुछ इसी प्रकार के सिद्धान्तों के साथ कर्म-क्षेत्र में प्रवेश किया है। साहित्य का शराब-कबाब और राग रंग का मुखापेक्षी बना रहना उसे पसन्द नहीं। वह उसे उद्योग और कर्म का सन्देश-वाहक बनाने का दावेदार है। उसे भाषा से बहस नहीं। आदर्श व्यापक होने से भाषा अपने-आप सरल हो जाती है। भाव-सौन्दर्य बनाव-सिंगार से बेपरवाई ही दिखा सकता है। जो साहित्यकार अमीरों का मुंह जोहनेवाला है, वह रईसी रचना-शैली स्वीकार करता है; जो जन-साधारण का है, वह जन-साधारण की भाषा में लिखता है। हमारा उद्देश्य देश में ऐसा वायु-मण्डल उत्पन्न कर देना है, जिसमें अभीष्ट प्रकार का साहित्य उत्पन्न हो सके और पनप सके। हम चाहते हैं कि साहित्य-केन्द्रों में हमारी परिषदें स्थापित हों और वहाँ साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों पर नियमपूर्वक चर्चा हो, निबंध पढ़े जायँ, बहस हो, आलोचना-प्रत्यालोचना हो। तभी वह वायु-मण्डल तैयार होगा। तभी साहित्य में नये युग का आविर्भाव होगा।

हम हरएक सूबे में, हरएक जबान में, ऐसी परिषदें स्थापित कराना चाहते हैं, जिनमें हरएक भाषा में अपना सन्देश पहुँचा सकें। यह समझना भूल होगी

कि यह हमारी कोई नयी कल्पना है। नहीं, देश के साहित्य-सेवियों के हृदयों में सामुदायिक भावनाएँ विद्यमान हैं। भारत की हरएक भाषा में इस विचार के बीज प्रकृति और परिस्थिति ने पहले से बो रखे हैं, जगह-जगह उसके अँखुए भी निकलने लगे हैं। उसको सींचना एवं उसके लक्ष्य को पुष्ट करना हमारा उद्देश्य है।

हम साहित्यकारों में कर्मशक्ति का अभाव है। यह एक कड़वी सचाई है; पर हम उसकी ओर से आँखें नहीं बन्द कर सकते। अभी तक हमने साहित्य का जो आदर्श अपने सामने रखा था, उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। कर्माभाव ही उसका गुण था; क्योंकि अकसर कर्म अपने साथ पक्षपात और संकीर्णता को भी लाता है। अगर कोई आदमी धार्मिक होकर अपनी धार्मिकता पर गर्व करे, तो इससे कहीं अच्छा है कि वह धार्मिक न होकर 'खाओ-पियो, मौज करो' का क़ायल हो। ऐसा स्वच्छन्दाचारी तो ईश्वर की दया का अधिकारी हो भी सकता है; पर धार्मिकता का अभिमान रखने वाले के लिए इसकी सम्भावना नहीं।

जो हो, जबतक साहित्य का काम केवल मन-बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी हलका करना था, तबतक इसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था जिसका गम दूसरे खाते थे; मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो 'सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो,—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।

मैं कहानी कैसे लिखता हूँ !

ऐक बार सम्पादक "नैरंगे खयाल" उर्दू लाहौर ने, देश के प्रसिद्ध कहानीकारों से प्रश्न किया था कि आप कहानी कैसे लिखते हैं ? इसके उत्तर में प्रेमचन्द ने यह लेख लिखा था। मैं इसे उर्दू से अनुवाद करके यहाँ संकलित कर रहा हूँ।

मेरे किस्से प्राय: किसी-न-किसी प्रेरणा अथवा अनुभव पर आधारित होते हैं, उसमें मैं नाटक का रंग भरने की कोशिश करता हुँ। मगर घटनामात्र को वर्णन करने के लिये, मैं कहानियाँ नहीं लिखता। मैं उसमें किसी दार्शनिक और भावनात्मक सत्य को प्रकट करना चाहता हूँ। जब तक इस प्रकार का कोई आधार नहीं मिलता, मेरी कलम ही नहीं उठती। आधार मिल जाने पर मैं पात्रों का निर्माण करता हूँ। कई बार इतिहास के अध्ययन से भी प्लाट मिल जाते हैं। लेकिन कोई घटना कहानी नहीं होती, जब तक कि वह किसी मनोवैज्ञानिक सत्य को व्यक्त न करे।

मैं जब तक कोई कहानी आदि से अन्त तक जेहन में न जमालूँ, लिखने नहीं बैठता। पात्रों का निर्माण इस दृष्टि से करता हूँ कि वे उस कहानी के अनुकूल हों। मैं इसकी जरूरत नहीं समझता कि कहानी का आधार किसी रोचक घटना को बनाऊँ, अगर किसी कहानी में मनोवैज्ञानिक पराकाष्ठा (climax) हो, तो चाहे किसी घटना से सम्बन्धित हो, मैं इसकी परवाह नहीं करता। अभी मैंने हिन्दी में एक कहानी लिखी है, जिसका नाम है "दिल की रानी"। मैंने मुस्लिम इतिहास में तैमूर के जीवन की एक घटना पढ़ी थी। जिसमें हमीदा बेगम से उसके विवाह का उल्लेख था। मुझे तुरन्त इस ऐतिहासिक घटना के नाटकीय पहलू का ख़याल आया। इतिहास में क्लाइ-मैक्स कैसे उत्पन्न हो, इसकी चिन्ता हुई। हमीदा बेगम ने बचपन में अपने पिता से शस्त्र-विद्या सीखी थी, और रण-भूमि में कुछ अनुभव भी प्राप्त किये

थे। तैमूर नें हजारों तुर्कों का बध किया था। ऐसे प्रतिपक्षी पर एक तुर्क स्त्री किस प्रकार अनुरक्त हुई, इस समस्या के हल होने से क्लाइमैक्स निकल आता था। तैमूर रूपवान न था, इसलिये जरूरत हुई कि उसमें ऐसे नैतिक और भावनात्मक गुण उत्पन्न किये जायें जो एक श्रेष्ठ स्त्री को उसकी ओर खींच सकें। इस प्रकार वह कहानी तैयार हो गयी।

कभी-कभी सुनी-सुनाई घटनायें ऐसी होती हैं, कि उनपर आसानी से कहानी की नींव रखी जा सकती है। कोई घटना, महज सुन्दर और चुस्त शब्दावली और शैली का चमत्कार दिखाकर ही कहानी नहीं बन जाती; मैं उसमें क्लाइ-मैक्स लाजिमी चीज समझता हूँ; और वह भी मनोवैज्ञानिक। यह भी जरूरी है कि कहानी इस क्रम से आगे चले कि क्लाइमैक्स निकटतर आता जाये। जब कोई ऐसा अवसर आ जाता है, जहां तबीयत पर जोर डालकर साहित्यिक और कवितामय रंग उत्पन्न किया जा सकता है, तो मैं उस अवसर से अवश्य लाभ उठाने का प्रयत्न करता हूँ। यही रंग, कहानी की जान है।

मैं कम भी लिखता हूँ। महीने भर में शायद मैंने कभी दो कहानियों से अधिक नहीं लिखीं। कई बार तो महीनों कोई कहानी नहीं लिखता। घटना और पात्र तो मिल जाते हैं; लेकिन मनोवैज्ञानिक आधार कठिनता से मिलता है। यह समस्या हल हो जानें के बाद, कहानी लिखने में देर नहीं लगती। मगर इन थोड़ी सी पंक्तियों में कहानी-कला के तत्व वर्णन नहीं कर सकता। यह एक मानसिक वस्तु है। सीखने से भी लोग कहानीकार बन जाते हैं, लेकिन कविता की तरह इसके लिये भी, और साहित्य के प्रत्येक विषय के लिए कुछ प्राकृतिक लगाव आवश्यक है। प्रकृति आपसे आप प्लाट बनाती है, नाटकीय रंग पैदा करती है, ओज लाती है, साहित्यिक गुण जुटाती है, अनजाने आप ही आप सब कुछ होता रहता है। हां, कहानी समाप्त हो जाने के बाद में खुद उसे पढ़ता हूँ। अगर उसमें मुझे नयापन, कुछ बुद्धि का चमत्कार, कुछ यथार्थ की ताजगी, कुछ गति उत्पन्न करने की शक्ति का एहसास होता है, तो मैं उसे सफल कहानी समझता हूँ, वरना समझता हूँ फेल हो गया। फेल और पास दोनों कहानियाँ छप जाती हैं, और प्रायः ऐसा होता है, कि जिस कहानी को मैंने फेल समझा था, उसे मित्रों ने बहुत सराहा। इसलिये मैं अपनी परख पर अधिक विश्वास नहीं करता।

मृत्यु के पीछे

(प्रेमचन्द ने अपनी इस कहानी में यह अटल विश्वास प्रकट किया है कि मेरे आदर्श मेरे बाद भी जीवित रहेंगे । इसीलिये हम यह कहानी यहाँ उद्धृत कर रहे हैं ।)

बाबू ईश्वरचन्द्र को समाचारपत्रों में लेख लिखने की चाट उन्हीं दिनों पड़ी जब वे विद्याभ्यास कर रहे थे । नित्य नये विषयों की चिन्ता में लीन रहते । पत्रों में अपना नाम देखकर उन्हें उससे कहीं ज्यादा खुशी होती थी जितनी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने या कक्षा में उच्चस्थान प्राप्त करने से हो सकती थी । वह अपने कालेज के "गरम-दल" के नेता थे । समाचारपत्रों में परीक्षापत्रों की जटिलता या अध्यापकों के अनुचित व्यवहार की शिकायत का भार उन्हीं के सिर था । इससे उन्हें कालेज में प्रतिनिधित्व का काम मिल गया । प्रतिरोध के प्रत्येक अवसर पर उन्हीं के नाम नेतृत्व की गोटी पड़ जाती थी । उन्हें विश्वास हो गया था कि मैं इस परिमित क्षेत्र से निकल कर संसार के विस्तृत-क्षेत्र में अधिक सफल हो सकता हूँ । सार्वजनिक जीवन को वह अपना भाग्य समझ बैठे थे । कुछ ऐसा संयोग हुआ कि अभी एम० ए० के परीक्षार्थियों में उनका नाम निकलने भी न पाया था कि 'गौरव' के सम्पादक महोदय ने वागप्रस्थ लेने की ठानी और पत्रिका का भार ईश्वरचन्द्र दत्त के सिर पर रखने का निश्चय किया । बाबूजी को यह समाचार मिला तो उछल पड़े । धन्य भाग्य कि मैं इस सम्मानपद के योग्य समझा गया । इसमें सन्देह नहीं कि वह इस दायित्व के गुरुत्व से भली-भाँति परिचित थे, लेकिन कीर्तिलाभ के प्रेम ने उन्हें बाधक परिस्थितियों का सामना करने पर उद्यत कर दिया । वह इस व्यवसाय में स्वातन्त्र्य, आत्मगौरव, अनुशीलन और दायित्व की मात्रा को बढ़ाना चाहते थे । भारतीय पत्रों को पश्चिम के आदर्श पर चलाने के इच्छुक थे । इन इरादों के पूरा करने का सुअवसर हाथ आया । वे प्रेमोल्लास से उत्तेजित होकर नदी में कूद पड़े ।

(२)

ईश्वरचन्द्र की पत्नी एक ऊंचे और धनाढय कुल की लड़की थी और वह ऐसे कुलों की मर्यादप्रियता तथा मिथ्या गौरवप्रेम से सम्पन्न थी। यह समाचार पाकर डरी कि पति महाशय कहीं इस झंझट में फँसकर कानून से मुँह न मोड़ लें। लेकिन जब बाबू साहब ने आश्वासन दिया कि यह कार्य उनके कानून के अभ्यास में बाधक न होगा, तो कुछ न बोली।

लेकिन ईश्वरचन्द्र को बहुत जल्द मालूम हो गया कि पत्रसम्पादन एक बहुत ही ईर्ष्यायुक्त कार्य है, जो चित्त की समग्र वृत्तियों का अपहरण कर लेता है। उन्होंने इसे मनोरंजन का एक साधन और ख्यातिलाभ का एक यन्त्र समझा था। उसके द्वारा जाति की कुछ सेवा करना चाहते थे। उससे द्रव्योपार्जन का विचार तक न किया था। लेकिन नौका में बैठकर उन्हें अनुभव हुआ कि यात्रा उतनी सुखद नहीं है, जितनी समझी थी। लेखों के संशोधन, परिवर्धन और परिवर्तन, लेखकगण से पत्र-व्यवहार और चित्ताकर्षक विषयों की खोज और सहयोगियों से आगे बढ़ जाने की चिन्ता में उन्हें कानून का अध्ययन करने का अवकाश ही न मिलता था। सुबह को किताबें खोलकर बैठते कि १०० पृष्ठ समाप्त किये बिना कदापि न उठूंगा, किन्तु ज्योंही डाक का पुलिन्दा आ जाता, वे अधीर होकर उस पर टूट पड़ते, किताब खुली की खुली रह जाती थी। बार-बार संकल्प करते कि अब नियमितरूप से पुस्तकावलोकन करूँगा और एक निर्दिष्ट समय से अधिक सम्पादनकार्य में न लगाऊँगा। लेकिन पत्रिकाओं का बंडल सामने आते ही दिल काबू के बाहर हो जाता। पत्रों की नोक-झोंक, पत्रिकाओं के तर्क-वितर्क, आलोचना-प्रत्यालोचना, कवियों के काव्यचमत्कार, लेखकों का रचनाकौशल इत्यादि सभी बातें उन पर जादू का काम करतीं। इस पर छपाई की कठिनाइयाँ, ग्राहकसंख्या बढ़ाने की चिन्ता और पत्रिका को सर्वाङ्ग-सुन्दर बनाने की आकाँक्षा और भी प्राणों को संकट में डाले रहती थी। कभी-कभी उन्हें खेद होता कि व्यर्थ ही इस झमेले में पड़ा। यहां तक की परीक्षा के दिन सिर पर आ गये और वे इसके लिए बिलकुल तैयार न थे। वे उसमें सम्मिलित न हुए। मन को समझाया कि अभी इस काम का श्रीगणेश हैं, इसी कारण यह सब बाधाएँ उपस्थित होती हैं। अगले वर्ष यह काम एक सुव्यवस्थित रूप में आ जायगा और तब मैं निश्चिन्त होकर परीक्षा में बैठूंगा। पास कर लेना क्या कठिन है। ऐसे बुद्धू पास हो जाते हैं जो एक सीधा-सा लेख भी नहीं लिख सकते, तो क्या मैं ही रह जाऊंगा? मानकी ने उनकी बात सुनी तो खूब दिल के फफोले

फोड़े—'मैं तो जानती थी कि यह धुन तुम्हें मटियामेट कर देगी। इसलिए बार-बार रोकती थी; लेकिन तुमने एक न सुनी। आप तो डूबे ही, मुझे भी ले डूबे।' उनके पूज्य पिता भी बिगड़े, हितैषियों ने भी समझाया—'अभी इस काम को कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दो, कानून में उत्तीर्ण होकर निर्द्वन्द्व देशोद्धार में प्रवृत्त हो जाना।' लेकिन ईश्वरचन्द एक बार मैदान में आकर निन्द्य समझते थे। हां, उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा की कि दूसरे साल परीक्षा के लिए तन-मन से तैयारी करूँगा।

अतएव नये वर्ष के पदार्पण करते ही उन्होंने कानून की पुस्तकें संग्रह कीं, पाठ्यक्रम निश्चित किया, रोजनामचा लिखने लगे और अपने चंचल और बहानेबाज़ चित्त को चारों ओर से जकड़ा; मगर चटपटे पदार्थों का आस्वादन करने के बाद सरल भोजन कब रुचिकर होता है! कानून में वे घातें कहाँ, वह उन्मत्त कहाँ, वे चोटें कहाँ, वह उत्तेजना कहाँ, वह हलचल कहाँ! बाबू साहब अब नित्य एक खोई हुई दशा में रहते। जब तक अपने इच्छानुकूल काम करते थे, चौबीस घण्टों में घंटे-दो घण्टे कानून भी देख लिया करते थे। इस नशे ने मानसिक शक्तियों को शिथिल कर दिया। स्नायु निर्जीव हो गये। उन्हें ज्ञात होने लगा कि अब मैं कानून के लायक नहीं रहा और इस ज्ञान ने कानून के प्रति उदासीनता का रूप धारण किया। मन में सन्तोषवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। प्रारब्ध और पूर्वसंस्कार के सिद्धान्तों की शरण लेने लगे।

एक दिन मानकी ने कहा—यह क्या बात है? क्या कानून से फिर जी उचाट हुआ?

ईश्वरचन्द्र ने दुस्साहसपूर्ण भाव से उत्तर दिया—हाँ भई, मेरा जी उससे भागता है।

मानकी ने व्यंग्य से कहा—बहुत कठिन है?

ईश्वरचन्द्र—कठिन नहीं है, और कठिन भी होता तो मैं उससे डरनेवाला न था; लेकिन मुझे वकालत का पेशा ही पतित प्रतीत होता है। ज्यों-ज्यों वकीलों की आंतरिक दशा का ज्ञान होता है, मुझे उस पेशे से घृणा होती जाती है। इसी शहर में सैकड़ों वकील और बैरिस्टर पड़े हुए हैं, लेकिन एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं जिसके हृदय में दया हो, जो स्वार्थपरता के हाथों बिक न गया हो। छल और धूर्तता इस पेशे का मूलतत्व है। इसके बिना किसी तरह निर्वाह नहीं। अगर कोई महाशय जातीय आन्दोलन में शरीक भी होते हैं, तो स्वार्थ-सिद्धि करने के लिए, अपना ढोल पीटने के लिए। हम लोगों का समग्र जीवन वासना-भक्ति पर अर्पित हो जाता है। दुर्भाग्य से हमारे देश का शिक्षित

समुदाय इसी दर्गाह का मुजावर होता जाता है, और यही कारण है कि हमारी जातीय संस्थाओं की शीघ्र वृद्धि नहीं होती। जिस काम में हमारा दिल न हो; हम केवल ख्याति और स्वार्थ-लाभ के लिए उसके कर्णधार बने हुए हों, वह कभी नहीं हो सकता। वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था का अन्याय है जिसने इस पेशे को इतना उच्च स्थान प्रदान कर दिया है। यह विदेशी सभ्यता का निकृष्टतम स्वरूप है कि देश का बुद्धिबल स्वयं धनोपार्जन न करके दूसरों की पैदा की हुई दौलत पर चैन करना, शहद की मक्खी न बनकर, चींटी बनना अपने जीवन का लक्ष्य समझता है।

मानकी चिढ़कर बोली—पहले तो तुम वकीलों की इतनी निन्दा न करते थे!

ईश्वरचन्द्र ने उत्तर दिया—तब अनुभव न था। बाहरी टीमटाम ने वशीकरण कर दिया था।

मानकी—क्या जाने तुम्हें पत्रों से क्यों इतना प्रेम है, मैं तो जिसे देखती हूँ, अपनी कठिनाइयों का रोना रोते हुए पाती हूँ, कोई अपने ग्राहकों से नये ग्राहक बनाने का अनुरोध करता है, कोई चन्दा न वसूल होने की शिकायत करता है। बता दो कि कोई उच्च शिक्षाप्राप्त मनुष्य कभी इस पेशे में आया है। जिसे कुछ नहीं सूझती, जिसके पास न कोई सनद है, न कोई डिग्री, वही पत्र निकाल बैठता है और भूखों मरने की अपेक्षा रूखी रोटियों पर ही संतोष करता है। लोग विलायत जाते हैं, वहाँ कोई पढ़ता है डाक्टरी, कोई इञ्जीनियरी, कोई सिविल सर्विस; लेकिन आज तक न सुना कि कोई एडीटरी का काम सीखने गया। क्यों सीखे? किसी को क्या पड़ी है कि जीवन की महत्वाकाँक्षाओं को खाक में मिलाकर त्याग और विराग में उम्र काटे? हाँ, जिनको सनक सवार हो गयी हो, उनकी बात निराली है।

ईश्मरचन्द्र—जीवन का उद्देश्य केवल धन-संचय करना ही नहीं है।

मानकी—अभी तुमने वकीलों की निन्दा करते हुए कहा, यह लोग दूसरों की कमाई खाकर मोटे होते हैं। पत्र चलानेवाले भी तो दूसरों की ही कमाई खाते हैं।

ईश्वरचन्द्र ने बग़लें झाँकते हुए कहा—हम लोग दूसरों की कमाई खाते हैं, तो दूसरों पर जान भी देते हैं। वकीलों कीं भाँति किसी को लूटते नहीं।

मानकी—यह तुम्हारी हठधर्मी है। वकील भी तो अपने मुवक्किलों के लिए जान लड़ा देते हैं। उनकी कमाई भी उतनी ही है, जितनी पत्रवालों की। अन्तर केवल इतना है कि एक की कमाई पहाड़ी सोता है, दूसरों की बरसाती नाला।

एक में नित्य जलप्रवाह होता है, दूसरे में नित्य धूल उड़ा करती है। बहुत हुआ, तो बरसात में घड़ी-दो-घड़ी के लिए पानी आ गया।

ईश्वर०—पहले तो मैं यही नहीं मानता कि वकीलों की कमाई हलाल है, और यह मान भी लूं तो यह किसी तरह नहीं मान सकता कि सभी वकील फूलों की सेज पर सोते हैं। अपना-अपना भाग्य सभी जगह है। कितने ही वकील हैं जो झूठी गवाहियाँ देकर पेट पालते हैं। इस देश में समाचार पत्रों का प्रचार अभी बहुत कम है, इसी कारण पत्र संचालकों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है। यूरोप और अमरीका में पत्र चलाकर लोग करोड़पति हो गये हैं। इस समय संसार के सभी समुन्नत देशों के सूत्रधार या तो समाचार पत्रों के सम्पादक और लेखक हैं, या पत्रों के स्वामी। ऐसे कितने ही अरबपति हैं, जिन्होंने अपनी सम्पत्ति की नींव पत्रों पर ही खड़ी की थी......।

ईश्वरचन्द्र सिद्ध करना चाहते थे कि धन, ख्याति और सम्मान प्राप्त करने का पत्रसंचालन से उत्तम और कोई साधन नहीं है, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस जीवन में सत्य और न्याय की रक्षा करने के सच्चे अवसर मिलते हैं, परन्तु मानकी पर इस वक्तृता का ज़रा भी असर न हुआ। स्थूल दृष्टि को दूर की चीजें साफ नहीं दीखतीं। मानकी के सामने सफल सम्पादक का कोई उदाहरण न था।

(३)

१६ वर्ष गुज़र गये। इश्वरचन्द्र ने सम्पादकीय जगत् में खूब नाम पैदा किया, जातीय आन्दोलनों में अग्रसर हुए, पुस्तकें लिखीं, एक दैनिक पत्र निकाला, अधिकारियों के भी सम्मानपात्र हुए। बड़ा लड़का बी० ए० में जा पहुँचा, छोटे लड़के नीचे दरजों म थ। एक लड़की का विवाह भी एक धन-सम्पन्न कुल में किया। विदित यही होता था कि उनका जीवन बड़ा ही सुखमय है, मगर उनकी आर्थिक दशा अब भी संतोषजनक न थी। खर्च आमदनी से बढ़ा हुआ था। घर की कई हज़ार की जायदाद हाथ से निकल गई, इस पर भी बंक का कुछ-न-कुछ देना सिर पर सवार रहता था। बाज़ार में भी उनकी साख न थी। कभी-कभी तो यहाँ तक नौबत आ जाती कि उन्हें बाज़ार का रास्ता छोड़ना पड़ता। अब वह अकसर अपनी युवावस्था की अदूरदर्शिता पर अफसोस करते थे। जातीय सेवा का भाव अब भी उनके हृदय में तरंगें मारता था लेकिन वह देखते थे कि काम तो मैं तय करता हूँ और यश वकीलों और सेठों के हिस्सों में आ जाता था। उनकी गिनती अभी तक छुट-भैयों में थी। यद्यपि सारा नगर जानता था कि यहाँ के सार्वजनिक जीवन के प्राण वही हैं, पर यह भाव कभी व्यक्त

न होता था। इन्हीं कारणों से ईश्वरचन्द्र को अब सम्पादन-कार्य से अरुचि होती थी। दिनों-दिन उत्साह क्षीण होता जाता था; लेकिन इस जाल से निकलने का कोई उपाय न सूझता था। उनकी रचना में अब सजीवता न थी, न लेखनी में शक्ति। उनके पत्र और पत्रिका दोनों ही से उदासीनता का भाव छलकता था। उन्होंने सारा भार सहायकों पर छोड़ दिया था, खुद बहुत काम करते थे। हाँ, दोनों पत्रों की जड़ जम चुकी थी, इसलिए ग्राहक संख्या कम न होने पाती थी। वे अपने नाम पर चलते थे।

लेकिन इस संघर्ष और संग्राम के काल में उदासीनता का निर्वाह कहाँ। "गौरव" के प्रतियोगी खड़े कर दिये, जिनके नवीन उत्साह ने "गौरव" मे बाजी मार ली। उसका बाज़ार ठंडा होने लगा। नये प्रतियोगियों का जनता ने बड़े हर्ष से स्वागत किया। उनकी उन्नति होने लगी। यद्यपि उनके सिद्धान्त भी वही, लेखक भी वही, विषय भी वही थे, लेकिन आगन्तुकों ने उन्हीं पुरानी बातों में नयी जान डाल दी। उनका उत्साह देख ईश्वरचन्द्र को भी जोश आया कि एक बार फिर अपनी रुकी हुई गाड़ी में ज़ोर लगायें, लेकिन न अपने मन में सामर्थ्य थी, न कोई हाथ बटानेवाला नज़र आता था। इधर-उधर निराश नेत्रों से देखकर हतोत्साह हो जाते थे। हाँ! मैंने अपना सारा जीवन सार्वजनिक कार्यों में व्यतीत किया, खेत को बोया, सींचा, दिन को दिन और रात को रात न समझा, धूप में जला, पानी में भींगा और इतने परिश्रम के बाद जब फसल काटने के दिन आये तो मुझमें हँसिया पकड़ने का भी बूता नहीं। दूसरे लोग जिनका उस समय कहीं पता न था, अनाज काट-काटकर खलिहान भरे लेते हैं और मैं खड़ा मुँह ताकता हूँ। उन्हें पूरा विश्वास था कि अगर कोई उत्साहशील युवक मेरा शरीक हो जाता तो "गौरव" अब भी अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर सकता। सभ्य-समाज में उनकी धाक जमी हुई थी, परिस्थिति उनके अनुकूल थी। जरूरत केवल ताजे खून की थी। उन्हें अपने बड़े लड़के से ज्यादा उपयुक्त इस काम के लिए और कोई न दीखता था। उसकी रुचि भी इस काम की ओर थी, पर मानकी के भय से वह इस विचार को जबान पर न ला सके थे। इसी चिन्ता में दो साल गुजर गये और यहाँ तक नौबत पहुँची कि या तो "गौरव" का टाट उलट दिया जाय या इसे पुनः अपने स्थान पर पहुँचाने के लिए कटिबद्ध हुआ जाय। ईश्वरचन्द्र ने इसके पुनरुद्धार के लिए अंतिम उद्योग करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। इसके सिवा और कोई उपाय न था। यह पत्रिका उनके जीवन का सर्वस्व थी। इससे उनके जीवन और मृत्यु का सम्बन्ध था। उसको बन्द करने की वह कल्पना भी न कर सकते थे।

यद्यपि उनका स्वास्थ्य अच्छा न था, पर प्राणरक्षा की स्वाभाविक इच्छा ने उन्हें अपना सब कुछ अपनी पत्रिका पर न्योछावर करने को उद्यत कर दिया। फिर दिन-के-दिन लिखने-पढ़ने में रत रहने लगे। एक क्षण के लिए भी सिर न उठाते। "गौरव" के लेखों में फिर सजीवता का उद्भव हुआ, विद्वज्जनों में फिर उसकी चर्चा होने लगी, सहयोगियों ने फिर उसके लेखों को उद्धृत करना शुरू किया, पत्रिकाओं में फिर उसकी प्रशंसा सूचक आलोचनाएं निकलने लगीं। पुरानें उस्ताद की ललकार फिर अखाड़े में गूँजने लगी।

लेकिन पत्रिका के पुनः सस्कार के साथ उनका शरीर और भी जर्जर होने लगा। हृदय रोग के लक्षण दिखाई देने लगे। रक्त की न्यूनता से मुख पर पीलापन छा गया। ऐसी दशा में वह सुबह से शाम तक अपने काम में तल्लीन रहते। देश में धन और श्रम का संग्राम छिड़ा हुआ था। ईश्वरचन्द्र की सदय प्रकृति ने उन्हें श्रम का सपक्षी बना दिया था। धनवादियों का खण्डन और प्रतिवाद करते हुए उनके खून में गरमी आ जाती थी, शब्दों से चिनगारियाँ निकलने लगती थीं, यद्यपि यह चिनगारियाँ केन्द्रस्थ गरमी को छिन्न किये देती थीं।

एक दिन रात के दस बज गये थे। सरदी खूब पड़ रही थी। मानकी दबे पैर उनके कमरे में आयी। दीपक की ज्योति में उनके मुख का पीलापन और भी स्पष्ट हो गया था। वह हाथ में कलम लिये किसी विचार में मग्न थे। मानकी के आने की उन्हें जरा भी आहट न मिली। मानकी एक क्षण तक उन्हें वेदनायुक्त नेत्रों से ताकती रही। तब बोली, 'अब तो यह पोथा बन्द करो। आधी रात होने को आई। खाना पानी हुआ जाता है।'

ईश्वरचन्द्र ने चौंककर सिर उठाया और बोले—क्यों, क्या आधी रात हो गई? नहीं, अभी मुश्किल से दस बजे होंगे। मुझे अभी जरा भी भूख नही है।

मानकी—कुछ थोड़ा-सा खा लो न।

ईश्वरचन्द्र—एक ग्रास भी नहीं। मुझे इसी समय अपना लेख समाप्त करना है।

मानकी—में देखती हूँ, तुम्हारी दशा दिन-दिन बिगड़ती जाती है। दवा क्यों नहीं करते? जान खपाकर थोड़े ही काम किया जाता है?

ईश्वरचन्द्र—अपनी जान को देखूँ या इस घोर संग्राम को देखूँ जिसने समस्त देश में हलचल मचा रखी है। हजारों-लाखों जानों की हिमायत में एक जान न भी रहे तो क्या चिन्ता?

मानकी—कोई सुयोग्य सहायक क्यों नहीं रख लेते?

ईश्वरचन्द्र ने ठंडी सांस लेकर कहा—बहुत खोजता हूँ, पर कोई नहीं मिलता। एक विचार कई दिनों से मेरे मन में उठ रहा है, अगर तुम धैर्य से सुनना चाहो, तो कहूँ।

मानकी—कहो, सुनूंगी। मानने लायक होगी, तो मानूँगी क्यों नहीं!

ईश्वरचन्द्र—मैं चाहता हूँ कि कृष्णचन्द्र को अपने काम में शरीक कर लूँ। अब तो वह एम० ए० भी हो गया। इस पेशे से उसे रुचि भी है, मालूम होता है कि ईश्वर ने उसे इसी काम के लिए बनाया है।

मानकी ने अवहेलना-भाव से कहा—क्या अपने साथ उसे भी ले डूबने का इरादा है? घर की सेवा करनेवाला भी कोई चाहिए कि सब देश की ही सेवा करेंगे?

ईश्वर०—कृष्णचन्द्र यहाँ किसी से बुरा न रहेगा।

मानकी—क्षमा कीजिए। बाज आयी। वह कोई दूसरा काम करेगा जहाँ चार पैसे मिलें। यह घर-फूंक काम आप ही को मुबारक रहे।

ईश्वर०—वकालत में भेजोगी, पर देख लेना, पछताना पड़ेगा। कृष्णचन्द्र उस पेशे के लिए सर्वथा अयोग्य है।

मानकी—वह चाहे मजूरी करे, पर इस काम में न डालूंगी।

ईश्वर०—तुमने मुझे देखकर समझ लिया कि इस काम में घाटा-ही-घाटा है। पर इसी देश में ऐसे भाग्यवान् लोग मौजूद हैं जो पत्रों की बदौलत धन और कीर्ति से मालामाल हो रहे हैं।

मानकी—इस काम में तो अगर कंचन भी बरसे, तो मैं उसे न आने दूं। सारा जीवन वैराग्य में कट गया। अब कुछ दिन भोग भी करना चाहती हूँ।

यह जाति का सच्चा सेवक अन्त को जातीय कष्टों के साथ रोग के कष्टों को न सह सका। इस वार्त्तालाप के बाद मुश्किल से नौ महीने गुजरे थे कि ईश्वरचन्द्र ने संसार से प्रस्थान किया। उसका सारा जीवन सत्य के पोषण, न्याय की रक्षा और प्रजा-कष्टों के विरोध में कटा था। अपने सिद्धान्तों के पालन में उन्हें कितनी ही बार अधिकारियों की तीव्र दृष्टि का भाजन बनना पड़ा था, कितनी ही बार जनता का अविश्वास, यहाँ तक कि मित्रों की अवहेलना भी सहनी पड़ी थी, पर उन्होंने अपनी आत्मा का कभी हनन नहीं किया। आत्मा के गौरव के सामने धन को कुछ न समझा।

इस शोकसमाचार के फैलते ही सारे शहर में कुहराम मच गया। बाजार बन्द हो गये, शोक के जलसे होने लगे, सहयोगी पत्रों ने प्रति-द्वन्द्विता के भाव को त्याग दिया, चारों ओर से एक ध्वनि आती थी कि देश से एक स्वतन्त्र, सत्य-

वादी और विचारशील सम्पादक तथा एक निर्भीक, त्यागी, देश-भक्त उठ गया और उसका स्थान चिरकाल तक खाली रहेगा। ईश्वरचन्द्र इतने बहुजनप्रिय हैं, इसका उनके घरवालों को ध्यान भी न था उनका शव निकला तो सारा शहर, गण्य-अगण्य, अर्थी के साथ था। उनके स्मारक बनने लगे। कहीं छात्रवृत्तियाँ दी गयीं, कहीं उनके चित्र बनवाये गये, पर सबसे अधिक महत्वशील वह मूर्ति थी जो श्रमजीवियों की ओर से प्रतिष्ठित हुई थी।

मानकी को अपने पतिदेव का लोकसम्मान देखकर सुखमय कुतूहल होता था। उसे अब खेद होता था कि मैंने उनके दिव्य गुणों को न पहचाना, उनके पवित्र भावों और उच्च-विचारों की कद्र न की। सारा नगर उनके लिए शोक मना रहा है। उनकी लेखनी ने अवश्य इनके ऐसे उपकार किये हैं जिन्हें ये भूल नहीं सकते; और मैं अन्त तक उनके मार्ग का कंटक बनी रही, सदैव तृष्णा के वश उनका दिल दुखाती रही। उन्होंने मुझे सोने में मढ़ दिया होता, एक भव्य भवन बनवाया होता, या कोई जायदाद पैदा कर ली होती तो मैं खुश होती, अपना धन्य भाग्य समझती। लेकिन तब देश में कौन उनके लिए आँसू बहाता, कौन उनका यश गाता? यहां एक-से-एक धनिक पुरुष पड़े हुए है। वे दुनिया से चले जाते हैं और किसी को खबर भी नहीं होती। सुनती हूँ, पतिदेव के नाम से छात्रों को वृत्ति दी जायगी। जो लड़के वृत्ति पाकर विद्या-लाभ करेंगे वे मरते दम तक उनकी आत्मा को आशीर्वाद देंगे। शोक! मैंने उनके आत्मत्याग का मर्म न जाना। स्वार्थ ने मेरी आँखों पर पर्दा डाल दिया था।

मानकी के हृदय में ज्यों-ज्यों ये भावनाएँ जागृत होती थीं, उसे पति में श्रद्धा बढ़ती जाती थी। वह गौरवशीला स्त्री थी। इस कीर्तिगान और जन-सम्मान से उसका मस्तक ऊँचा हो जाता था। इसके उपरान्त अब उसकी आर्थिक दशा पहले की-सी चिन्ताजनक न थी। कृष्णचन्द्र के असाधारण अध्यवसाय और बुद्धिबल ने उसकी वकालत को चमका दिया था। वह जातीय कामों में अवश्य भाग लेते थे, पत्रों में यथाशक्ति लेख भी लिखते थे, इस काम से उन्हें विशेष प्रेम था। लेकिन मानकी उन्हें हमेशा इन कामों से दूर रखने की चेष्टा करती रहती थी। कृष्णचन्द्र अपने ऊपर जब्र करते थे। माँ का दिल दुखाना उन्हें मंजूर न था।

ईश्वरचन्द्र की पहली बरसी थी। शाम को ब्रह्मभोज हुआ। आधी रात तक गरीबों को खाना दिया गया। प्रातःकाल मानकी अपनी सेजगाड़ी पर बैठकर गंगा नहाने गयी। यह उसकी चिरसंचित अभिलाषा थी जो अब पुत्र

की मातृभक्ति ने पूरी कर दी थी। यह उधर से लौट रही थी कि उसके कानों में बैंड की आवाज आयी और एक क्षण के बाद एक जलूस सामने आता हुआ दिखायी दिया। पहले कोतल घोड़ों की माला थी, उसके बाद अश्वारोही स्वयंसेवकों की सेना। उसके पीछे सैकड़ों सवारी गाड़ियाँ थीं। सबके पीछे एक सजे हुए रथ पर किसी देवता की मूर्ति थी। कितने ही आदमी इस विमान को खींच रहे थे। मानकी सोचने लगी—'यह किस देवता का विमान है? न तो रामलीला के ही दिन हैं, न रथयात्रा के!' सहसा उसका दिल जोर से उछल पड़ा। यह ईश्वरचन्द्र की मूर्ति थी जो श्रमजीवियों की ओर से बनवाई गयी थी और लोग उसे बड़े मैदान में स्थापित करने के लिए लिये जाते थे। वही स्वरूप था, वही वस्त्र, वही मुखाकृति। मूर्तिकार ने विलक्षण कौशल दिखाया था। मानकी का हृदय बाँसों उछलने लगा। उत्कण्ठा हुई कि परदे से निकलकर इस जुलूस के सम्मुख पति के चरणों पर गिर पड़ूं। पत्थर की मूर्ति मानव-शरीर से अधिक श्रद्धास्पद होती है। किन्तु कौन मुँह लेकर मूर्ति के सामने जाऊँ। उसकी आत्मा ने कभी उसका इतना तिरस्कार न किया था। मेरी धनलिप्सा उनके पैरों की बेड़ी न बनती तो वह जाने किस सम्मानपद पर पहुँचते। मेरे कारण उन्हें कितना क्षोभ हुआ! घरवालों की सहानुभूति बाहर-वालों के सम्मान से कहीं उत्साहजनक होती है। मैं इन्हें क्या कुछ न बना सकती थी, पर कभी उभरने न दिया। स्वामीजी, मुझे क्षमा करो, मैं तुम्हारी अपराधिनी हूँ, मैंने तुम्हारे पवित्र भावों की हत्या की है, मैंने तुम्हारी आत्मा को दुःखी किया है। मैंने बाज को पिंजड़े में बन्द करके रखा था। शोक!

सारे दिन मानकी को यही पश्चात्ताप होता रहा। शाम को उससे न रहा गया। वह अपनी कहारिन को लेकर पैदल उस देवता के दर्शन को चली जिसकी आत्मा को उसने दुःख पहुँचाया था!

सन्ध्या का समय था। आकाश पर लालिमा छाई थी। अस्ताचल की ओर कुछ बादल भी हो आये थे। सूर्यदेव कभी मेघपट में छिप जाते थे, कभी बाहर निकल आते थे। इस धूप-छाँह में ईश्वरचन्द्र की मूर्ति दूर से कभी प्रभात की भांति प्रसन्नमुख और कभी सन्ध्या की भाँति मलिन देख पड़ती थी। मानकी उसके निकट गई, पर उसके मुख की ओर न देख सकी। उन आँखों में करुण-वेदना थी। मानकी को ऐसा मालूम हुआ, मानो वह मेरी ओर तिरस्कारपूर्ण भाव से देख रही है। उसकी आँखों से ग्लानि और लज्जा के आँसू बहने लगे। वह मूर्ति के चरणों पर गिर पड़ी और मुँह ढांपकर रोने लगी। मन के भाव द्रवित हो गये।

वह घर आई तो नौ बज गये थे। कृष्ण उसे देखकर बोले--अम्माँ, आज आप इस वक्त कहां गयी थीं ?

मानकी ने हर्ष से कहा—गयी थी तुम्हारे बाबूजी की प्रतिमा के दर्शन करने। ऐसा मालूम होता है, वही साक्षात् खड़े हैं।

कृष्ण—जयपुर से बनकर आई है।

मानकी—पहले तो लोग उनका इतना आदर न करते थे ?

कृष्ण—उनका सारा जीवन सत्य और न्याय की वकालत में गुजरा है। ऐसे ही महात्माओं की पूजा होती है।

मानकी—लेकिन उन्होंने वकालत कब की ?

कृष्ण—हाँ, यह वकालत नहीं की जो मैं और मेरे हजारों भाई कर रहे हैं, जिससे न्याय और धर्म का खून हो रहा है। उनकी वकालत उच्चकोटि की थी।

मानकी—अगर ऐसा है तो तुम भी वही वकालत क्यों नहीं करते ?

कृष्ण--बहुत कठिन है। दुनिया का जंजाल अपने सिर लीजिए, दूसरों के लिए रोइए, दीनों की रक्षा के लिए लट्ठ लिये फिरिए, और इस कष्ट और अपमान और यंत्रणा का पुरस्कार क्या है ? अपनी जीवनाभिलाषाओं की हत्या।

मानकी—लेकिन यश तो होता है ?

कृष्ण—हां, यश होता है। लोग आशीर्वाद देते हैं।

मानकी—जब इतना यश मिलता है तो तुम भी वही काम करो। हम लोग उस पवित्र आत्मा की और कुछ सेवा नहीं कर सकते तो उसी वाटिका को चलाते जायँ जो उन्होंने अपने जीवन में इतने उत्सर्ग और भक्ति से लगाई। इससे उनकी आत्मा को शान्ति होगी।

कृष्णचन्द्र ने माता को श्रद्धामय नेत्रों से देखकर कहा—करूँ तो, मगर संभव है, तब यह टीम-टाम न निभ सके। शायद फिर वही पहले की-सी दशा हो जाय।

मानकी—कोई हरज नहीं। संसार में यश तो होगा ? आज तो अगर धन की देवी भी मेरे सामने आये, तो मैं आँखें न नीची करूँ।

परिशिष्ट २

साहित्य पर एक दृष्टि

प्रेमचन्द के जीवन और कला के बारे में हम जो कुछ लिख चुके हैं उससे उनके व्यक्तित्व और महानता का पर्याप्त ज्ञान हो जाता है। हमने देखा कि उन्होंने बीसवीं सदी के शुरू में लिखना शुरू किया और जीवन परयन्त लिखते रहे। अपने छत्तीस वर्ष के साहित्यिक जीवन में उन्होंने एक दर्जन उपन्यास और तीन सौ के लग-भग कहानियां लिखीं। इन्हें पढ़ने से हमें देहातों में रहने वाले किसानों के भौतिक और अध्यात्मिक जीवन और हमारे देश की सामाजिक व्यवस्था का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। यह भी मालूम हो जाता है कि इस काल में हमारा राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन ब्रिटिश साम्राज्य की शोषण सत्ता के विरुद्ध कैसे-कैसे शनैःशनैः आगे बढ़ा और कैसे किसान तथा जन साधारण आर्थिक लूट-खसोट से तंग आकर इस आन्दोलनमें खिचते चले आये। निस्सन्देह प्रेमचन्द पहले लेखक थे कि जिन्होंने इस उद्देश्य से अपने साहित्य की रचना की कि उसे पढ़कर देश की जनता गुलामी से नफरत करना सीखे और ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध अपनी आजादी की लड़ाई को तेज करे। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द जीवन-विकास को कुंठित करने वाले हर प्रकार के अन्ध-विश्वास, रूढ़िवाद, दम्भ और शोषण से घृणा करते थे। हम देखते हैं कि उनकी कहानियों और उपन्यासों के किसान पात्र सामन्ती व्यवस्था की गुलामी और उससे उत्पन्न जीवन-नरक से निकलने का प्रयत्न कर रहे हैं और मध्यमवर्गके श्रमजीवि लोग और गरीब क्लर्क अपने नागरिक जीवन में निहित अन्याय' रूढ़िवाद और अन्धविश्वास के विरुद्ध संघर्षशील हैं। प्रेमचन्द सीधे-सच्चे और निरीह जन साधारण धार्मिक विश्वास अतः रूढ़िगत विचारोंका भी आदर करते हैं क्योंकि इनसे उन्हें घोर दरिद्रता और विषमता में भी जीवित रहने का सहारा मिलता है। लेकिन वे धर्म के नाम पर जन साधारण की लूट-खसोट करने वाले ढोंगी दम्भी ब्राह्मणों और स्वार्थी शिक्षित वर्ग को खूब आड़े हाथों लेते हैं। वे देखते थे कि जज, वकील, प्रोफेसर किसी को भी जनता से हमदर्दी नहीं है। जिसकी शिक्षा जितनी ऊँची है उसका स्वार्थ उतना ही बढ़ा हुआ है।

घूसखोरी, बेईमानी और शोषण बढ़ता जा रहा है और इस सामाजिक व्यवस्थामें देश का नैतिक स्तर इस हद तक गिर गया है कि अदालतें और स्कूल कालेज भी जनता को ठगने की दुकानें बनी हुई हैं। इस लिये मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिये सिर्फ उपदेश या थोड़ा बहुत सुधार ही काफी नहीं है, एक नई राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था है। और वह ध्यवस्था आजादी प्राप्त होने पर ही स्थापित हो सकती है।

प्रेमचंद हर तरह की शारीरिक और मानसिक गुलामी, मिथ्या धारणाओं और रूढ़िगत मान्यताओं के बंधनों से घृणा करते थे और इनसे उत्पन्न हुए दुखों, कष्टों और शोषण से जन साधारण की मुक्ति चाहते थे। आरम्भ में अंत तक यही उनके साहित्य की मुख्य ध्वनि है। लेकिन मुक्ति प्राप्त करने के साधन क्या हैं; इस बारे में वे आदर्शवाद को लेकर चले थे; लेकिन जैसे जैसे उनका सामाजिक और राजनीतिक ज्ञान बढ़ता रहा उनके विचारों में प्रौढ़ता आती गई, और वे आदर्शवादी से यथार्थवादी बनते गय। वे सुधार के स्थान पर संघर्ष और क्रान्ति को सारे रोग का निदान समझने लगे। जीवन के अन्तिम पर्व में भी उनमें जो असंगतियाँ और भ्रान्तियाँ शेष थीं, उनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। लेकिन उनके विचार-परिवर्तन और जीवन विकास को समझने के लिये उनके उपन्यासों और कहानियों पर एक भरपूर दृष्टि डाल लेना बेहतर होगा। इससे हमें अपने देश की बदलती हुई सामाजिक और राजनीतिक विचारधारा को समझने में भी सहायता मिलेगी और देश की यथार्थ और वास्तविक स्थिति को समझ लेना हमारे लिये आज भी इतना ही जरूरी है जितना कि प्रेमचन्द के समय में साम्राज्य के विरुद्ध देश के स्वतन्त्रता-संग्राम को आगे बढ़ाने के लिये समझ लेना जरूरी था।

पहले हम प्रेमचन्द के उपन्यासों को लेंगे और जिस क्रम से लेखक ने उन्हें लिखा था, उसी क्रम से उनकी आलोचना करेंगे।

रूठी रानी

जिस प्रकार प्रेमचंद ने शुरू में ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी थीं उसी प्रकार उन्होंने यह एक छोटा-सा ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखा है। इस उपन्यास की कथा-सामग्री उस जीवन काल से ली गई है जब पठानों और मुगलों में राजसत्ता के लिए होड़ चल रही थी। और राजपूत आपसी फूट और ईर्षा के कारण अतुल वीरता के बावजूद परास्त हो रहे थे।

उपन्यास की नायिका जैसलमेर के रावल मोनकिरण की बेटी उमादे है। रावल सन् १५८६ में गद्दी पर बैठा। मारवाड़ के राजा मालदेव से उसकी

पुरानी शत्रुता थी। उमादेवी जवान हुई तो सारे देश में उसके रूप और सुंदरता की चरचा होने लगी। दूसरे बहुत से राजपूत राजाओं की तरह मारवाड़ के राजा मालदेव ने भी उमादेवी से विवाह का संदेश उसके पिता रावल के पास भेजा। रावल यह संदेश पाकर जलभुन गया और इसलिये संदेश स्वीकार करने की सोची कि विवाह-मंडप में जाते समय मालदेव की हत्या करदी जाये। इस बात का पता रावल की रानी और उससे उमादे को लग गया। उमा ने अपनी सखी भरेली की सहायता से मालदेव को अपने पिता के षडयन्त्र से सूचित कर दिया।

विवाह से पहले मालदेव को कत्ल करने की योजना असफल हुई तो रावल ने अपने एक सरदार को स्त्री का स्वांग भराकर राजभवन के द्वार पर खड़ा कर दिया ताकि जब राजा मालदेव रात को उमा के रनवास में प्रवेश करे तो उसकी हत्या कर दी जाये। चतुर भरेली ने इस चाल को भी भांप लिया और वह राजा को राजकुमारी उमा के महल में ले जाने के बजाय अपने कमरे में ले गई। भरेली चतुर नहीं सुंदर भी थी। राजा मालदेव शराब के नशे में धुत उसी पर रीझ गया। उमादेको यह बात बुरी लगी और वह राजा से रूठगई।

मालदेव की और भी रानियाँ थीं और वे उमादे से सौतिया डाह रखती थीं। जब पटरानी को पता चला कि उमादे राजा से रूठी हुई है तो उसने जलती आग पर तेल डाला और उमा के दम्भ और गरूर की चर्चा छेड़कर राजा को उसके विरुद्ध भड़काया। लेकिन राजा के बूढ़े और समझदार पुराने नौकर ईश्वरदास ने राजा और नई रानी में मेल कराने का प्रयत्न किया और वह इस प्रयत्न में सफल भी हो गया। लेकिन सौतों के षड्यंत्र, राजा की, उच्छृंखलता और उमादे के स्वाभिमान के कारण यह मेल इस दिन नहीं रह सका।

उधर शेरशाह ने हुमायूं से दिल्ली का राज छीन लिया और देश पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिये मारवाड़ पर आक्रमण कर दिया। राजा मालदेव और उसकी बहादुर राजपूत सेना ने अपने महान बलिदान और वीरता से इस आक्रमण को असफल बना दिया। लेकिन जिस राजा ने इतने बड़े शत्रु को हरा दिया वह स्वाभिमानिनी उमादे के मन को नहीं जीत सका। वह ऐसी रूठी कि उम्र भर रूठी ही रही। जिस समय पराक्रमी सम्राट् अकबर कूटनीति और शक्ति से राजपूत राजाओं को अपने वश में कर रहा था उस समय लम्बी आयु भोगकर राजा मालदेव का देहान्त हो गया और उमादे समय की रीति के अनुसार पति के साथ सती हो गई।

आलोचना

प्रेमचन्द ने इस उपन्यास म राजपूतों की देश-भक्ति और वीरता को आदर्श के रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है और साथ ही दिखाया है कि आपसी फूट और ईर्षा के कारण वे देश को गुलामी और विनाश से नहीं बचा सके। देश को स्वतन्त्र करने के लिये देशभक्ति और वीरता के साथ एकता और संगठन भी जरूरी है।

फिर इस उपन्यास में बहु-विवाह की खराबियों राज-भवन और दरबार के षड़यन्त्रों और उनसे होने वाले शक्तिह्रास को भी भली भाँति दर्शाया गया है। उपन्यास की कथा-सामग्री ऐतिहासिक हो अथवा सामाजिक उसमें मुख्य और विशेष बात यह होती है कि लेखक ने उसे किस दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द इतिहास के बारे में एक स्वस्थ और प्रगतिशील दृष्टिकोण रखते थे। उनकी ऐतिहासिक कहानियों की तरह इस उपन्यास को पढ़कर हमारे प्राचीन इतिहास की अच्छी बातें ग्रहण करने और त्रुटियाँ और बुराइयां छोड़ देने की प्रेरणा मिलती है। प्रेमचन्द नारी के अधिकारों के बारे में सदा सजग रहे हैं और राजपूतों की सामंती व्यवस्था में नारी को कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे, प्रेमचन्द को यह बात अखरती है और वे लिखते हैं कि—"बेटी बिन सींगों की गौ है, माता पिता उसकी रक्षा करते हैं और जिसके पल्ले चाहें बांध देते हैं।"

उपन्यास दिलचस्प है। लेकिन पढ़ते समय यह विचार प्रायः मस्तिष्क में उठता है कि यह प्रेमचन्द की शुरू की कृति है। पात्र उभरते नहीं। चरित्र-चित्रण के बजाये घटनाओं के उल्लेख पर अधिक ध्यान दिया गया है। शायद इन्हीं त्रुटियों के कारण प्रेमचन्द की रचनाओं में इस उपन्यास की चर्चा कम होती है।

वरदान

प्रेमचन्द ने यह उपन्यास सन् १९०५-६ में लिखा। उस समय दुनिया में आर्थिक संकट का प्रकोप था। जापान ने यूरोप की एक बड़ी शक्ति रूस को युद्ध में परास्त किया था। एशिया की जनता में साम्राज्यवादी अत्याचार और शोषण से क्षोभ बढ़ रहा था और उपनिवेशों में देश प्रेम की भावना और स्वतन्त्रता का आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा था। हमारे राजनीतिक आन्दोलन में भी यह उभार आया था और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलकके नेतृत्वमें एक उग्र दल सामने आरहा था। प्रेमचन्दके इस उपन्यासका मुख्य विषय भी देश भक्ति है। पहले ही परिच्छेद में हमें भारत की सुशीला नारी सुवामा के दर्शन

होते हैं, जो देवी की उपासना की आई है और उससे यह वरदान मांग रही है कि देवी उसे एक एसा पुत्र प्रदान करे जो देश सेवा में अपना जीवन अर्पण करदे।

देवी के वरदान से सुवामा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जिसका नाम प्रताप रखा गया। सुवामा के पति मुंशी शालिग्राम एक भले आदमी थे। साधु सन्तों की सेवा और दान धर्म में विश्वास रखते थे। जब यह पुत्र उत्पन्न हुआ तो उनकी बृद्धावस्था थी। जैसे ही प्रताप छः साल का हुआ मुन्शीजी प्रयाग में कुम्भ का मेला देखने गये और फिर लौट कर नहीं आये।

उनके ऊपर बहुत-सा कर्ज था। सुवामा ने अपना इलाका और फालतू सामान बेच कर कर्ज चुकाया और इसके उपरान्त उसके पास सिर्फ एक मकान बच रहा। सुवामा ने इस मकान को दो हिस्सों में विभाजित किया। एक में आप रहने लगी और दूसरा संजीवनलाल नामक एक व्यक्ति को किराया पर दे दिया।

संजीवनलाल सपरिवार इस मकान में रहने लगा। कुटुम्ब म उसकी पत्नी सुशीला के अतिरिक्त एक कन्या विरजन अथवा बृजरानी थी। प्रताप का हेल-मेल विरजन से बढ़ गया और उनमें बालसुलभ मित्रता होगई। ज्यों-ज्यों बालक बढ़ते रहे, प्रेम भी बढ़ता रहा और बड़ी होने पर एक दिन विरजन ने सुवामा से कहा कि वह प्रताप से ब्याह करना पसन्द करेगी।

उधर डिप्टी श्यामाचरण की पत्नी सुशीला की सहेली थी। वह एक दिन उससे मिलने आई और विरजन की सुंदरता और गुणों पर मुग्ध हो गई। डिप्टी की पत्नी के प्रस्ताव पर विरजन का विवाह उसके बेटे कमलाचरण से हो गया।

कमलाचरण बहुत ही आवारा लड़का था और उसी स्कूल में पढ़ता था। जिसमें प्रताप पढ़ता था। विरजन के साथ उसका विवाह प्रताप को स्वाभाविक रूप से बुरा लगा। इसलिये वह उससे घृणा करता और द्वेष [illegible] था। जब कभी उसे मौका मिलता था, वह सुशीला से कमलाचरण की बुराई करता था और स्कूल में उसकी काली करतूतों को बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करता था। इससे उसका अभिप्राय विरजन को जलाना भी होता था।

संजीवनलाल भी कमलाचरण को आवारा और दुष्ट समझने लगे थे और उसके साथ अपनी बेटी ब्याह देने से दुखी थे। सुशीला को तो इसी ग़म में तपेदिक हो गया और वह घुल-घुलकर मर गई।

विरजन का गौना हुआ। वह पति के घर चली गई। उसके प्रभाव से

कमलाचरण सुधर गया। उसने अपने कनकौओं को फाड़ डाला, चर्खियां तोड़ दीं और कबूतर उड़ा दिये। वह आवारगी छोड़कर पत्नी के प्रेम में बंध गया। लेकिन इस सुधार के उपरांत भी उसका मन पढ़ाई में नहीं लगता था। इसलिये विरजन ने उसे प्रयाग जाकर पढ़ने की सलाह दी।

उधर प्रताप भी विरजन की याद भुलाने के लिए बनारस छोड़कर प्रयाग चला गया था। अब वह क्रिकेट का प्रसिद्ध खिलाड़ी और पढ़ने में होशियार था। सारे प्रयाग में उसकी ख्याति फैल रही थी। एक बार वह क्रिकेट का मंच छोड़कर विरजन की तीमारदारी को गया था। वहां उसने पति पत्नी का आपसी स्नेह देखकर कमला-से द्वेष छोड़ दिया था और उसे अपना मित्र समझने लगा था। प्रयाग में उसनें अपने मित्र कमलाचरण का स्वागत किया।

पर कमला का मन पढ़ने में न लगा। विरजन से दूर होते ही उसकी आवारगो और कुलच्छन उससे फिर आ चिपटे। बोर्डिंग से लगा हुआ एक छोटा सा बाग था। कमला इस बाग के मालीकी लड़की सरयू पर डोरे डालने लगा। एक दिन जब वह सरयू से एकान्त में मिलने गया, तो माली आ गया। कमला ने दीवार फांदकर जान बचाई और ट्राम में बैठकर स्टेशन पर जा पहुँचा। गाड़ी में बैठ गया; लेकिन उसके पास टिकट नहीं था। इसलिये जब टिकट-चेकर आया, तो चलती गाड़ी से कूद पड़ा और गिरते ही मर गया।

विरजन विधवा हो गई। उसके सुसर डिप्टी श्यामाचरण को डाकुओं ने गोली मार दी और सास पागल होकर मर गई।

कमला की मृत्यु के बाद प्रताप के मन में विरजन का प्रेम फिर जागा। वह प्रयाग से बनारस आया और चोरी-चोरी उनके घर पहुँचा। उसने दरार में से झांककर देखा कि विरजन सफेद साड़ी पहने, बाल खोले और हाथ में लेखनी लिये धरती पर बैठी कुछ लिख रही है। उसकी विचार-मग्न मुद्रा को देखकर प्रताप पर ऐसा प्रभाव हुआ कि वह उसी समय उलटे पांव लौट गया और उसने तुरंत संन्यासी बनकर देश सेवा करने का व्रत धारण किया।

संन्यासी प्रताप [illegible] सब कुछ छोड़कर देश सेवा में लग गया। उसने अपना पुराना नाम भी त[illegible] और नया नाम बालाजी रखा। थोड़े ही दिनों में उसकी देश-सेवा और त्याग की चर्चा जगह-जगह होने लगी और जहाँ भी वह जाता धूम-धाम से उसका स्वागत होता। विरजन अब कवितायें लिखने लगी थी। उसने एक कविता बालाजी जी के स्वागत में भी लिखी।

बालाजी की माँ उसे गृहस्थ जीवन में देखना चाहती थी। माधवी विरजन की एक सखी थी। उसने विरजन से बालाजी के त्याग और

गुणों की प्रशंसा सुनी थी । वह मन ही मन में उसे प्यार करती थी और उसे अपना पति मानती थी ।

इसी प्रकार बारह वर्ष बीत गये । बनारस वालों ने बालाजी को एक गौशाला का शिलारोपण करने के लिये उसे निमंत्रित किया । विरजनने माधवी को सलाह दी कि वह रात को बालाजी के कमरे में जाकर उसे अपनी राम कहानी सुनाये । जब माधवी दरवाजे पर पहुँची, तो उसने देखा कि लालटेन उलटने से कमरे को आग लग गई है । वह लपक कर भीतर गई और आग बुझादी । इस बीच में बाला जी की आँख खुल गई । स्थिति को समझ कर वह माधवी से बहुत प्रसन्न हुआ और उसके वहाँ आने का कारण पूछने लगा । जब उसे मालूम हुआ कि माधवी उन्हें प्रेम करती है, तो वह उससे विवाह करने को सहमत हो गया ।

लेकिन बालाजी को देखते ही माधवी ने भी अपने विचार बदल दिये, और कहा कि मैं भी सन्यास लेकर आप की तरह देश सेवा करना चाहती हूँ । इसलिये जब बालाजी वहाँ से चले तो माधवी भी योगिनी बन कर उनके साथ हो गई ।

कहना नहीं होगा कि कथानक बहुत ही लम्बा और जटिल है । इसमें पात्र तो बहुत से हैं; लेकिन कोई भी हाड मांस के मनुष्य की तरह उभर कर सामने नहीं आता । सभी लेखक के हाथ की कठपुतलियाँ बन कर रह गये हैं । जब वह उनकी कोई उपयोगिता नहीं देखता, तो तोड़ मरोड़ कर फेंक देता है । अथवा अकारण मृत्यु करवा देता है । एक छोटे से उपन्यास में इतनी मृत्युएँ बहुत अखरती हैं । और घटना प्रवाह भी स्वाभाविक नहीं है । कमलाचरण विरजन के प्रभाव से अनायास सुधर जाता है और उसके उपरान्त प्रयाग पहुँच कर फिर आवारा और दुष्ट बन जाता है और कुचक्र में फंसकर मर जाता है । उपन्यास के आरम्भ ही से पाठक के मन में यह आशा बंधती है कि प्रताप अर्थात बालाजी आदर्श देश भक्त के रूप में उनके सामने आयेगा और वह उसे देश सेवा का महान कार्य करते देखेगा । लेकिन यह सब कुछ नहीं होता । पहले वह दुर्बल चरित्र का ईर्षालू युवक है । प्रयाग पहुँच कर वह अचानक प्रसिद्ध हो जाता है और फिर विधवा माधवी को विचार-मग्न देख कर उसका संन्यासी बनना तो एक दम चमत्कार जान पड़ता है, जैसे बस देवी ही के वरदान ने अपना असर दिखाया हो । इसके उपरान्त देश सेवाका भी कोई स्पष्ट रूप सामने नहीं आता । आँख झपकते ही उसे प्रसिद्धि प्राप्त हो जाती है, जैसे लेखक की कलम ने ही उसे नेता बना दिया है। ऐसे नेता उपन्यासों ही

में धरे रह जाते हैं; पाठकों को प्रभावित नहीं कर पाते।

उपन्यास में छोटी-छोटी बातें भी अखरती हैं। प्रयाग में उस समय तो क्या आज भी ट्रामवे नहीं है।

यह उपन्यास पहले उर्दू में लिखा गया था और इसका नाम जलवाए इसार (त्याग का दिग्दर्शन) था। इस उपन्यास की भाषा एकसी और सरल होने के बजाय ऊबड़-खाबड़ और कठिन है; कहीं अरबी और फारसी के भारी-भारी शब्द और तरकीबें हैं, तो कहीं हिंदी संस्कृत के अनमिल और बेजोड़ शब्दों की भरमार है। प्रेमचन्द ने रत्ननाथ सरशार, मौलाना मुहम्मद हुसन आजाद, बंकिमचन्द्र चैटर्जी और रवीन्द्रठाकुर आदि कई लेखकों की शैली को एकसाथ अपनाने का असफल प्रयास किया है।

प्रेमा अथवा प्रतिज्ञा

यह उपन्यास भी सन् १६०६ में लिखा गया था। उन दिनों स्वतन्त्रता आन्दोलन की तरह समाज सुधार के आन्दोलन भी चल रहे थे। उनमें आर्य-समाज का आन्दोलन प्रमुख था। अछूतोद्धार और विधवा की हालत का सुधार उसके विशेष अंग थे। प्रतिज्ञा उपन्यास हमारे समाज की सबसे पीड़ित विधवा नारी की समस्या को लेकर लिखा गया है। इसलिये सामाजिक उपन्यास है।

संक्षेप में इसकी कहानी यह है कि अमृत और दाननाथ परम मित्र हैं। वे दोनों प्रेमा से प्यार करते हैं। प्रेमा यों भी अमृत की साली है। बड़ी बहन की मृत्यु के उपरांत उसकी शादी अमृत से निश्चित हो गई है। दाननाथ इस आघात को चुपचाप सहन करता है। लेकिन अमृतराय एक दिन विधवा विवाह के बारे में भाषण सुनकर अपना इरादा बदल देता है। वह अपना जीवन विधवाओं की सेवा के लिये अर्पण कर देता है। निस्सहाय और दुखिया विधवाओं को आश्रय देने के लिये विधवा आश्रम खोलता है।

प्रेमा का पिता रईस और भला आदमी है। उसे अमृतराय की इस प्रतिज्ञा से दुःख होता है और वह अपनी बेटी का विवाह दाननाथ से कर देता है। प्रेमा की एक सखी पूर्णा है। वह उनके पड़ोस में रहती है और दोनों में बड़ा मेल-जोल है। उसका पति बसत कुमार होली के दिन भंग पीकर स्नान करने जाता है और गंगामें डूब जाता है। विधवा पूर्णा भी अब बद्रीप्रसाद के घर रहने लगती।

सुमित्रा प्रेमा की भाबी है, जिसकी अपने पति कमलाप्रसाद से इसलिये नहीं बनती कि वह कंजूस, दुराचारी और नीच है। वह पूर्णा पर डोरे डालता है और अमृतराय का इसलिये विरोध करता है कि वह उसे कुमार्ग पर चलने से

रोकता है। एक दिन कमला प्रसाद भोली-भाली पूर्णा से बलात्कार करता है, तो वह उसे कुर्सी उठा कर मारती है और उसका घर छोड़कर अमृतराय के विधवाश्रम में जाकर रहने लगती है। इसके उपरान्त कमला प्रसाद का स्वभाव बदल जाता है और वह अपनी नीचता छोड़कर एक भले आदमी का जीवन बिताने लगता है।

अमृतराय और प्रेमा उपन्यास के ऐसे पात्र हैं, जिन्हें लेखक ने घड़ा है। उनमें जीवन का अभाव है और एकदम निष्प्राण जान पड़ते हैं। सारे उपन्यास में सिर्फ सुमित्रा का ही जीता-जागता और सप्राण पात्र है। वह जिस साहस से पति की धूर्तता का विरोध और स्त्री के अधिकारों की रक्षा करती है उससे पाठक के मनमें उसकी प्रति श्रद्धा, आदर और सम्मान उत्पन्न होता है। कमलाप्रसाद को बदमाश के रूप में पेश किया गया है; लेकिन बदमाशी की भी कुछ परम्परा होती है, उसकी भी कुछ विशेषतायें होती हैं, जिनमें से एक भी उसमें मौजूद नहीं है। वह कंजूस है और कंजूस के लिये बदमाश बनना सम्भव नहीं है। पूर्णा सीधी-साधी सरल स्वभाव की स्त्री है। वह कमला प्रसाद से सहानुभूति पाकर उसकी ओर आकर्षित होती है। जब वह बाग में कुर्सी उठाकर कमलाप्रसाद पर पटकती है तो आश्चर्य होता है। पूर्णा जैसी औरत के लिये यों आक्रमण कर सकना सम्भव नहीं। अंत में कमलाप्रसाद के स्वभाव में जो तब्दीली दिखाई गई है, वह 'हृदय परिवर्तन' से अधिक कुछ नहीं है। लेखक ऐसा चाहता हो, यह दूसरी बात है; लेकिन नीच आदमियों की प्रकृति ऐसे नहीं बदला करती। बसंत कुमार के गंगा में डूबने की घटना भी खटकती है जैसे पूर्णा को विधवा बनाने के लिये ही उसे भंग पिलाकर स्नान करने भेजा गया हो। दाननाथ का उपन्यास में कोई खास रोल नहीं है, इसीलिये उसका चित्र गौण है।

प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में एक सामाजिक समस्या को सुधारवादी ढंग से सुलझाने की कोशिश की है। इसलिये उन्होंने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को, उसके रीति रिवाज को छूआ तक नहीं, जहां तहां टीप टाप करके उसी में सुधार करना चाहा है। इसलिये न समस्या हल हुई है और न पात्र उभर सके हैं।

उपन्यास की भाषा सरल और चुस्त है। कथोपकथन भी रोचक हैं। कमला प्रसाद धूर्त आदमी है वह पूर्णा से अपने प्रेम को ईश्वर की प्रेरणा बताते हुए कहता है—"पूर्णा! एक पत्ता भी उसके हुक्म के विना हिल नहीं सकता। सुमित्रा मुझसे नाराज है तो यह ईश्वर की इच्छा है, तुम मुझ पर मेहरबान हो तो यह भी ईश्वर की इच्छा है। क्या हमारा तुम्हारा मेल ईश्वर

की इच्छा के बिना हो सकता था ?"

इससे यह भी पता चलता है कि दुष्ट और नीच आदमी सरल और निरीह व्यक्तियों को ईश्वर के नाम पर कैसे ठगते हैं। उनकी धर्मपरायणता और ईश्वर भक्ति महज एक ढोंग है। प्रेमचन्द ऐसे लोगों की सदा कलई खोलते हैं। लेकिन जब पूर्णा आश्रम के बाग में थोड़ी सी जमीन साफ करके एक घरोंदा-सा बनाती है और फूल-पत्तों से सजाकर उसमें कृष्ण की मूर्ति स्थापित करती है, तो उसके जीवन को सहारा देने वाली सच्ची श्रद्धा और उपासना के सामने प्रेमचन्द के नास्तिक पात्र भी सिर झुका देते हैं। प्रेमचन्द की जनता से यह सच्ची सहानुभूति है ।

सेवा-सदन

यह भी सामाजिक उपन्यास है और स्त्री की दीन समस्या को लेकर लिखा गया है। इसके साथ ही मध्यमवर्ग के लोगों की आर्थिक कठिनाइयों और सामाजिक बन्धनों पर प्रकाश डाला गया है और ऊँचे और 'सभ्यवर्ग' की आत्म विडम्बना, ढोंग और बगुला भक्ति की अच्छी कलई खोली गई है।

संक्षेप में उपन्यास की कहानी यह है। कृष्णचन्द्र एक ईमानदार थानेदार है। वह पुलिस कर्मचारियों की तरह घूस नहीं लेता। वेतन में गुजर बसर करता है। सुमन और शाँता उसकी दो बेटियाँ थीं। सुमन जवान हुई, तो उसके ब्याह के लिये घर में रुपया नहीं था। इसलिये कृष्णचन्द्र ने घूस लेने की ठानी। उस हल्के में एक बड़ा महन्त और जागीरदार रामदास था, जो साथ ही साहूकारा भी करता था। उसका कारोबार श्री बाँके बिहारीलाल के नाम पर चला करता था। दस-बीस मोटे ताजे और मुस्टंडे साधु उसके अखाड़े में पड़े रहते थे, जो दूध-मलाई खाते और दंड पेलते थे। चरस और भंग खूब पीते थे। महन्त जी की अफसरों से भी साँठ गाँठ थी। किसी आसामी की यह हिम्मत नहीं थी कि महन्त जी का कर अथवा सूद देने से इनकार करे। जो व्यक्ति महन्त जी की बात नहीं मानता था उसका इलाके में रहना सम्भव नहीं था। पानी में रह कर मगरमच्छ से कौन वैर मोल ले सकता है।

कृष्णचन्द्र जिन दिनों सुमन के ब्याह के लिये घूस लेने की बात सोच रहा था, उन्हीं दिनों श्री बाँकेबिहारी जी के मुस्टंडों ने एक आसामी चेतू को इतना पीटा कि उसे जान से मार डाला। उसका अपराध यह था कि वह यज्ञ के लिये लगाया हुआ चन्दा नहीं दे सका था। थानेदार कृष्णचन्द्र ने रिश्वत लेकर मामला रफा दफा कर दिया। लेकिन उसने अपने मातहतों को घूस में से कोई हिस्सा नहीं दिया। जिससे बात खुल गई और घूस लेने के अपराध में

कृष्णचन्द्र को पाँच साल क़ैद की सज़ा मिली।

कृष्णचन्द्र की पत्नी सुमन और शान्ता को लेकर अपने भाई उमानाथ के घर चली गई। धनाभाव के कारण सुमन का विवाह पन्द्रह रूपये वेतन पाने वाले गजाधर नामक व्यक्ति से हो गया।

सुमन, जिसने भले दिन देखे थे, अब बहुत ही निम्न श्रेणी में चली गई। पन्द्रह रुपये में गृहस्थ चलाना मुश्किल जान पड़ता था। गजाधर से भी उसे कोई सहानुभूति नहीं मिली। वह उससे छोटी-छोटी बातों पर लड़ पड़ता था। भोजन उपरान्त यदि कुछ दाल भात बच जाता, और सुमन उसे गिरा देती, तो गजाधर को उसकी यह बात बहुत खलती।

इधर सुमन को घर में यह बमचख सहनी पड़ती थी और दो जून रोटी भी नहीं जुड़ती थी। उधर उसके घर के सामने एक भोली नामक वेश्या खूब ठाट से रहती थी। नगर के बड़े-बड़े आदमी उसके घर खुले बन्दों आते थे और भोली का आदर करते थे। सुमन सोचती थी कि मुझसे तो यह वेश्या कहलाने वाली भोली ही अच्छी है। एक दिन वह गंगा से लौटती हुई म्यूनिसिपल बाग़ में एक बेंच पर बैठने लगी, तो चौकीदार ने उसे उठा दिया। और उसी समय दो वेश्याएं आईं तो चौकीदार ने उनका तपाक से स्वागत किया। सुमन को अपना यह अपमान बहुत खला।

इसी बीच में पद्मसिंह वकील की पत्नी सुभद्रा से सुमन का परिचय हो गया और वह उनके घर आने जाने लगी। गजाधर सुमन के पद्मसिंह के घर जाने पर सशंक रहने लगा। इस बीच में म्यूनिसिपल चुनाव आये और पद्मसिंह सदस्य चुने गये। इस खुशी में उनके घर भोली का मुजरा हुआ। मुजरा के पश्चात सुमन रात को देर हुए घर पहुँची, तो गजाधर ने उस पर दुराचार का आरोप लगा कर उसे घर से निकाल दिया।

सुमन ने अपनी सहेली सुभद्राके घर आश्रय लिया। इस पर गजाधर ने शहर में यह प्रचार किया कि बगुला भक्त पद्मसिंह ने उसकी पत्नी को अपने घर डाल लिया। पद्मसिंह ने बदनामी के भय से सुमन को अपने घर में नहीं रहने दिया। अब सारे शहर में एक भोली ही ऐसी थी, जिससे सुमन की जान पहचान थी। वह कुछ दिन उसके घर में रही और फिर चौबारा लेकर दालमंडी में जा बैठी।

जब पद्मसिंह और उसके मित्र विट्ठलदास को पता लगा कि समाज की ठुकराई सुमन वेश्या बाजार में जा बैठी है तो सुधारक विट्ठलदास ने उसके उद्धार की सोची। उसकी बहुत कुछ दौड़ धूप और प्रयत्न के पश्चात् सुमन ने

वह चौबारा छोड़ दिया और उसे विधवा आश्रम में दाखिल करा दिया गया।

उधर सुमन की छोटी बहन शांता भी विवाह के योग्य हो गई थी। उमानाथ ने उसकी सगाई पद्मसिंह के भतीजे सदनसिंह से कर दी। सदनसिंह का पिता मदनसिंह रूढ़िवादी व्यक्ति था। जब उसे पता चला कि सुमन शांता की बहन है और वह वेश्य वन गई है, तो उसने विवाह करने से इनकार कर दिया और बरात लौटा लाया।

सुमन का पिता कृष्णचंद्र क़ैद काटकर जेल से छूटा, तो वह पागलों की तरह रहने लगा। वह बात बात पर लोगों से लड़ पड़ता था और गांव की औरतों से अश्लील मज़ाक करता था। शांता की बरात लौट जाने पर उसे मालूम हुआ कि सुमन वेश्या बन गई है। इस लज्जा के मारे वह गंगा में डूबकर मर गया।

शांता को पद्मसिंह और विठ्ठलदास ने सुमन के साथ विधवा आश्रम में रखवा दिया। सदन बरात लौटाने के मामले म पिता से सहमत नहीं था। वह उससे झगड़ कर घर से चला गया और नाव चलाने का काम करने लगा। इस धंदे में उसे काफी सफलता मिली और वह मल्लहों का नेता बन गया।

म्यूनिसिपैलिटी में पद्मसिंह ने यह प्रस्ताव पेश किया था कि वेश्याओं को शहर से बाहर रखा जाये। प्रतिक्रियावादी सदस्यों ने इस प्रस्ताव का न सिर्फ विरोध किया, बलिक उसे साम्प्रदायिक रंग भी दे दिया गया। इसी सिलसिले में पद्मसिंह के विरोधियों ने सुमन के विधवाआश्रम में दाख़िल कराने पर एतराज़ किया और अखबारों ने इस बात को उठा लिया। सुमन ने शांता को साथ लेकर आश्रम छोड़ दिया।

जब वे दोनों नाव से नदी पार करने गईं, तो सदनसिंह ने उन्हें अपने पास रोक लिया और शांता से विवाह कर लिया। सदन और शांता दोनों ही सुमन से उदासीन रहने लगे। जब मल्लाहों को सुमन के वेश्या होने का पता चला, तो उन्होंने सदन का बहिष्कार कर दिया। सुमन को यह सब कुछ बहुत बुरा लगा। आखिर जब सदन के पुत्र जन्म पर उसके माता-पिता आये, तो शांता के संकेत पर सुमन को सदन की कुटी छोड़नी पड़ी।

सुमन के वेश्या बन जाने के बाद उसके पति गजाधर को पत्नी के प्रति अपनी निठुरता और कठोरता का आभास हुआ। वह इस दुर्व्यवहार का पश्चाताप करने के लिये सन्यासी बन गया और जनसेवा और दुखी स्त्रियों के उद्धार के लिये जीवन बिताने लगा। जब सुमन सदन की

कुटी से निकल कर गंगा में डूबने जा रही थी, तो उसकी भेंट गजाधर से हुई, जो अब स्वामी गजानन्द था और उसी की प्रेरणा पर सुमन ने सेवाश्रम का कार्य संभालने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली।

प्रेमचंद ने यह उपन्यास भी उर्दू में लिखा था; लेकिन प्रकाशित पहले हिन्दी में हुआ। पाठकों ने इसका खूब स्वागत किया और इसे हिन्दी जगत का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास घोषित किया। निस्सदेह प्रेमचंद ने यह उपन्यास लिखकर अपनी क़लम का लोहा मना लिया। उनके लिये यह सफलता वाकई हर्ष और सौभाग्य की बात थी।

हिंदीजगत ने सेवा-सदन का यह स्वागत ठीक ही किया। वाकई उस समय वह हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास था। इस उपन्यास से पता चलता है कि प्रेमचंद किस तेजी से आगे बढ़ रहे थे और उनका दृष्टिकोण अब सीमित न रहकर व्यापक होता जा रहा था। उन्होंने इस उपन्यास में अबला स्त्री और मध्यमवर्ग की समस्या को लेकर समाज के लग भग समस्त पहलुओं पर प्रकाश डाला है। उपन्यास मूलतः सुधारवादी है; लेकिन प्रेमचंद ने समाज में फैली हुई बुराइयों का यथार्थ कारण ढूँढ़ निकाला है और उसके लिये व्यक्तियों को दोषी न ठहराकर वर्तमान सामाजिक पद्धति को जिम्मेदार ठहराया है।

पहले हम देखते है कि पुलिस जिसका कर्त्तव्य समाज रक्षा और जन-सेवा है, वह खुद भ्रष्टाचार और बेईमानी फैला रही है। यदि कोई पुलिस अफसर ईमानदारी से जीवन बिताना चाहता है, तो उसके लिये गृहस्थ चलाना कठिन हो जाता है और उसके पास अपनी जवान कन्या के हाथ रंगने लायक़ भी पैसे नहीं होते। आखिर उसे भी बेईमान बनकर घूस लेनी पड़ती है और जेल जाना पड़ता है। यह अकेले कृष्णचंद्र की ट्रेजडी नहीं, समूचे समाज की ट्रेजडी है।

फिर श्री बांकेबिहारी लाल जी हैं, जो महन्त भी है और सामन्त भी हैं। वे दोनों हाथों से आसामियों को लूटते हैं। अफसर भी इस लूटमें उनके हिस्सेदार हैं। वे गुंडे पालते हैं और आसामियों की हत्या तक कर डालते हैं, कोई उन्हें पूछने वाला नहीं। धर्म और कानून दोनों महन्त जी के कुकर्म और अत्याचार की ढाल बने हुए हैं।

प्रेमचन्द ने इस उपन्यासमें विशेषरूपसे वेश्याओं की समस्या को उठाया है। वे वेश्यावृत्ति को समाज का कलंक और कोढ़ समझते थे और इसका अन्त चाहते थे। गो उन्होंने समस्या का भावनात्मक और सुधारवादी हल उपस्थित किया है और विधवाश्रम तथा सेवाश्रम इस समस्या का कोई हल नहीं

है; लेकिन उन्होंने यह बात स्पष्ट करदी है कि वेश्याएं कोई विधाता की ओर से बनकर नहीं आतीं; यह निठुर समाज ही हमारी बहू बेटियों को वेश्याएं बनने पर मजबूर करता है। एक म्यूनिसिपल मेम्बर कुंवर साहब दालमंडी बनने का कारण बताते हुए क... हैं:—"जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती राज्य कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर और सम्मान के पात्र हों, वहाँ दालमंडी क्यों न आबाद हो? हराम का धन हरा...कारी के सिवा और कहाँ जा सकता है? जिस दिन नजराना, रिश्वत और सूद-दर-सूद का अन्त होगा उसी दिन दालमंडी उजड़ जायेगी—पहले नहीं।"

जब रामनवमी के उपलक्ष्य पर काशी के प्रसिद्ध मन्दिर में भोली के भजन हुए, तो सुमन घृणा छोड़ कर उससे मेल-जोल बढ़ाने लगी। पति ने एतराज किया, तो उसने भोली के मन्दिर में जाने की बात कही। इस तर्क के जवाब में गजाधर ने कहा—"आजकल धर्म तो धूर्तों का अड्डा है। लंबी-लंबी जटायें, लंबे-लंबे तिलक और लम्बी-लम्बी दाढ़ियाँ तो महज़ पाखंड हैं और लोगों को धोखा देने के लिये हैं।"

सुमन जब एक गृहस्थ औरत है, तो उसे कोई आश्रय तक नही देता; लेकिन जब वह दालमंडीमें जा बैठती है तो समाज के रंगसयार अबुल वफा, सेठचिम्मनलाल और पंडित दीनानाथ उसके तलवे सहलाते है। जब पद्मसिंह वेश्याओं को शहर से बाहर बसाने का प्रस्ताव पेश करता है तो इसी किसम के लोग उस प्रस्ताव का विरोध करते है और उसे मजहब के नाम पर साम्प्रदायिक रंग देने तक से नहीं चूकते। झूठे धर्म और साम्प्रदायिकता के साथ-साथ प्रेमचन्द ने झूठे सुधारवादियों की पोल खोली है। विट्ठलदास जब सुमन से वेश्यावृत्ति छुड़ाने के लिये ५०) रुपया महीना जुटाना चाहता है, उसे सफलता नहीं मिलता। वेश्यावृत्ति के विरोधियों और सुमन का उद्धार चाहने वालों से भी उसे चन्दा नहीं मिलता। उनका समाज सुधार सिर्फ जबानी जमा खर्च है।

इस उपन्यास से बेजोड़ शादी और दहेज की प्रथा आदि पर भी चोट पड़ती है।

प्रेमचन्द के पहले उपन्यासों की अपेक्षा इस उपन्यास में जितनी यथार्थवाद की मात्रा अधिक है, उतना ही चरित्र-चित्रण अधिक सुन्दर है। सुमन मानवती और हठीली लड़की है। उसने सुख आराम में जीवन बिताया था और एक अच्छे घर में ब्याहे जाने के स्वप्न देखे थे। लेकिन ब्याह के उपरान्त उसे न सुख मिला और न आदर। जीवन के अनुभव ने उसे कटु और कठोर बना दिया और वह इस समाज से घृणा करने लगी जिसमें उस जैसी भली

और सच्चरित्र स्त्रियों का तो अपमान होता है, लेकिन वेश्याओं का आदर-सम्मान होता है। उन्हें भले घरों के उत्सवों और मंदिरों तक में निमंत्रित किया जाता है; जिसके नेता रंगे सयार ढोंगी और स्वार्थी हैं। उसने कठिनाईयाँ भी सहन कीं और अपमान भी बर्दाश्त किया, फिर भी पति ने झूठा दोष लगाकर घर से निकाल दिया और भोली वेश्या के घर के सिवा उसे कहीं आश्रय नहीं मिला, तो उसने विवश होकर कुपथ ग्रहण किया व अपनाया, यह सुमन की—अबला नारी की समाज को चुनौती है। वह सुख और कष्ट सह सकती है; लेकिन अपमान और अवहेलना बर्दाश्त नहीं कर सकती। हमें उसका यह चलन ठीक ही जान पड़ता है।

पद्मसिंह अपने मध्यमवर्गी पढ़े-लिखे समुदाय का टाइप चरित्र है। उसका किताबी ज्ञान और कानून की शिक्षा उसे हर समय फूक-फूंक कर कदम रखने को कहता है। वह जरा-जरा सी बात पर अपनी बदनामी से डर जाता है। म्यूनिसिपल चुनाव में सफल होने के बाद मुजरा को बुरा समझने के बावजूद मुजरा करवाता है, सुमन को निरपराध समझते हुए भी उसे अपने घर में आश्रय देने से इनकार कर देता है और म्यूनिसिपैलिटी मे अपने प्रस्ताव का विरोध होते देखकर सोचने लगता है—'अपना आराम से जीवन बिताते यह किस झमेले में पड़ गये।" दरअसल वह अपनी पोजीशन बनाने के लिये ही समाज सुधार और लोक-सेवा के कामों में हाथ डालता है और विरोध और बदनामी देख झट पीछे हटने को तैयार हो जाता है। उसके लिये सत्य, न्याय और सुधार सब गौण है, अपना स्वार्थ ही मुख्य है। विट्ठलदास उसे कहता है—"तुम्हारे संकल्प दृढ़ नहीं होते।" यही उसकी असलियत है।

विट्ठलदास सच्चे मन से समाज का सुधार चाहता है और उसके लिये तन, मन और धन से काम करता है। लेकिन वह तमाम सुधारवादियों की तरह व्यक्तिवादी भी है। वह पद्मसिंह से इसलिये बिगड़ गया कि उसने विरोध के बावजूद मुजरा कराया और फिर वह गजाधर के कहने पर पद्मसिंह पर सुमन को घर में डाल लेने का झूठा लाँछन लगाने से भी बाज़ नहीं आया। उसके बाद जब उसे मालूम हुआ कि सुमन वेश्या बनकर दालमंडी में जा बैठी है, तब उसे बड़ा दुख और क्षोभ हुआ और वह इसके लिये अपने आपको दोषी समझने लगा क्योंकि उसने पद्मसिंह के विरुद्ध झूठा प्रचार करके सुमन को उसके घर से निकलवाया था। इसका पश्चाताप यही था कि वह सुमन से वेश्यावृत्ति छुड़ाये और वह इस काम में जीजान से लग गया। ऐसे लोग हमेशा दोष अपराध और पश्चाताप के चक्र में पड़े रहते हैं। उनकी सत्कामनाओं और

स्वेच्छाओं के बावजूद सुधार का काम कभी खत्म नहीं होता। सुमन ने उसे ठीक ही कहा—"एक मैं ही तो नहीं। भले और ऊँचे कुल की कितनी ही बहू बेटियाँ दालमंडी में बैठी हैं।" विट्ठलदास फिर भी उनके बारे में नहीं सोचता। सोच ही नहीं सकता क्योंकि सुधारवाद समाज के इस रोग का निदान नहीं है। उससे तो महज़ किसी एक सुमन और एक शांता का उद्धार हो सकता है।

सुमन का पिता कृष्णचन्द्र पाठकों की हमदर्दी और सहानुभूति का पात्र है। इस दूषित सामाजिक व्यवस्था में किसी भी भले आदमी के लिये ईमानदार बने रहना सम्भव नहीं है। वह बेटी के विवाह से मजबूर है और घूस लेकर जेल जाता है। जेल से छूट कर उसका पागल और विकृत सा हो जाना भी स्वाभाविक है क्योंकि वह सोचता है कि न ईमान ही रहा और न धन ही मिला! यश भी गंवाया और घर भी खोया। जेल से निकलकर वह प्रायः यह दोहा पढ़ता है।

"लकड़ी जल कोला भई, कोला जल कर राख।
मैं पापन ऐसी जली कोयला भई, न राख॥"

प्रेमचंद ने यह दोहा ठीक ही उसके मुख से कहलवाया है।

गजाधर भी भला आदमी है। उसकी त्रुटियाँ समाज की त्रुटियाँ है। वह अपनी थोड़ी आमदनी के कारण ही ऐसा बना है और इसी कारण सुमन से लड़ता झगड़ता रहता और उस पर संदेह करता है। लेकिन सुमन के वेश्या बन जाने के बाद उसका जो दूसरा रूप हमारे सामने आता है उस पर विश्वास नहीं होता। समाज ने जिन व्यक्तियों को इतना कुचल दिया हो, वे एकदम परिस्थितियों से इतना ऊँचा नहीं उठ सकते। सिर्फ एक सुधारवादी लेखक ही ऐसा सोच सकता है। और गजाधर को गजानंद बना सकता है।

महन्त रामदास, अबुलवफा, सेठ चिम्मनलाल और पंडित दीनानाथ अपन वर्ग के टाइप पात्र हैं और उनके द्वारा प्रेमचंद ने इस वर्ग के अन्याय, अत्याचार, ढोंग और पाखंड को भली भाँति प्रस्तुत किया है। शांता और सदन आदि के पात्र गौण जान पड़ते हैं।

इस उपन्यास में प्रेमचंद ने भाषा और साहित्य के विषय पर भी प्रकाश डाला है। उन्हें इस इस बात का दुख है कि कुछ म्यूनिसिपल कमिश्नर और पढ़े लिखे स्वार्थी लोग खाह-मखाह विदेशी भाषा बोलते हैं। उन्हें इस बात का भी खेद है कि कोई लेखक महाशय अंग्रेजी के एक दो उपन्यासों अथवा पुस्तकों का, वह भी सीधे अंग्रेजी से नहीं बंगाली या गुजराती के माध्यम से, अनुवाद करके अपने आपको तीस मार खाँ समझने लगते हैं। यही कारण है कि हमारी

भाषा में कोई अच्छा उपन्यास नहीं है।

प्रेमचंद ने सेवा सदन लिखकर इस अभाव की पूर्ति की।

प्रेमाश्रम

यह उपन्यास सन् १८-१९ में लिखा गया और सन् १९२२ में प्रकाशित हुआ। उस समय पहले विश्व युद्ध का अंत हुआ था। समस्त संसार में हलचल मची हुई थी। रूस में महान क्रान्ति सफल हुई थी और उसके परिणाम स्वरूप दुनिया के एक बहुत बड़े भाग में पहली बार मज़दूरों किसानों का राज स्थापित हुआ था। खुद हमारे देश में स्वतंत्रता आंदोलन बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ रहा था और उसे जन साधारण और किसानों मज़दूरों का पहली बार सहयोग प्राप्त हो रहा था। राष्ट्रीय आंदोलन में इस उभार के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कारणों का हमने इस पुस्तक के "इस्तीफा" शीर्षक परिच्छेदमें विस्तारसे उल्लेख कियाहै; इसलिये उन्हें दोहराने की आवश्यकता नहीं है। प्रेमचंद का यह पहला बड़ा उपन्यास है और इसकी कहानी इस प्रकार है:—

लखनपुर एक गांव है, जहाँ ज्ञान शंकर और उसके चाचा प्रभाशंकर की जमींदारी थी। संयुक्त परिवार है; इसलिये चाचा के आठ प्राणियों पर जितना खर्च बैठता ज्ञानशंकर अपने तीन प्राणियों पर उतना ही खर्च करता। वह चाहता है कि चाचा से बटवारा हो जाये। प्रभाशंकर आसामियों से रियायत करना चाहता लेकिन ज्ञानशंकर उन पर खूब जुल्म ढाता है। वह चाचा से और उसके परिवार से द्वेष रखता है, यहां तक कि जब प्रभाशंकर का लड़का दयाशंकर जो दारोगा है, घूसखोरी और अत्याचार के कारण गिरफ्तार हो जाता है, तो वह खुश होता है और अपने सहपाठी मजिस्ट्रेट से कहा कि मैं तो न्याय का पक्षपाती हूं।

आखिर प्रभाशंकर से उसका बटवारा हो गया। उसका ससुर भी बड़ा जमींदार है। एक दिन ज्ञानशंकर को तार मिला कि उसका एकमात्र साला मर गया है। वह यह सुनकर बहुत खुश हुआ क्योंकि अब ससुरकी जमींदारी भी उसे मिल जायेगी। लेकिन वह ऊपरी शोक प्रकट करने ससुराल गया। वहां उस की छोटी साली गायत्री भी थी। वह विधवा थी और गोरखपुर में उसकी भी बड़ी जमींदारी थी। ज्ञानशंकर ने उस पर डोरे डालने शुरू किये। उसकी धार्मिक रुचि देखकर कृष्ण लीला का स्वांग रचा। वह चाहता था कि गायत्री उसके प्रेम में फंस जाये और उसके बेटे मायाशंकर को गोद में लेकर अपनी जमींदारी उसके नाम लगवादे। गायत्री उसकी बातों में आगई। वह

ज्ञानशंकर को कृष्ण मानकर खुद राधा बन गई। ज्ञानशंकर की पत्नी विद्या और उसका ससुर उसकी नीचता को समझते थे। उन्होंने गायत्री को भ्रष्ट होने से बचाया। अंत में गायत्री ने जमींदारी मायाशंकर के नाम लगवाकर आत्म हत्या करली। विद्यावती ने भी पति की नीचता से तंग आकर आत्म-हत्या करली थी।

ज्ञानशंकर को एक बार मालूम होता है कि उसका ससुर दूसरा विवाह करना चाहता है इस बात से उसे बड़ी चिंता उत्पन्न होती है और तभी चैन पड़ती है, जब उसके ससुर ने खुद कह दिया कि वे ब्याह करने का कोई विचार नहीं रखते। वह चूंकि [illegible] सम्पत्ति को अपनी ही जायदाद समझता है; इसलिये उसे रायसाहब का अधिक खर्च भी अखरता है, इस लिये उसे भोजन में विष दे दिया। ससुर ने पहले ही कौर में इस बात को जान लिया। ज्ञानशंकर को बहुत बुरा भला कहा लेकिन उन्होंने तमाम भोजन जल्दी जल्दी खालिया और फिर योगशक्ति से विष को भी पचा लिया।

ज्ञानशंकर का बड़ा भाई प्रेमशंकर कई साल से लापता था। अब वह अकस्मात आ जाता है। ज्ञानशंकर उसके आने से बड़ा दुखी हुआ क्योंकि वह समझता हैं कि प्रेमशंकर को जमींदारी में से हिस्सा देना पड़ेगा। वह अमेरिका में पढ़कर आया है। विदेश में रहकर धर्म खो देने के कारण लोग उसका विरोध करते हैं और अखबारों में उसके खिलाफ समाचार और लेख छपते हैं। ज्ञानशंकर उसे यह लेख इस नीयत से लाकर दिखाता है कि प्रेमशंकर वह इलाका छोड़कर किसी दूसरी जगह चला जाये और उसे जमींदारी म से भाग देना न पड़े। प्रेमशंकर ने इस विरोधकी कोई परवा नहीं की। व प्रायश्चित तक करने की जरूरत नहीं समझी। उसने अमेरिका में रहकर उच्च शिक्षा पाई है और नये विचार सीखे हैं। वह इन विचारों को देश में प्रचार करना चाहता है और अपना जीवन जन सेवा में लगा देता है। उसे धन सम्पत्ति का तनिक भी मोह नहीं है। उसका यह त्याग देख कर ज्ञानशंकर को संतोष होता है।

लखनपुर में किसानों पर जुल्म बढ़ रहे हैं। सरकारी कर्मचारी और सूद खोर महाजन उन्हें खूब नोचते थे और फिर ज्ञानशंकर का कारिंदा गौसखां तो किसी समय भी उनकी जान नहीं छोड़ता। उनकी दरिद्रता दिन-दिन बढ़ती जा रही है। लेकिन ज्ञानशंकर अपने सहपाठी मजिस्ट्रेट ज्वालासिंह से मिलकर लगान में इजाफा करना चाहता है। लेकिन प्रेमशंकर मजिस्ट्रेट को ऐसा करने से रोक देता है। जिससे ज्ञानशंकर ज्वालासिंह और प्रेमशंकर दोनों के विरुद्ध हो जाता है।

लखनपुर में एक किसान मनोहर है। वह सहनशील व्यक्ति है। लेकिन उसका लड़का बलराज उग्र विचारों का नौजवान है। वह रूस की क्रान्ति से प्रभावित है, इसलिये महज छोटे कर्मचारियों और कारिंदों को दोषी न ठहरा कर कहता है—यह सब मिली भगत है।

ज्वालासिंह के इजाफा न करने से ज्ञानशंकर चिढ़ जाता है और वह किसानों पर जुल्म बढ़ा देता है। गौसखाँ को शह मिलती है और वह बात बात पर किसानों को तंग करना शुरू कर देता है। एक दिन वह मनोहर की पत्नी विलासी को चरागाह में पशु चराते देखकर उसके पशु कांजीहौस भिजवा देता है। जब विलासी विरोध करती है, तो वह उसे धक्का देकर ज़मीन पर गिरा देता है। अपनी स्त्री से इस अपमान की बात सुनकर मनोहर के भीतर की ज्वाल भड़क उठती है और वह अपने बेटे बलराज को साथ लेकर रात को गौसखाँ की हत्या कर डालता है।

मनोहर थाने में जाकर अपना अपराध स्वीकार कर लेता है लेकिन फिर भी पुलिस बलराज, प्रेमशंकर और गाँव के दूसरे किसानों को बांध लेती है। इस कारण उन्हें जो दुःख झेलने पड़ते हैं और गांव पर जो तबाही आती है, मनोहर उसे सहन नहीं कर सकता और जेल ही में आत्महत्या कर लेता है। दूसरे लोग प्रेमशंकर के प्रयत्न से हाईकोर्ट में जाकर साफ छूट जाते हैं।

प्रेमशंकर को अनुभव से किसानों की दरिद्रता और दुर्दशा का ज्ञान होता है और वह उनकी सेवा के लिये प्रेमाश्रम खोल देता है। मायाशंकर पर भी प्रेमशंकर का प्रभाव है; इसलिये वह अठारह वर्ष का होकर अपनी जमींदारी से आप ही दस्तबरदार हो जाता है। बेटे के इस त्याग से ज्ञानशंकर को रंज होना लाजिमी है। एक बार तो उसके मन में आती है कि वह भी प्रेमाश्रम में भर्ती हो कर जीवन जन-सेवा में लगादे। लेकिन लज्जा के मारे वह ऐसा कर नहीं सकता और गंगा में डूबकर मर जाता है।

प्रेमशंकर और मायाशंकर के अलावा ज्वालासिंह भी नौकरी से इस्तीफा देकर प्रेमाश्रम में शामिल हो जाता है। और उपन्यास के अन्त में हम देखते हैं कि इन लोगों की सेवा और जमींदारी खत्म हो जाने के कारण हरएक किसान के पास एक अच्छा घर है, पशु है, लखनपुर साफ-सुथरा गाँव है, उसका एक स्कूल है और एक पुस्तकालय है। बलराज डिस्ट्रिक्टबोर्ड का मेम्बर बन गया है, उसने लूंगी बांध रखी है और चढ़ने के लिये उसके पास एक बहुत सुन्दर घोड़ा है।

प्रेमचन्द ने हमारे देश की किसान समस्या को लेकर यह

उपन्यास लिखा है। जमींदारों और उनके कारिंदों, पुलिस और दूसरे सरकारी कर्म- चारियों की लूट-खसोट और अत्याचार के कारण किसान जनता किस तरह पिस रही है, प्रेमचन्द ने इसका बहुत अच्छा चित्रण किया है। मनोहर अगरचे खाता-पीता किसान है और अपने खेतों में खूब मेहनत करता है लेकिन उसके घर की हालत देखिये। प्रेमचन्द लिखते हैं :--

"इसी उधेड़-बुन में पड़ा हुआ वह भोजन करने बैठा। चौके में मिट्टी के तेल का एक दिया जल रहा था; लेकिन घर में इतना धुआँ भरा हुआ था और छत ऐसी काली हो गयी थी, कि उसका प्रकाश मध्यम पड़ गया था। उसकी पत्नी विलासी ने पीतल की थाली में बथुवे का साग और जौ की मोटी मोटी रोटियाँ परोसदीं। मनोहर इस प्रकार खाने लगा, मानो कोई दवा हो। इतनी ही रुचि से वह घास भी खाता। विलासी ने पूछा क्या साग अच्छा नहीं, गुड़ दूँ।

मनोहर—नहीं साग तो अच्छा है।

विलासी—तो क्या भूख नहीं है ?

मनोहर– भूख क्यों नहीं है, खा तो रहा हूं।

विलासी—खाते तो नहीं हो, ऊंघ रहे हो। किसी से झगड़ा तो नहीं हो गया।"

मनोहर की इस हालत से उससे कम स्थिति के किसानों की दरिद्रता का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है। वे अज्ञानता और दरिद्रता में पड़े सड़ रहे हैं, किसी को भी उनसे सहानुभूति नहीं है। दुखरन के यह शब्द उनके अनुभव का निचोड़ है--"कहते हैं विद्या से आदमी की बुद्धि सुधर जाती है; पर यहाँ उलटा ही देखने में आता है। यह हाकिम और अमले तो सब पढ़े-लिखे विद्वान हैं लेकिन किसी को दया-धर्म का विचार नहीं आता।"

प्रेमचन्द किसानों में उत्पन्न हुए थे उन्हें देश की इस पीड़ित और शोषित जनता से सच्ची हमदर्दी थी, इसलिये उन्होंने उनकी दरिद्रता का वास्तविक कारण भी समझ लिया था। लिखते हैं:—

"प्रेमशंकर मन में कहा करते थे कि मैं किसानों को शायद ही कोई ऐसी बात बता सकता हूँ, जिसका उन्हें ज्ञान न हो। मेहनती तो उनसे अधिक दुनिया भर में कोई न होगा। किफायत-संयम और गृहस्थ के बारे में भी वे सब कुछ जानते हैं। उनकी दरिद्रता की जिम्मेदारी उनपर नहीं, बल्कि उन हालात पर है जिनके तहत उन्हें अपना जीवन बिताना पड़ता है। वह परिस्थितियाँ क्या हैं ? आपस की फूट, स्वार्थ और वर्तमान सामाजिक व्यवस्था जो उन्हें मजबूती

से जकड़े हुए हैं। लेकिन ज़रा ज्यादा विचार करने पर मालूम हो जायेगा—यह तीनों टहनियाँ एक ही बड़ी टहनीसे निकली हे और यह टहनो वह व्यवस्था हे, जो किसानों के खून पर क़ायम है।"

किसानों का खून चूसने वाली सामन्ती व्यवस्था अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान में अपना राज्य मज़बूत बनाने के लिये कायम रखी थी। यह व्यवस्था अब इतनी गली सड़ी और बोदी होगई थी कि उसका बिना किसी बाहरी सहारे के चलना मुश्किल था। अंग्रेज की स्वार्थी सभ्यता में पला हुआ ज्ञानशंकर अपनी असामियों से उतनी रियायत भी नहीं करता जितनी पुराने विचार का उसका चाचा प्रभाशंकर कर देता है। वह पूरी निर्दयता से किसानों का खून निचोड़ लेना चाहता है। और उसकी नीचता और स्वार्थ के कारण संयुक्त परिवार भी नहीं चल सकता। दरअसल इस व्वस्था और इस परिवार का ऐतिहासिक रोल खत्म हो चुका था। प्रेमचन्द ने ठीक ही इस परिवार को टूटते हुये दिखाया है।

सेवा सदन में भी आसामियों पर जमींदार के अत्याचार और शोषण का अच्छा उल्लेख मिलता है; लेकिन प्रेमाश्रम में प्रेमचन्द सेवा-सदन से काफ़ी आगे बढ़ गये हैं। यह उपन्यास विशेषत: किसानों और जमींदारी के बारे में लिखा गया है और इसमें यथार्थ की मात्रा भी सेवा-सदन से अधिक हे। उसमें युद्ध के कारण बदले हुए हालात का प्रभाव साफ दिखाई देता हं। प्रेमशंकर के नये विचार प्रेमचन्द के अपने विचार हैं। वे चाहते थे कि देश की जनता रूढ़िवाद और अन्ध विश्वास को छोड़कर अमेरिका आदि देशों से नये विचार और नई शिक्षा ग्रहण करे और देश को उन्नत और समृद्ध बनाये।

प्रेमचन्द की एक महानता यह है कि वे पुस्तकी ज्ञानवादियों की तरह किसानों को मूर्ख और कामचोर नहीं समझते। उन्हें किसान जीवन का पूरा ज्ञान था और वे जानतेथे कि हमारे किसान अपने काममें निपुण हैं और दुनिया में कोई भी उनसे अधिक मेहनत नहीं करता। अफसोस यह है कि उन्हें इस मेहनत का फल नहीं मिलता। वे दूसरे ही खाजाते हैं।

प्रेमचंद के अपने कथनानुसार प्रेमशंकर इस उपन्यास का आदर्श पात्र है। वह नई शिक्षा और नये विचार ग्रहण करने के उपरान्त भी सुधारवादी है, वह किसानों और देश की पीड़ित जनता से सच्ची सहानुभूति रखता हैऔर वह ज्वालासिंह से कहता है—जमीन उसकी है, जो उसे जोते। लेकिन किसानों को वह यह जमीन अहिंसात्मक और हृदय परिवर्तन से दिलाना चाहता है; इसीलिये

वह क्रांति का पथ छोड़कर प्रेमाश्रम द्वारा किसानों की सेवा करने का पथ अपनाता है। वह न सिर्फ अपने आदर्शों और सिद्धान्तों के लिये त्याग कर सकता है बल्कि पुरानी मान्यतायें जो अनुभव से गलत साबित हों छोड़ देने के लिये तैयार रहता है। प्रेमशंकर प्रेमचन्द ही का प्रतिरूप है और उसकी असंगतियां प्रेमचन्द की अपनी असंगतियाँ हैं।

ज्ञानशंकर बहुत ही नीच और धूर्त है। वह चाहता है कि चाचा की, ससुर की, साली की और दुनिया भर की सम्पत्ति उसके कब्ज़े में आ जाये। इस सम्पत्ति के फेर में पड़कर उसकी आत्मा मर चुकी है। इसीलिये वह साले की मृत्यु का समाचार सुनकर प्रसन्न होता है, चचेरे भाई दयाशंकर की सिफारिश करने के बजाये उलटा उसे फंसाना चाहता है और बड़े भाई प्रेमशंकर के लौट आने पर दुखी होता है। किसानों और मेहनतकशों के खून पर कायम इस समाज में ऐसे स्वार्थी और धूर्त लोगों की कमी नहीं है। प्रेमचन्द ने अन्त में उसका जो हृदय परिवर्तन दिखाया है, वह स्वाभाविक नहीं है। अलबत्ता ऐसे लोगों का जब मनोरथ सिद्ध नहीं होता, उनके लिये डूब मरना ही उचित होता है।

प्रभाशंकर पुराने ढंगका भला आदमी है जो अपनी संतान और भाई भतीजों से प्रेम करता है और आसामियों से भी सहानुभूति रखता है। भोजन उसकी कमजोरी है। लिखते हैं—"अभी तक थोड़ी सी नवरत्न चटनी बची हुई थी। कुछ और न मिलता, तो सब की आंख बचाकर, उसमेंसे एक चमची निकालकर चाट लेते।" ज्ञानशंकर के ससुर रायसाहब का चरित्र अजीब है। वे योग शक्ति से विष तक पचालेते हैं और बहुत सी विचित्र और अलौकिक बातें करते हैं। इसीलिये वे इस दुनिया के नहीं किसी और लोक के जीव दिखाई पड़ते हैं। विद्या, गायत्री और श्रद्धा किसी का चरित्र भी उभरने नहीं पाया। विद्या उदार और नेक औरत है। वह पति की नीचता को सहन नहीं कर सकती इसलिये आत्महत्या कर लेती है। गायत्री नाम की भूखी है। वह बड़ी आसानी से ज्ञानशंकर के पाखण्ड में फंस जाती है और जब उसे वास्तविक, स्थिति का ज्ञान होता है तो आत्महत्या कर लेती है।

गाँव में मनोहर, बलराज और कादिर आदरणीय पात्र है। मनोहर सहनशील है; लेकिन अत्याचार और अन्याय को सहन नहीं करता। वह अपनी स्त्री के अपमान से भड़क उठता है और गौसखांकी हत्या करके दम लेता है। बूढ़ा कादिर भी जेल में उसे दूसरे लोगों के उलाहनों से बचाते हुए कहता है "कि हम सब तो कायर हैं उसने गाँव की लाज रखली है।" प्रेमचन्द भी

मनाहर का पक्ष लेते हुए ग़ौसखाँ की हत्या को उचित कहते हैं और मनोहर को वीरात्मा कहते हैं।

मनोहर का बेटा बलराज रूस की क्रान्ति से प्रभावित है। किसानों मजदूरों का राज स्थापित होने के स्वप्न देखता है और कारिंदों और सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध किसानों का पक्ष लेता है और अन्याय और अत्याचार के विरोधमें कष्ट सहने और बलिदान करनेसे नहीं झिजकता। उसकी मां विलासी और पिता मनोहर हमेशा डरते रहते थे कि वह किसी अफसर से उलझकर कहीं जेल न चला जाये। वह नई पद्धति का नया नौजवान है और क्रान्तिकारी विचार रखता है। प्रेमचन्द ने उसे आदर्श चरित्र नहीं बनाया। इसका कारण यही है कि वे किसानों और रूस की क्रान्ति से सहानुभूति रखते हुए भी खुद क्रान्ति के पथ पर चलने को तैयार नहीं थे।

बलराज की माँ विलासी भी वीर स्त्री है। वह पति और बलराज को तो समझाती है, लेकिन ज़ुल्म का मुकाबिला करने में खुद भी कभी पीछे नहीं रहती। गौसखाँ के कहने पर चिरागाह से जानवर न निकालना उसी का साहस था और वह मनोहर के स्वभाव को जानती हुई भी दौड़ी हुई खेत में गई और गौसखां के ज़ुल्म की सूचना तुरन्त उसे दी।

इस उपन्यास में प्रायः किसानों की बोल चाल की भाषा इस्तेमाल की गई है। जिससे देहात का वातावरण बनता है और पात्रों का चित्रण होता है।

निर्मला

निर्मला के पिता उदयभानूलाल बेटी का विवाह खूब खर्च करके एक उच्च कुल में करना चाहते हैं। लेकिन उनकी अकस्मात मृत्यु से वह विवाह नहीं हो सका और निर्मला एक बाल बच्चेदार वकील तोताराम से ब्याही गई। तोताराम बृद्ध है और उसकी बहन रुक्मणी निर्मला को नापसन्द करती है; इसलिये घर में अशांति रहती है।

पहली पत्नी से तोताराम के तीन लड़के हैं—मंशाराम, जियाराम और सियाराम। निर्मला इन बच्चों से दिल बहलाती है और बड़े लड़के मंशाराम को बहुत पसन्द करती है। लेकिन तोताराम चाहता है कि उसकी जवान पत्नी उससे प्रेम करे और वह इसके लिये बहन के साथ झगड़े में निर्मला की तरफ़-दारी भी करता है। जब इस पर भी प्रेम नहीं मिलता, तो वह मित्रों के मश-विरा से चुस्त वस्त्र पहनता है और निर्मला को अपनी कथित वीरता की कहानियाँ सुनाता है। इस व्यवहार से निर्मला की उपेक्षा और बढ़ती है, तो वकीलको अपने बेटे मंशाराम से ईर्ष्या हो जातीहै और वह उसे बोर्डिङ्गमें भेज

देता है। मंशाराम पिता के इस व्यवहार और निर्मला के प्रेम से वंचित होकर बोर्डिङ्ग में बीमार पड़ जाता है और हस्पताल में पहुँचकर उसकी मृत्यु हो जाती है।

निर्मला के मन पर इस दुर्घटना का बड़ा आघात होता है और वह सदा बुझी-बुझी सी रहती है। जियाराम के मन में यह गांठ बैठ जाती है कि उसके भाई के साथ अन्याय करके उसे मारा गया है। वह अपने पिता से घृणा करता है और इतना उद्दंड हो जाता है कि एक दिन पिता पुत्र में हाथापाई की नौबत आजाती है। समझाने के बावजूद वह बिगड़ता ही जाता है और चोरी करने लगता है। एक बार वह खुद निर्मला के आभूषण चुराता हैं और भेद खुल जाने पर आत्महत्या कर लेता है।

घर में क्लेश तो रहता ही था; अब हालत और खराब हो जाती है। सबसे छोटा लड़का सियाराम साधु बनकर घर से निकल जाता है और लाख खोजने पर भी फिर उसका पता नहीं चलता। तोताराम सारी मुसीबतों की जड़ लिर्मला को समझता है और लड़कर बेटे की तलाश में घर से चला जाता है।

जिस लड़के से निर्मला के पिता ने उसकी सगाई की थी, वह अब डाक्टर है। उसकी पत्नी निर्मला की सहेली बन जाती है और इस प्रकार निर्मला का उनके घर आना जाना शुरू हो जाता है। जब तोताराम एक महीने तक लौट कर नहीं आता तो निर्मला अपनी सहेली से मिलने उसके घर जाती है। वह उसे घर पर नहीं मिलती, डाक्टर मिलता है और वह निर्मला से प्रेम जताता है। निर्मला डाक्टर की यह हरकत पसंद नहीं करती। डाक्टर की पत्नी को भी जब इस बात का पता चलता है तो वह उसे बहुत बुरा-भला कहती है। डाक्टर आत्महत्या कर लेता है। उसके बाद निर्मला भी कुछ देर बीमार रहकर मर जाती है। ठीक चिता को आग देने के समय उसका पति घर लौटता है।

यह उपन्यास दहेज और अनमेल विवाह की समस्या को लेकर लिखा गया है। हमारे समाज का मध्यमवर्ग बुरे रिवाजों और कुप्रथाओं को लेकर किस प्रकार कानों तक दुःख और विषाद में डूबा हुआ है, उपन्यास में इस बात का अच्छा उल्लेख है। अनमेल विवाह, निर्मूल आशंका और ननद भावज के झगड़ों के कारण एक सुखी गृहस्थी को कलह का अखाड़ा बनते दिखाया गया है। फिर यह सुख कभी लौटकर नहीं आता, बल्कि कलह बढ़ती रहता है और इतना बढ़ती है कि वह घर बिलकुल उजड़ जाता है। हमारे

रूढ़िगत समाज के मध्यमवर्ग में ऐसी ट्रेजेडियाँ प्राय: होती रहती हैं। यह एक स्वाभाविक समस्या है और उपन्यास के अन्त में यह बात सिद्ध हो जाती है कि यह गली सड़ी सामाजिक व्यवस्था अधिक दिनों तक नहीं चल सकती। प्रेमचन्दने शायद यह दिखाना चाहा है कि यह सामाजिक व्यवस्था अब निष्प्राण है और हम व्यर्थ में लाश से चिपटे हुए हैं। मुन्शी तोताराम जैसे निर्मला की नहीं, बल्कि इस मृतप्राय सामाजिक व्यवस्था की चिता को आग देने घर लौटा है।

यह उपन्यास सन् २२-२३ में लिखा गया था। उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन में बड़ा उभार आया था और हमारा देश महान् क्रान्ति के युग में से गुजर रहा था। और क्रान्ति में किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था ही नहीं बदला करती, बल्कि सामाजिक व्यवस्था भी बदला करती है। मुँशी प्रेमचन्द ने जन-जीवन का गहरा अध्ययन किया था वे जनता के तेवर पहचानते थे और इसके अतिरिक्त वे अनुभूतिपूर्ण हृदय तथा दूर तक देखने वाली दृष्टि से सम्पन्न थे। इसलिये उन्होंने क्रान्ति के उभार को देखकर अनुमान लगाया था कि जनता अब इस मृत सामाजिक व्यवस्था की चिता में आग देगी।

उपन्यास के लिये यह बड़ा ही सुन्दर और महान विषय था; लेकिन देश की इस जन-क्रान्ति का ठीक ढंग से नेतृत्व नहीं हुआ चुनाचे प्रेमचन्द को भी इस महान विषय के उपयुक्त सामग्री नहीं मिली। इस लिये वे इस विषय को प्रस्तुत करने में सफल नहीं हो सके। प्रेमचन्द के दूसरे उपन्यासों में जो दोष नहीं है, वह इस उपन्यास में मिलता हैं। छोटी-छोटी बातों को बहुत ही बढ़ा चढ़ा कर विस्तार से बयान किया गया है। भाषा और वाक्य-विन्यास सुन्दर नहीं है, कोई भी पात्र रक्त-माँस का बना हुआ नहीं जान पड़ता और एक दम इतनी हत्यायें अस्वाभाविक ही नहीं, पढ़ते-पढ़ते मन ऊब जाता है और क्षोभ उत्पन्न होता है। यह कहने को जी चाहता है कि प्रेमचन्द जैसे कलाकार ने यह उपन्यास क्यों लिखा।

अन्त में हम यह कहने पर विवश हैं कि जहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन का क्रान्तिकारी उभार इस उपन्यास के महान् विषय अर्थात् थीम (Theme) का कारण हैं, वहाँ आन्दोलन कीं असफलता ही इस उपन्यास की असफलता है। आन्दोलन की असफलता पर खेद प्रकट करते हुए प्रेमचन्द ने "बड़े बाबू" कहानी में कहा हैं कि अगर देश के नेता गंदुमनुमा जौ फरोश न होते, और आन्दोलन की बागडोर पढ़े लिखे नौजवानों के हाथ में होती, तो हमारे स्वतन्त्रता आन्दोलनका यह हशर न होता। "बड़े बाबू" कहानी भी सन् १९२३ में लिखी गई थी। यह ठीक है कि "निर्मला" का विषय राजनीतिक आन्दोलन

नहीं, सामाजिक है; लेकिन राजनीतिक आम्दोलन मनुष्य के विचारों को कई प्रकार से प्रभावित और आन्दोलित करते हैं। और राजनीतिक आन्दोलन भी सोमाजिक व्यवस्था से उत्पन्न होते हैं।

काया-कल्प

चक्रधर नें ऊँची शिक्षा पाई है। वह एम० ए० पास है। उसके पिता मुँशी बज्रधर चाहते हैं कि बेटा कोई सरकारी नौकरी करे। लेकिन चक्रधर अपना जीवन समाज-सेवा में लगा देता है। बहुत कहने सुनने पर वह जगदीशपुर के दीवान की कन्या मनोरमा को टयूशन पढ़ाना शुरू करता है। मनोरमा चक्रधर से प्रभावित होकर उसे चाहने लगती है। बेटे की इस नौकरी से फायदा उठा कर मुँशी बज्रधर ने दीवान साहब से रब्त-जब्त पढ़ाया और वे तहसीलदार हो गये।

जगदीशपुर की रानी देवप्रिय विधवा है; पर वह भोग विलास में जीवन व्यतीत करती है। एक बार एक ऐसा राजकुमार वहाँ पहुँचा, जो पूर्व जन्म में अपने आपको रानी का पति बताता था। रानी उस राजकुमार के प्रस्ताव पर अपना राज्य विशालसिंह को देकर उसके साथ चली गई।

विशालसिंह का राजतिलक होता है, तो उसके लिये आसामियों से जबर-दस्ती चन्दा वसूल किया जाता है। खूब लूट-खसोट होती है और चारों तरफ अंधेर मच जाता है। चक्रधर समझता है कि इस अत्याचार में राजा विशालसिंह का कोई हाथ नहीं। अफसर और छोटे कर्मचारी अपनें मन से यह जुल्म ढा रहे हैं। वह राजा के पास शिकायत लेकर जाता है तो उल्टा उसे झाड़ पड़ती है। जुल्म बढ़ता है तो घास मजदूर राजा के मजिस्ट्रेट और पुलिस पर आक्रमण कर देते हैं। अहिंसावादी चक्रधर बीच में पड़ कर मज़दूरों को शान्त कर देता है और स्वयं चोट खाकर मजिस्ट्रेट को बचा लेता है। पर उसी पर मज़दूरों को भड़काने का अपराध लगा कर जेल भेज दिया जाता है।

राजा विशालसिंह की उम्र ढल चुकी है और उसकी पहले भी तीन पत्नियाँ हैं, फिर भी वह मनोरमा पर लट्टू हो जाता है और उसके साथ विवाह करने को कहता है। मनोरमा राजा से चक्रधर को छोड़ देने की सिफारिश करती है; पर वह सिफ़ारिश पर छूटने से इनकार कर देता है। उसका मुकदमा मनोरमा के भाई गुरुप्रसाद की अदालत में लगता है और वह उसे बरी कर देता है।

जेल से छूटनें पर खुद राज्य की ओर से चक्रधर का धूम धाम से स्वागत होता है। इसमें मनोरमा का हाथ है, जिससे चक्रधर को मालूम हो जाता है कि मनोरमा अब भी उससे प्रेम करती है। और वे दोनों गाँव-गाँव घूमकर

प्रजा को सुखी करने का यत्न करते हैं।

इसी बीच में आगरा में साम्प्रदायिक दंगा होता है जिसमे अहिल्या का धर्म पिता यशोदानन्दन मारा जाता है। चक्रधर आगरा पहुँचता है। अहिल्या को मुसलमान उठा कर ले जाते हैं, लेकिन यशोदा नन्दन के मित्र और मुसलमानों के नेता ख्वाजासाहब उसकी सहायता करते हैं और उसे लौटा देते हैं। चक्रधर अहिल्या से विवाह करके उसे घर लाता है। माता पिता पुत्रबधु का स्वागत तो करते हैं, पर इस कारण कि उसे मुसलमान उठा ले गये थे उससे छूतछात करते हैं। चक्रधर को माता पिता का यह व्यवहार बुरा लगता है और वह अहिल्या को लेकर इलाहाबाद चला जाता है। वहां उनके एक पुत्र उत्पन्न होता है, जिसका नाम शंखधर रखा जाता है।

मनोरमा की बीमारी का समाचार पाकर चक्रधर पत्नी और पुत्र को साथ लेकर जगदीशपुर लौट आता है। वहाँ कुछ ऐसे प्रमाण मिल जाते हैं जिनसे सिद्ध हो जाता है कि मनोरमा राजा विशालसिंह की लड़की है, जो बीस वर्ष पहले खोई गई थी। उसे पिता की सम्पत्तिका एक भाग मिल जाता है। अब न उसे पति की परवा रहती है और न पुत्र की। ऐश्वर्य में दिन बिताने लगती है। चक्रधर को अब कोई अपना दिखाई नहींदेता; इसलिये वह खोया-खोया-सा रहता है और इधर उधर अकारण घूमा करता है। एक दिन मार्ग में उसकी मोटर बिगड़ जाती है। चक्रधर एक देहाती को उसे चलाने में सहायता करने के लिये कहता है और इसके इनकार करने पर उसे इतना मारता है कि वह वेचारा मर जाता है।

इस घटना-चक्र में पड़ कर चक्रधर बहुत दुखी रहने लगता है। अन्त म घर छोड़ कर जाने किधर निकल जाता है और अज्ञात जीवन बिताने लगता है।

शंखधर पिता की खोज में निकलता है और उसे ढूंढ़ लेता है। लेकिन लौटते समय वह किसी अज्ञात शक्ति के कारण रानी देवप्रिया के पास जा पहुँचता है और दोनों खूब प्रेम से मिलते हैं क्योंकि शंखधर पूर्वजन्म में देवप्रिया का पति था। वह कमला बन कर उससे विवाह कर लेती है। लेकिन यह मिलाप बहुत दिनों नहीं रह पाता। क्योंकि शंखधर ने यह कह कर शरीर त्याग देता है कि हम तब मिलेंगे जब हम में वासना न रहेगी। पुत्र की मृत्यु का समाचार पाकर राजा आत्महत्या कर लेता है।

चक्रधर लौट कर घर आता है तो यह सब कुछ मालूम करके बहुत दुखी होता है और इसी दुखमें अहिल्या भी मर जाती है। जगदीशपुरमें फिर देवप्रिया राज करनें लग जाती है। उसने अब वासना को त्याग दिया हैं। इसलिये

अब वह विलासनी देवप्रिया नहीं, तपस्विनी देवप्रिया है।

प्रेमचन्द ने गाँधी जी के सत्याग्रह के उपरान्त उनकी मान्यताओं को लेकर यह उपन्यास लिखा था। इसमें हिन्दू-मुस्लिम दंगों और प्रजा पर राजाओं के अत्याचार को दूर करने का सुधारवादी हल प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है। प्रेमचन्द इसमें सफल नहीं हुए। जहाँ वे यथार्थ का चित्र चित्रण करते हैं, गाँवों की दरिद्रता, देहातियों के दुख, विवशता और उन पर राजा और उसके कर्मचारियों के अत्याचारों का वर्णन करते है, वहाँ तो बात बनती है और पढ़ने में मन भी लगता है। लेकिन जहाँ देवप्रिया के अलौकिक प्रेम, पूर्व जन्म और आवागमन का किस्सा शुरू हो जाता है और जब चक्रधर जेल से निकलने के उपरान्त अपने आदर्श को किसी प्रकार आगे नहीं बढ़ा पाता और अज्ञात जीवन बिताने चला जाता है तो समस्त उपन्यास गोरख धन्धा और शब्द आडम्बर दिखाई देने लगता है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द यथार्थ के मार्ग पर जितना आगे बढ़े थे "कायाकल्प" में उतना ही पीछे लौट गये मालूम होते हैं। मन्मथनाथ गुप्त ने इस उपन्यास पर आलोचना करते हुए ठीक ही लिखा है—'काया कल्प प्रेमचन्द की सब से शिथिल रचना है। इसे एक भानमती का पिटारा कहा जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी।' उर्दू के आलोचकों की भी इस उपन्यास के बारे में यही राय है। सैयद तालिबअली तालिब लिखते हैं—'प्रेमचन्द ऐसे यथार्थवादी लेखक के कलम से जब आवागमन के सबूत में अलौकिक और विचित्र घटनायें निकलती हैं तो आश्चर्य की आँखें खुली रह जाती हैं। जगदीशपुर के राजा के तीन जन्म और प्रत्येक जन्म की स्मरण शक्ति अजीब है······रानी देवप्रिया का चरित्र केवल फरिश्ते ही समझ सकते हैं। अन्त में लिखते हैं—"रब्त और रवानी पहले हिस्से में कुछ ज्यादा हैं, मगर रफ्ता-रफ्ता कम होते-होते गायब हो गई।"

चूंकि उपन्यासकार सुधारवाद की दल दल में जा फंसा है और यथार्थ का साथ छूट गया है, इसलिये उपन्यास का कोई भी पात्र उभरनें नहीं पाता। प्रेमचंद ही के कथनानुसार चक्रधर इस उपन्यास का आदर्श पात्र है। परन्तु उसका आदर्श पाठक को प्रभावित और प्रेरित नहीं करता। वह अहिंसा के आदर्श को लेकर एक ओर तो मजदूरों के आक्रमण को रोकता है और दूसरी ओर एक गरीब देहाती की हत्या इसलिये कर डालता है कि वह उसकी मोटर हाँकने से इनकार कर देता है।

हमने इस पुस्तक के "कला" शीर्षक परिच्छेद में भी इस उपन्यास की

आलोचना की है। उसे पढ़कर उपन्यास के आरोचक होने का कारण और स्पष्ट हो जायेगा।

रंगभूमि

प्रेमचंद ने यह उपन्यास सन २७-२८ में लिखा था। हमें इस उपन्यास में सामाजिक और राजनीतिक तत्त्वों का समन्वय मिलता है और उभरते हुए पूंजीवाद के सामने पुरानी मान्यताओं को टूटते हुए दिखाया गया है। इस उपन्यास का प्लाट यह है।

सूरदास बनारस के पास पांडेपुर गाँव का एक भिखारी है। गांव में पूर्वजों से विरासत में मिली हुई उसकी कुछ भूमि है, जिसमें गांव के पशु चरते हैं। एक उदीयमान ईसाई पूंजीपत इस भूमि को खरीद कर उसमें सिगरेटों का कारखाना लगाना चाहता है। सूरदास एक बार भीख मांगने के लिये उनकी गाड़ी के पीछे दौड़ता है, तो जानसेवक उसे अवज्ञा से झिड़क देता है; लेकिन जब दूसरे ही क्षण उसे अपने मुंशी से पता चलता है कि यही अंधा भिखारी उस भूमि का मालिक है जिसे वह लेना चाहता है, तो वह सूरदास से बड़ी नम्रता से पेश आता है। वह सूरदास को जमीन के अच्छे दाम देना चाहता है; लेकिन सूरदास जमीन बेचने से इनकार कर देता है क्योंकि उसमें गाँव के ढोर चरते हैं और सिगरेट का कारखाना लगने से गांव उजड़ जायेगा और व्यभिचार फैलेगा।

जानसेवक की लड़की सूफिया आदर्शवादी है। वह सूरदास के विचारों से बहुत प्रभावित होती है। जानसेवक की पत्नी सूफिया की माँ कट्टर ईसाइन है। वह मजहब की बात लेकर एक दिन बेटी से लड़ पड़ती है और उसे घर से निकाल देती है।

सूफिया घर से निकल कर जाते हुए मार्ग में एक अग्निकांड देखती है और उसमें से एक आदमी की जान बचाने का यत्न करते हुए, वह आप बेहोश हो जाती है। चौथे दिन उसे होश आता है, तो वह कुंवर भरतसिंह के विशाल भवन में पड़ी है। कुंवर साहब के लड़के विनयसिंह ने सूफिया की जान बचाई है। सूफिया उसे श्रद्धा से देखती है और उन दोनों का प्रेम हो जाता है।

जब जानसेवक को मालूम होता है कि सूफिया बीमार है तो वह इसलिये उसकी तीमारदारीको दौड़ा आता है कि इस बहाने कुंवर साहबसे सम्बन्ध जुड़ेगा और उनसे काफी लाभ उठाया जा सकेगा। जानसेवक को इस काम में वाकई सफलता प्राप्त होती है और वह अपनी वाकपटुता से कुंवर साहबके हाथ पचास हजार के शेयर बेच देता है। फिर कुंवर साहब का दामाद चतारी का राजा म्युनिसिपैलिटी का चेयरमैन है। जानसेवक उस पर डोरे डालता है और अपने

प्रभाव से सूरदास की जमीन दिलाने को कहता है। कुंवर साहब का दामाद महेन्द्रसिंह खुद पांडेपुर जाकर सूरे को समझाता है कि कारखाना खुलने से कारोबार बढ़ेगा और गांव वालों को काम मिलेगा; पर सूरा उसकी बात नहीं मानता। उसे यही डर है कि कारखाना लगने से ताड़ी, शराब का प्रचार बढ़ेगा और गांव में कस्बियां आ बसेंगी।

उधर विनय की मां रानी जाह्नवी को जब मालूम होता है कि उसका बेटा एक ईसाई लड़की के प्रेम-जाल में फंसता जा रहा है, तो वह विनय को राजस्थान भेज देती है। वह वहां जाकर ग्रामसुधार में लग जाता है। लेकिन उसे सूफिया की याद नहीं भूलती। वह उसके भाई प्रभु सेवक की मार्फत सूफिया को एक पत्र लिखता है जिसमें वह अपने प्रेम की बात कहता है। सूफिया यह पत्र रानी जाह्नवी को दिखा देती है। शायद उसे आशा थी कि बेटे का यह पत्र देख कर रानी का कठोर दिल पिघल जायेगा और वह उन्हें ब्याह करने की आज्ञा दे देगी। लेकिन उसके उलट रानी जाह्नवी सूफिया को आज्ञा देती हैं कि वह उसी समय विजय को इस विषय का पत्र लिखे कि वे दोनों बहन भाई हैं और उनमें यही एक प्रेम-सम्बन्ध कायम रह सकता है। सूफिया यह पत्र लिखते समय बेहोश हो जाती है।

इस इलाक़ामें एक नया अंग्रेज़ मजिस्ट्रेट क्लर्क नामी आजाता है। उसका जान सेवक परिवार से मेलजूल बढ़ता है। सूफिया की मां मिसेज़ सेवक को आशा बँधती है कि सूफिया का विवाह मजिस्ट्रेट क्लर्क से हो जायगा और वह अपना धार्मिक मतभेद और द्वेष भूलकर सूफिया को घर ले आती है।

विनयसिंह जसवन्त नगर में जनता की सेवा कर रहा है। एक दिन, जब वह किसी गाँव से लौट रहा होता है, डाकुओं के सरदार वीरपालसिंह से उसकी भेंट हो जाती है। उनमें बड़ी देर तक बातें होती हैं और अन्त में विनय को पता चलता है और उसे विश्वास भी हो जाता है कि वीरपालसिंह और उसके साथी डाकू नहीं, राजा के अन्याय और अत्याचारों के विरुद्ध लड़ने वाले देश भक्त और विद्रोही हैं। राजा की सरकार ने उन्हें बदनाम करने के लिये खाह-मखाह डाकू घोषित कर दिया है।

इस भेंट का भेद खुल जाने पर राजा की सरकार विनयसिंह पर डाकुओं से मिला होने का अपराध लगा कर उसे जेल में डाल देती है। छै महीने बाद वीरपालसिंह उसे जेल से छुड़ाने आता है। लेकिन विनय उसके साथ जाने से इनकार कर देता है।

सूफिया घर आती है, तो उसे मालूम होता है कि उसका बाप क्लर्क

का अधिकार का लाभ उठा कर सूरदास की जमीन हासिल कर रहा है, तो वह क्लर्क से झूठा प्रेम जताती है और उसे अन्धे सूरदास की जमीन लेने की आज्ञा मन्सूख करने को कहती है। क्लार्क सूफिया की यह बात मान लेता है। लेकिन चतारी का राजा महेन्द्रसिंह इस मन्सूखी को अपना अपमान समझता है और उसके आन्दोलन से क्लार्क का तबादला जसवन्त नगर में हो जाता हैं। वहाँ सूफिया विजय से जेल में भेंट करती हैं और तब विनय को मालूम होता है कि उसकी माँ रानी जाह्नवी ने सूफिया की क्लर्क से सगाई की जो बात लिखी थी वह ग़लत है, वह अब भी विनय से प्यार करती है। वहाँ वे दोनों एक दूसरे के बने रहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

सूफिया विनय को जेल से छुड़ाने की कोशिश कर रही है। लेकिन इसी बीच में नायकराम पांडेपुर से यह संदेश लेकर पहुँच जाता है कि रानी जाह्नवी बीमार है और वह विनय से मिलना चाहती है। माँ की बीमारी की सूचना पाकर विनय जेल से भाग निकलता है। लेकिन बाहर आकर देखता है कि क्लर्क की मोटर के नीचे आकर एक आदमी कुचल गया है इसी कारण वीरपालसिंह के नेतृत्व में जनता में विद्रोह फैला हुआ है। सूफिया क्लर्क का पक्ष लेती है और विनय के देखते-ही-देखते कोई व्यक्ति सूफिया को ढेला मारता है। इस पर विनय का क्रोध भड़क जाता है और वह वीरपालसिंह पर लपकता है। लेकिन उसे गिरा दिया जाता है और क्रान्तिकारी सूफिया को उठा कर ले जाते हैं। इसके वाद जब विनय रियासत की पुलिस और सरकारी कर्मचारियों के साथ सूफिया को खोजने निकलता है, तो उसे न पाकर बहुत परेशान हो जाता है। आखिर खुद क्रान्तिकारी उसे चुपचाप अपने डेरे पर ले जाते हैं। वहाँ उसकी सूफिया से भेंट होने पर मालूम होता है कि सूफिया भी क्रान्तिकारिणी बन गई है।

पांडेपुर में एक ताड़ी फरोश भैरो है जो अपनी स्त्री सुभागी को बहुत मारता पीटता है और एक दिन उसे घर से भी निकाल देता है। सूरदास इस विचार से कि सुभागी पर अत्याचार हुआ है, उसे अपने घरमें आश्रय देता है। इस पर भैरो सूरे को बदनाम करना शुरू करता है और गाँव के लोग उसके विरुद्ध हो जाते हैं और उसे अपनी जमीन बेच देने को कहते हैं। लेकिन सूरा अपनी बात पर अड़ा रहता है।

सूरे पर पराई औरत—सुभागी को घर में रखनें का अपराध लगा कर मुकदमा चलता है और उसे सज़ा देकर जेल भेज दिया जाता है। इससे लोगों

की सहानुभूति सूरे के साथ हो जाती है और जुर्माना अदा करके उसे जेल से छुड़वा लिया जाता है।

विनय जब सूफिया से मिलकर लौटता है तो उसे माँ का पत्र मिलता है, जिसमें लिखा है कि तुम व्यर्थ हो जीवन बिता रहे हो, घर क्यों नहीं लौट आते। क्रान्तिकारियों के साथ चले जानेके कारण अब रियासत वाले भी उसका विश्वास नहीं करते। इसलिये वह वहाँ से लौट पड़ता है। पांचवे स्टेशन पर सूफिया उसे अकस्मात मिलती है। क्रांति से उसका विश्वास उठ गया है और वह विनय को रास्ता में उतर जाने के लिये कहती है। विनय उसकी बात मान लेता है और वे दोनों कुछ दिनो जंगली जीवन व्यतीत करते हैं और एक आदर्श प्रेम के राग अलापते है।

फिर वे दोनों घर लौट आते है। विनय जब माँ के सामने आत्म-हत्या करने लगताहै,तो रानी उसे क्षमा कर देती है। माँ की बात और है, लोग तो उसे क्षमा नहीं करते। सूरदास की जमीन ही नहीं सारा गांव हाथ से निकल चुका है और लोग सूरे के नेतृत्व में सत्याग्रह कर रहे है। वे विनय को देखते ही ताना देते हैं कि इतने दिनों कहां छिपे रहे? विनय को यह बात लग जाती है और वह एक दम पिस्तौल निकाल कर कहता है क्या तुम देखना चाहते हो कि रईसों के बेटे कैसे जान देते हैं। इतना कह कर वह आत्महत्या कर लेता है। सत्याग्रह में सूरदास को भी गोली लग जाती है और वह मर जाता है।

सूफिया पर जब क्लार्क से विवाह करने के लिये जोर डाला जाता है, तो वह भी आत्महत्या कर लेती है और उसकी माँ बेटी के गम में पागल होकर मर जाती है। लेकिन जानसेवक निर्लिप्त भाव से कारखाना चलाता रहता है। कारखाना ही उसके जीवन की साध है। उसे किसी दूसरी चीज़ से लगाव नहीं।

बेटे की मृत्यु से निराश होकर कुंवर भरतसिंह जनसेवा का कार्य छोड़ देते हैं और विलास का जीवन बिताने लगते हैं। उनका विश्वास ईश्वर पर से भी हट जाता है और उन्हें दुनिया में शून्य ही शून्य दिखाई देता है।

सूरदास इस उपन्यास का आदर्शपात्र है। वह बहुत ही भला आदमी है और दूसरों के लिये बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार है। वह भीख मांगकर जीवन बिता रहा है और अपनी जमीन गांव के पशुओं के लिये छोड़ रखी है। जानसेवक से बड़ी रकम का प्रलोभन मिलने पर भी वह इसे नहीं बेचता। उसे डर है कि कारखाना खुलने से व्यभिचार फैलेगा और गांव वालों का धर्म नष्ट होगा। इसलिये वह कारखाना लगने का विरोध करता है और गांववालों के विरोध के बावजूद अपनी बात पर अड़ा रहता है।

और अपने आदर्शों की रक्षा के लिये लड़ते हुए मर जाता है। वह गांव में भी किसी से बुराई नहीं करता। भैरों से विरोध मोल लेकर भी अबला सुभागी को आश्रय देता है। भैरों से भी उसे कोई घृणा नहीं। वह सुभागी को उसके क्रोध से बचाने के लिये अपनी कमाई के ५००) उसे सोंप देता है और जलूस के लिये इकट्ठे हुए ३००) भी भैरों को झोपड़ी बनाने के लिये दे देता है। यह सब बातें देख भैरों अपना द्वेष छोड़ अन्त में भला आदमी बन जाता है।

आलोचक सूरदास को गांधीवाद का प्रतीक कहते हैं। प्रेमचन्द ने भी उसे "रंगभूमि" का आदर्शपात्र कहा है और जैसा कि हम देख चुके हैं कि उसे आदर्श व्यक्ति के रूप ही में प्रस्तुत किया है। वह जिस बात को सत्य मान लेता है, परिस्थितियों के प्रतिकूल होने और गांव वालों के विरोध के बावजूद उसके लिये लड़ता है और अंत में इसी सत्य की रक्षा में प्राण त्याग देता है।

लेकिन प्रेमचंद ने, जाने या अनजानें, गांधीवाद के इस प्रतीक को अंधा दिखाया है, जो वस्तुस्थिति से आँखें बन्द करके अपने आप में डूबकर लड़ता रहता है। मगर प्रेमचन्द तो यथार्थवादी थे, उनकी आँखें बद नहीं थी। इसलिये आदर्शों के मुकाबिला में उन्होंने अंत में यथार्थ ही की जीत दिखाई है। बढ़ते हुए पूँजीवाद के सामने सामंतयुग की पुरानी व्यवस्था और उसकी मान्यतायें ठहर नहीं सकतीं। सत्याग्रह आंदोलन के बावजूद पांडेपुर उजड़ जाता है और वहाँ जानसेवक का कारखाना लगता है। स्वयं सूरदास मरते हुए स्वीकार करता है—"तुम जीते मैं हारा"। इसके विपरीत गांधीवाद सत्याग्रही की हार को हार नहीं मानता। सूरदास के चरित्र में से यह असंगति प्रेमचन्द की अपनी असंगति थी।

इस उपन्यास का नौजवान पात्र विनय पाठक को किसी प्रकार भी प्रभावित नहीं करता। उसके चरित्र में तनिक भी स्थिरता नहीं। कभी वह जनता का पक्ष लेता है और कभी राजा और क्लार्क का। वह वीरपालसिंह के साथ जेल से दौड़ने से इनकार कर देता है, लेकिन माँ की बीमारी की सूचना पाकर अपने इस आदर्श को झट छोड़ देता है। मां जब लिखती है कि सूफिया की क्लार्क से सगाई हो गई, तो उसे संसार सूना दिखाई देने लगता है और वह आत्महत्या करने को तैयार हो जाता है। इसी भावुकता और ढुलमुल विश्वास के कारण उसका अन्त आत्महत्या ही से होता है। उसकी आत्महत्या पर न तो कोई आश्चर्य होता है और न दुख ही।

प्रेमचंद ने "जमाना"के सम्पादक दयानारायण निगम को अपने एक पत्र में

लिखा था कि मैंने सूफिया का चरित्र मिसेज़ एनेबेसेंट से लिया है। यह सच है। सूफिया मिसेज़ एनेबेसेंट की तरह एक विश्व-धर्म (Cosmopolitanism) में विश्वास रखती है। इसीलिये कट्टर ईसाइन मिसेज़ सेवक अपनी मां से उसकी नहीं बनती। फिर भी उसके विचार धार्मिक और सुधारवादी हैं। यथार्थवाद से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। वह वीरपालसिंह के डेरे पर पहुँच कर क्रांतिकारिणी बन तो जाती है; पर उसकी मनोवृति और वर्ग चेतना से क्रांति का कुछ भी मेल नहीं। इसलिये क्रांति का यह ज्वर शीघ्र ही उतर जाता है। उसके प्रेम का भी यथार्थवाद से कोई सम्बध नहीं। वह मानसिक और आदर्श-वादी है। परिस्थितियों को अनुकूल न पाकर सूफिया भी आत्महत्या कर लेती है। अर्थात इस यथार्थवादी युग में सुधारवाद के लिये आत्महत्या के अतिरिक्त और कोई चाराकार नहीं।

जानसेवक यथार्थवादी और भौतिकवादी है। प्रेमचंद ने उसमें एक पूंजी-वादी का ठीक-ठीक चरित्र-चित्रण क्या है? वह धर्म को व्यापार का शृंगार समझता है और सब काम अपने स्वार्थ को मद्देनज़र रख कर करता है। पत्नी और पुत्री के मर जाने पर भी निर्लेप रहता है। कुवर भरतसिंह का चरित्र भी यथार्थवाद है। ऐसे सम्पतिशाली वास्तव में विलासी होते हैं। जनसेवा भी उनके विलास और मन बहलाव का ही एक रूप होता है। जब सरकार से टकराव हो, उन्हें अपनी सम्पत्ति खतरे में पड़ती दिखाई दे तो सारी जनसेवा और देशभक्ति भूल जाती है। डाक्टर गँगोली ठीक ही कहते हैं कि हम पूंजीपतियों से अपने राष्ट्रीय आन्दोलनों के नेतृत्व की आशा नहीं रख सकते। डाक्टर गँगोली एक ईमानदार बुद्धिजीवी है। आरम्भ में वह अंग्रेजों को जन-तंत्रवादी समझते हैं और उनका विश्वास है कि धारासभा में न्याय की बात सुनी जायेगी और वहाँ पहुंचकर वे जनताका वहुत कुछ भला कर सकेंगे। लेकिन अनुभव से उनका यह विचार गलत सिद्ध होता है और वह आप ही अंग्रेजके जन-तन्त्रवाद की निंदा करते हुए धारासभा को बहस का अखाड़ा बताते हैं। इससे अधिक कुछ नहीं।

"प्रेमाश्रम" के उपरान्त प्रेमचन्द "कायाकल्प" में जितना यथार्थ से पीछे हट गये थे इस उपन्यास में फिर उतना ही आगे बढ़ आये हैं। इस उपन्यास पर आतंकवादियों का प्रभाव भी दिखाई देता है। प्रेमचन्द ने जहां सूरदास द्वारा गांधीवाद को चित्रित किया है वहाँ वे वीरपालसिंह के सशस्त्र विद्रोह की भी निंदा नहीं करते। और "प्रेमाश्रम" के बलराज की तरह यहाँ हमें इन्द्रदत्त क्रांति-कारी नौजवान भी मिलता है जिसे प्रेमचन्द विनयसिंह से कुछ अधिक ही उभा-

रते हैं और अंत तक उसके प्रति पाठक की श्रद्धा और सहानुभूति बनी रहती है।

प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में वर्तमान समाज के सब स्तरों को उधेड़ कर सामने रख दिया है। क्लार्क साम्राज्यका प्रतीक है। ऐसे लोगों के होते अदालतें ढोंग हैं, कानून और वकील ढोंग हैं। इस पद्धति के रहते जनता को न्याय नहीं मिल सकता। फिर राजनीति में सम्पत्तिशाली वर्ग का नेतृत्व ढोंग है, धर्म का कट्टरपन और पाखंड ढोंग है। पूंजीवाद और कारखानेदारी का बढ़ना इस युग का एक सत्य है अगर उसके अतिरिक्त कोई और भी सत्य है तो वह इसके सामने टिक नहीं सकता। इस पुरानी सामाजिक और राजनीतिक पद्धति को अब कोई आदर्शवाद बचा नहीं सकता। यद्यपि प्रेमचन्द स्वयं जानसेवक का सिग्रेट का कारखाना लगने के पक्ष में नहीं; लेकिन फिर भी कारखाना लगता है और पांडेपुर उजड़ जाता है। यदि इसके मुकाबिला में प्रेमचन्द सूरदासके आदर्शवाद की जीत दिखाते, तो शायद वह ठीक न होता।

ग़बन

यह उपन्यास मध्यमवर्ग के जीवन को लेकर लिखा गया है। दयानाथ सेवा-सदन के कृष्णचन्द्र की तरह भला और ईमानदार व्यक्ति है। वह कचहरी में नौकर है और रिश्वत लेने की सुविधा होने पर भी ऐसी कमाई को हराम समझता है। लेकिन जब बेटे के विवाह का अवसर आता है तो वह अपनी हैसियत से बढ़कर खर्च करता है और कर्ज़ से लद जाता है।

कर्ज़ से लद जाने के बावजूद पुत्रबधु जालपा संतुष्ठ नहीं होती। वह बचपन से स्वप्न देखती आई थी कि विवाह होगा तो चन्द्रहार पहनेगी। लेकिन दयानाथ और आभूषण तो ले गये मगर चन्द्रहार नहीं बनवा सके। उसे संतुष्ट करने के लिये उसके पति रमानाथ ने बड़ी डींगें मारीं और अपनी हैसियत को बढ़चढ़ाकर कहा। लेकिन उधर विवाह के उपरान्त कर्जवालों के तकाजे बढ़ने लगे। पिता समझते थे कि ब्याह में बहुत सा नकद रुपया मिलेगा और वे बरात से लौटकर कर्ज चुका देंगे। रुपया मिला जरूर; लेकिन वह भी ठाठ बाट में खर्च हो गया। जब समधी बेटी का विवाह इतनी धूमधाम से कर रहा है तो वह क्यों बेटे के विवाह में उदारता न दिखायें? अब कर्ज चुकाने के लिये दयानाथ ने रमानाथ से सलाह की और तय पाया कि कुछ आभूषण सराफ को लौटा दिये जायें। रमानाथ जालपा को वस्तुस्थिति से परिचित करनें और आभूषण माँगने के बजाय रात को उसके गहनों का डिब्बा उड़ा लाता है और फिर आप ही उनके चोरी हो जाने का ढंडोरा पीट देता है। जालपा

गहने चले जाने से बहुत दुखी होती है।

रमानाथ को म्यूनिसिपैलिटी में चुंगी की नौकरी मिल जाती है। उसे तीस रुपया मासिक वेतन मिलता है और इसके अतिरिक्त कुछ ऊपर की आमदनी हो जाती है। रमानाथ जालपा को खुश करने के लिये उसके मन-पसंद आभूषण खरीदता है, जिससे उसके जिम्मे सराफ़ का छै सौ रुपया कर्ज हो जाता है।

जालपा पहन ओढ़कर दूसरी स्त्रियों से मिलती है और उसका परिचय हाईकोर्ट के एक एडवोकेट की पत्नी रतन से हो जाता है। रतन को जालपा के जड़ाऊ कंगन बहुत पसंद आते हैं और वह रमानाथ को छै: सौ रुपये देकर ऐसे ही कंगन खरीदने को कहती है। सराफ यह रुपये अपने कर्ज खाते में जमा कर लेता है और रमानाथ को उधार कंगन देने से इनकार कर देता है। उधर रतन का कंगनों के लिये तकाजा बढ़ता है। कुछ दिनों तो रमानाथ उनके बनने में देर होने का बहाना करके बात टालता रहता है। अंत में रतन कहती है कि यदि कंगन नहीं बनते तो मेरे रुपये ही वापस ला दो। रमानाथ इस विचार से कि रुपये देखकर रतन शांत हो जायेगी, एक दिन चुंगी के रुपये दाखिल कराने के बजाये घर ले आता है। उसकी अनुपस्थिति में रतन तकाजा करने आती है तो जालपा ये रुपये उठाकर उसे दे देती है।

अब रमानाथ बड़ी मुश्किल में फंस जाता है। कल रुपया खज़ाने में दाखिल न हो, तो उस पर ग़बन का मुकदमा चलेगा और उसे गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया जायेगा। वह सारा हाल जालपा को बताने के लिये एक पत्र लिखता है और वह अभी इस असमंजस में पड़ा होता है कि पत्र पत्नी को दे या न दे कि पत्र अनायास जालपा के हाथ पड़ जाता है। पत्नी को पत्र पढ़ते देखकर रमानाथ को इतनी लज्जा आती है कि वह घर से भाग खड़ा होता है। जालपा पत्र पढ़कर सब कुछ समझ जाती है और अपने गहने बेचकर रुपया म्यूनिसिपैलिटी को लौटा देती है।

गाड़ी में रमानाथ की भेंट एक बूढ़े खटिक देवीदीन से हो जाती है और वह कलकत्ता पहुँच कर उसी के घर रहने लगता है। बूढ़े खटिक की सब्ज़ी की दुकान है जिस पर प्रायः उसकी बुढ़िया पत्नी काम करती है। बूढ़े का स्नेह देख कर रमानाथ उसे अपने पिता के सदृश मानने लगता है और घर से भागने का सारा हाल बता देता है। रमानाथ वहाँ अपने आपको ब्राह्मण घोषित करता है और पुलिस के भय से छिप-छिप कर सावधानी और सतर्कता से रहता है। लेकिन एक दिन जब वह ड्रामा देख कर लौट रहा होता है, पुलिस

वाले उसे खामहखाह अपनी नजर से ओझल होते देखकर गिरफ्तार कर लेते हैं। थाने में जाकर वह आप ही म्यूनिसिपैलिटी के रुपये ग़बन करने की बात कह देता है। पुलिस वाले टैलीफोन द्वारा इलाहाबाद पुलिस और म्यूनिसिपैलिटी से बात करते हैं तो उन्हें पता चलता है कि रमानाथ चुङ्गी में मुंशी जरूर था; पर उसने कोई ग़बन नहीं किया। कारण, जालपा ने रुपये दाखिल कर दिये थे।

लेकिन पुलिस उसे छोड़ती नहीं। उन्होंने देशभक्त क्रान्तिकारियों पर एक झूठा मुकदमा बना रखा है। वे रमानाथ को उसमें वादा मुआफ गवाह बन कर क्रान्तिकारियों के विरुद्ध अपना पढ़ाया हुआ बयान देने को कहते हैं। रमानाथ पहले तो उनकी बात मानने से इनकार करता है, लेकिन बाद में जेल जानेके भयसे कांप उठता है और छूटने के मोहसे पुलिस की बात मान लेता है।

रमानाथ पुलिस का पढ़ाया हुआ बयान अदालत में देता है और उसके आधार पर क्रान्तिकारियों को लम्बी-लम्बी सजायें हो जाती हैं। इससे सब लोग और खुद देवीदीन रमानाथ से घृणा करने लग जाते हैं।

रमानाथ की गिरफ्तारी से पहले जालपा ने रतन की सलाह से शतरंज का एक नक्शा समाचार पत्रों में प्रकाशित करके घोषित किया था कि उसे हल करने वाले को ५०)का इनाम दिया जायगा। रमानाथ ने नक्शा भरकर वह इनाम प्राप्त किया था जिससे घर वालों को मालूम हो गया था कि रमानाथ कलकत्ता में है।

जालपा रमानाथ की खोज में कलकत्ता आती है और उसी खटिक के घर ठहरती है। उसे यह जान कर बहुत दुख होता है कि रमानाथ एक झूठे मुकदमा में मुख़बिर बन गया है। उसे इस कुचक्र से निकालने के लिये वह रमानाथ को सूचित करती है कि उस पर कोई सरकारी रकम नहीं है। लेकिन वह पुलिस के जाल में ऐसा फंसा है कि उसके लिये निकलना कठिन हो जाता है।

इस बीच में रतन का बूढ़ा पति बीमार पड़ जाता है और वह उसका इलाज कराने कलकत्ता आती है। वह जालपा से भेंट करती है और उसकी हर तरह सहायता करती है। उसका पति इसी बीमारी में मर जाता है।

क्रान्तिकारियों को सज़ा हो जाने के बाद रमानाथ के मन में अपने प्रति बड़ी ग्लानि उत्पन्न होती है और एक बार जब वह पुलिस द्वारा मिले हुए आभूषण लेकर जालपा के पास आता है तो जालपा उन्हें घृणा से ठुकरा

देती है। इसके बाद जालपा एक क्रान्तिकारी की बूढ़ी माता की सेवा करनें में ज़ीवन बिताने लगती है।

और उपन्यास का अन्त यों होता है कि एक वेश्या ज़ोहरा की सहायता से, जो रमानाथ का मन बहलानें के लिये पुलिस द्वारा लाई गई है, वह इस कुचक्र से निकलनें में सफल हो जाता है। वह हाईकोर्ट के जज से मिलकर पुलिस के झूठ का सारा कच्चा चिट्ठा कह देता है। मुकदमा हाईकोर्ट में फिर सुना जाता है और रमानाथ के बयान बदलने पर सारे कैदी रिहा कर दिये जाते हैं। रमानाथ, जालपा और उसका पिता गंगा के तट पर खेती करने लगते हैं। ज़ोहरा भी उनके साथ रहती है; पर एक दिन स्नान करते समय गंगा की तेज़ धारा में बह जाती है।

इस उपन्यास में मध्यम वर्ग की स्थिति को भली प्रकार से दिखाया गया है। इस विषय पर प्रेमचन्द की यह सफल कृति कही जा सकती है। हमारे समाज के मध्यमवर्ग के लोग दिखावे और बिडम्बना को बहुत पसन्द करते हैं। इसी लिये रीतिरिवाज में फंसे रहते हैं। शादी विवाह पर वे अपनी स्थिति से बढ़ कर खर्च करते हैं और खाहमखाह अपने आपको धनी दिखाने की चेष्टा करते हैं। इसी कारण वे कर्ज में धंसते चले जाते हैं और जीवन झूठी प्रतिष्ठा बनाये रखने के कारण दुख में गुजरता है। इसी कारण से वे ग़बन तक करने पर मजबूर होते हैं। ऊँचे उठने की व्यर्थ चेष्टा करते-करते मजदूर और किसान बनने पर मजबूर हो जाते हैं। हर एक मध्यमवर्गी नौजवान की यह कोशिश होती है कि उसके पास बहुत-सा धन हो। उसके सगे सम्बन्धी और संगी साथी उसे बड़ा धन्नाशाह समझ कर उसका सम्मान करें। रमानाथ इस वर्ग का टाईप चरित्र है। रमानाथ की तरह यह वर्ग बहुत ही छिछला और ढुलमुल विश्वास का होता है। उसके संकल्प अधिक देर ठहरते नहीं। अपनी दुर्बल मनोवृत्ति के कारण अपनी इच्छा के विरुद्ध काम करते पर वह विवश हो जाता है। इस वर्ग के कुछ कार्यकुशल और बुद्धिजीवी लोग इन्द्रभूषण वकील की तरह सम्पत्तिशाली बन कर ऊँचे वर्ग में पहुँच जाते हैं और बहुत से लोग रमानाथ के पिता दयानाथ की तरह नीचे स्तर पर पड़े रहने ही में सुखी और अपनी ईमानदारी पर संतुष्ट रहते हैं; लेकिन दिखावे का मोह वे भी नहीं छोड़ सकते। अर्थात उनका संतोष और ईमानदारी मजबूरी का दूसरा नाम है।

रमानाथ जैसा कि हम कह चुके हैं एक समूचे वर्ग का प्रतिनिधि है। उसमें इतना दिखावा और बिडम्बना है कि वह अपनी पत्नी जालपा से भी घर की

असल हालत छिपाता है और अपने धनी होने की डींग मारता है। इस बिडम्बना और दिखावे के कारण वह हैसियत से बढ़कर खर्च करता है, रिश्वत लेता है, गहने कर्ज लेता है और फिर भी पत्नी से स्पष्ट बात न कह सकने के कारण झूठी लज्जा के मारे घर से निकल जाता है। चूंकि यह वर्ग पूर्णत: व्यक्तिवादी और स्वार्थी होता है, इसलिये रमानाथ न चाहते हुए भी पुलिस का मुखबिर बन जाता है। यह ठीक है कि इस वर्ग के लोगों को अवसर मिले तो वे अच्छा बनने को भी तैयार रहते हैं और अपने पाप का पश्चाताप करते हैं। रमानाथ भी ऐसा ही करता है।

इस उपन्यास का सबसे उज्वल और प्यारा चरित्र देवी दीन खटिक का है। वह भी इसी वर्ग का व्यक्ति है; लेकिन बाबू नहीं श्रमजीवी है। वह बहुत उदार और सहृदय है। वह मनुष्य से मनुष्य के नाते प्रेम करता है और मनुष्यता को आगे बढ़ानेवाले आदर्शों का अपने आचरण और त्याग से पालन करता है। उसके दो बेटे विदेशी कपड़े की दुकान पर पिकेटिंग करते हुए शहीद हो जाते हैं। मगर वह उनकी मृत्यु से निराश नहीं होता,बल्कि सत्याग्रही खुद बनकर पिकेटिंग जारी रखता है। इस त्याग के बावजूद वह अपनी देशभक्ति की डींग नहीं मारता। वह अपढ़ है लेकिन जीवन के अनुभवों से उसने समाज के समस्त स्तरों को समझ लिया है। रमानाथ जब सर्दी से बचने के लिये दान का कम्बल लेकर आता है, तो वह इसे पसंद नहीं करता, बल्कि कम्बल बाँटने वाले सेठ पर कटाक्ष करते हुए कहता है:—"सेठ की जूट की मिल है। मजदूरों के साथ जितनी निर्दयता उसके मिल में होती है, और कहीं नहीं होती। आदमियों को हंटरों से पिटवाता है, हंटरों से। चरबी मिला घी बेचकर उसने लाखों कमा लिया, कोई नौकर एक मिनट की भी देर करे तो तुरन्त तलब कर लेता है। अगर साल में दो-चार हजार का दान न कर दे,तो पाप का धन कैसे पचाये।" इसी प्रकार वह देश के बगुला भक्त नेताओं के बारे में कहता है— "गरीबों को लूटकर विलायत का घर भरना तुम्हारा काम है। हाँ रोये जाओ, विलायती शराबें उड़ा लो, विलायती मोटरें दौड़ा लो, विलायती मुरब्बे और अचार चखो······पर देश के नाम पर रोये जाओ।" देवीदीन का यह अनुभव प्रेमचन्द का यथार्थवाद है।

वकील इन्द्रभूषण उन लोगों में से हैं, जो अपनी बुद्धि और योग्यता धन पैदा करने में खर्च करते हैं। उन्हें देशसेवा और समाजसेवा से कोई सरोकार नहीं। वे विचारों की एक सीमित परिधि को ही सभ्यता और स्वतंत्रता मानते हैं। वे धन कमाकर बहुत-सी सम्पत्ति जुड़ाते हैं और फिर इस सम्पत्ति का एक

वारिस छोड़ जाने के लिये विवाह करते हैं। इन्द्रभूषण इसीलिये बुढ़ापे में दूसरा ब्याह करता है और आखिर इस ग़म में घुल-घुलकर मर जाता है कि उसका कोई पुत्र नहीं है।

जालपा का चरित्र प्रेमचन्द के मन के अनुसार आदर्श महिला का चरित्र हो सकता है; लेकिन स्वभाविक नहीं है। उसका पिता जमींदार का मुख्तार है। वह सामंती वातावरण में पली हुई लड़की है। दिखावे और आभूषणों की भूखी है। अधिक पढ़ी-लिखी भी नहीं और अनुभव से भी अधिक सामाजिक ज्ञान नहीं रखती। फिर उसका एकदम रमानाथ की खोज में कलकत्ता जाना, क्रान्तकारियों का पक्ष लेकर पति से घृणा करना उसके लिये असम्भव-सा दीख पड़ता है। कोई भी व्यक्ति अपने स्वभाव को अकस्मात् नहीं बदल सकता। जन्म और वातावरण के संस्कारों को एकदम छोड़ देना बहुत कठिन होता है। उसके लिये बहुत देर तक विभिन्न परिस्थितियों में रहना पड़ता है और नई विचारधारा का अनुकरण करना पड़ता है। मनुष्य का बदलना इतना सहज नहीं है जितना जालपा के चरित्र में दिखाया गया है।

देवीदीन की वृद्धा पत्नी भी पाठकों की सहानुभूति और श्रद्धा की पात्र है। वह ऊपर से बहुत ही कठोर, चिढ़-चिढ़ी और स्वार्थरत जान पड़ती है। लेकिन उसके हृदयस्तल में शुद्ध स्वच्छ स्नेह का स्रोत छिपा हुआ है, जो रमानाथ से तनिक-सा आदर पाकर फूट निकलता है। फिर वह रमानाथ और जालपा को अपने पुत्र और पुत्र-बधू की तरह प्यार करती है। उनके हित के लिये कष्ट सहती है और भरसक त्याग करती है।

इस उपान्यास का कथानक रमानाथ के कलकत्ते भागने तक तो ठीक चलता है। लेकिन उसके बाद कथानक का ताना-बाना उलझ जाता है और उसमें बहुत से झोल पड़ जाते हैं। क्रान्तिकारियों के मुकदमे और रमानाथ को मुखबिर बनाकर प्रेमचन्द ने पुलिस के हथकँडों और अदालतों के झूठ की पोल तो ठीक खोली है; लेकिन यहाँ कहानी उलझ गई है। एक बार हाईकोर्ट में सज़ा हो जाने के उपरांत मुकदमा दोबारा सुने जाने की बात जँचती नहीं।

कर्म-भूमि

"कर्मभूमि" सन् १९३२ में लिखा गया। इस उपन्यास की सामग्री उस समय के सत्याग्रह आन्दोलन से ली गई है। अपनी मूल पुस्तक के 'समर-यात्रा' परिच्छेद में हम इस उपन्यास की राजनीतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि को विस्तार से अंकित कर चुके हैं। उसे दोहराना व्यर्थ है। संक्षेप में इसकी कहानी यह है।

अमरकांत बनारस के सेठ समरकांत का बेटा है। वह शुद्ध खद्दर पहनता

है, चर्खा चलाता है और सार्वजनिक कार्यों में भाग लेता है। इसलिये बाप-बेटे की नहीं बनती। अमरकांत के पास स्कूल की फीस तक देने को पैसे नहीं होते, वह भी समय-समय पर उसका मित्र सलीम अदा कर देता है। अमरकांत की माँ बचपन में मर गई थी। पिता ने दूसरा ब्याह कराया था उससे एक लड़की नैना है। भाई-बहन में खूब प्रेम है। दूसरी पत्नी मरने के पश्चात् समरकांत ने फिर अपना ब्याह नहीं कराया। सूना घर आबाद करने के लिये अमर की शादी सुखदा से कर दी है।

सुखदा को विधवा माँ से बहुत बड़ी जायदाद मिलने वाली है। वह भी पति से इसलिये झगड़ती रहती है कि वह क्यों बेकार के कामों में समय नष्ट करता है, व्यापार में पिता का हाथ क्यों नहीं बटाता? लेकिन वह डाक्टर शांतिकुमार और दूसरे मित्रों के साथ ग्राम-सेवा के लिये जाया करता है।

पत्नी से प्रेम न पाकर अमर सकीना की ओर आकर्षित होता है। उन दोनों का प्रेम और घर का झगड़ा बढ़ता है। आखिर एक दिन अमर पिता से कहता है—"दादा, आपके घर में मेरा इतना जीवन नष्ट हो गया, अब मैं उसे और नष्ट नहीं करना चाहता। आदमी का जीवन केवल खाने और मर जाने के लिये नहीं होता, न धन-संचय उसका उद्देश्य है। जिस दशा में मैं हूँ, वह मेरे लिये असहनीय हो गई है। मैं एक नये जीवन का सूत्रपात करने जा रहा हूँ···।" इतना कह वह घर से चला जाता है और चमारों के एक गाव में जाकर रहने लगता है।

अमर के चले जाने पर सुखदा की आँखें खुलती हैं और वह पति के आदर्श पर चलने के लिये जन-सेवा के कार्यों में भाग लेने लगती है। शहर में अछूतों के लिये मंदिर खुलवाने का आंदोलन चलता है। सुखदा डाक्टर शांतिकुमार आदि के साथ उसमें बढ़-चढ़कर भाग लेती है। आंदोलन सफल हो जाता है। नैना का विवाह धनीराम के बेटे मनीराम से हो जाता है।

अमर चमारों के गांव में है और जन-सेवा का कार्य कर रहा है। उस इलाके के जमींदार एक महन्तजी हैं, जो ठीक 'सेवासदन' के महन्त श्री बांके बिहारी लालजी का ही एक दूसरा चित्र है और ठीक उन्हीं की तरह आसामियों का शोषण करते हैं। इस शोषण से किसानों की आर्थिक दशा बिगड़ जाती है और अमरकांत के नेतृत्व में लगानबंदी का आंदोलन चलता है। अमरकांत शोषण पद्धति के विरुद्ध किसानों के क्रोध को शांत करके आंदोलन अहिंसावादी ढंग से चलाता है।

उसका मित्र सलीम आई० सी० एस० में पास होकर इस इलाके में नियुक्त

होता है और वही सरकार के हुक्म से अमर को गिरफ्तार करता है। लेकिन अंत में वह भी किसानों का पक्ष लेकर जेल चला जाता है। उधर शहर में अछूतों के लिये अच्छे मकान बनवाने का आंदोलन चल रहा है जिसमें शांतिकुमार, सुखदा और उसकी माँ रेणुकादेवी आदि बहुत लोग गिरफ्तार होकर जेल में आते हैं। अमर का बाप भी बेटे की खोज में गांव जाता है और किसान आंदोलन के सिलसिले में गिरफ्तार होकर जेल पहुँच जाता है।

आंदोलन इतना आगे बढ़ता है कि आखिर सरकार झुक जाती है। गवर्नर फैसला करता है कि लगानबंदी के सम्बन्ध में पाँच व्यक्तियों की एक कमेटी बनाई जाय, जिसमें अमरकांत और सलीम भी शामिल हों। सब प्रसन्न होते हैं कि वाह कितना सुन्दर फैसला है।

इसमें संदेह नहीं कि यह उपन्यास विशेषत: राजनीतिक आंदोलन और उसके अछूतोद्धार सम्बन्धी पहलू को लेकर लिखा गया है, लेकिन इससे सूदखोरी और चोरी के माल पर चलने वाले व्यापार, पिता-पुत्र और पति-पत्नी के एक दूसरे को गुलाम बनाये रखने वाले प्राणहीन सम्बन्ध, निकम्मी शिक्षा-पद्धति, पढ़े लिखे लोगों का स्वार्थ, सरकारी घूसखोरी और जमींदारों द्वारा किसानों के शोषण पर भी बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। प्रेमचन्द गो सुधारवाद और सत्याग्रह के सिद्धान्त को लेकर चलते हैं, लेकिन उनकी जड़ें हमारे जनजीवन में बहुत दूर तक चली गई थीं और उन्होंने अपने अनुभव से देख लिया था कि वर्ग शोषण, घूसखोरी, सूदखोरी और अंधविश्वास के दीमक ने इस समाज को चाट-चाट कर इतना खोखला कर दिया है कि उसमें अब जान बाकी नहीं है। इसलिये वह इस समाज का अन्त करके नवजीवन निर्माण करने वाली शक्तियों को उभारते हैं। लेकिन जब इस जर्जर समाज का अन्त करने के लिये यह शक्तियां आक्रमण करती हैं, तो प्रेमचन्द अकस्मात् हाथ रोक लेते हैं। हाथ इसलिये रोक लेते है कि उन्हें सत्याग्रह और अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना होता है। यहीं उनकी कला कुंठित हो जाती है और यहीं उनके आदर्श पात्र पाठक की श्रद्धा और सम्मान से वंचित हो जाते हैं। मन्मथनाथ गुप्त आदि ने लिखा है कि प्रेमचन्द अपने पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण नहीं कर पाते। उनमें जो अनायास परिवर्तन होता है, उसे तर्कप्रिय बुद्धि मानती नहीं। हम इस बात को नहीं मानते कि प्रेमचन्द में पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण नहीं होता। वह होता है और बहुत अधिक मात्रा में होता है। लेकिन जब वे अस्वाभाविक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिये यथार्थवाद की उपेक्षा करते हैं, वहीं मनोविज्ञान का दामन भी उनके हाथ से

छुट जाता है।

हम इस पुस्तक के 'समरयात्रा' 'कर्म' और 'कला' परिच्छेदों में अमरकांत के चरित्र का विश्लेषण भली प्रकार कर चुके हैं। प्रेमचन्द के कथनानुसार वह इस उपन्यास का आदर्शमात्र है। वह क्रान्ति और नवजीवन के निर्माण में विश्वास रखता है और अपने इन विचारों को कार्यान्वित करने के लिये वह पिता के घर को छोड़कर चला जाता है। लेकिन अन्त में अपनी वर्गगत असंगतियों के कारण क्रांति को सुधारवाद के मार्ग पर डाल देता है, सरकार से समझौता करके खुश होता है और अपने सूदखोर पिता के साथ फिर घर लौट आता है।

कांग्रेस आंदोलन की तरह इस उपन्यास में भी आंदोलन शहर तक सीमित रहता है और उसका नेतृत्व मध्यमवर्ग के नौजवान अमर, सलीम और डाक्टर शांतिकुमार अथवा सेठ समरकांत और धनीराम करते हैं। जब आंदोलन किसानों, मज़दूरों में फैलता है और क्रांति का रूप धारण करता है, तो यह लोग झट सरकार से समझौता कर लेते हैं। जिस प्रकार सन् १९३० का जनांदोलन अर्थात् नमक सत्याग्रह गांधी-इर्विन ससझौते में खत्म हुआ था, उसी प्रकार यह आंदोलन भी लगानबंदी के सम्बन्ध में पांच व्यक्तियों की एक कमेटी बनवाकर बद हो जाता है और यह समझौता ही हमारे जनांदोलन की सबसे बड़ी ट्रेजिडी रही है।

इतना होने पर भी इस उपन्यास में यथार्थवाद की मात्रा बहुत अधिक है। सिद्धान्त सिर्फ ऊपर ऊपर रहते हैं,वे उपन्यास का प्लाट बनाते हैं लेकिन कहानी वस्तुस्थिति को लेकर आगे बढ़ती है और हमारे जनजीवन का बहुत सच्चा चित्रण हमें मिलता है। यदि अछूतोद्धार ही की बात ली जाये तो गाँधीजी के सुधारवादी अछूतोद्धार से प्रेमचन्द का अछूतोद्धार बुनियादी तौर पर भिन्न है। गाँधीजी अछूतों के लिये नागरिक अधिकार माँगते थे लेकिन उनकी दीन दशा में निहित आर्थिक शोषन को नहीं देखते थे। प्रेमचन्द यथार्थवादी होने के नाते इस आर्थिक शोषण को भी देखते हैं और अछूतोद्धार को महज शहरों तक सीमित रखने के बजाये देहात में भी ले जाते हैं। चमार असामियों और खेत मज़दूरों के शोषन को भी दर्शाते हैं। और इस शोषण को चित्रित करते समय ही उनकी कला स्वस्थ और प्रभावशाली बनी रहती है और यहीं वे अपने पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण कर पाते हैं। उनकी मुन्नी और बुढ़िया सलोनी पर हजार अमरकान्त, शान्तिकुमार और सुखदा कुर्बान की जा सकती हैं। उनका त्याग और मानवप्रेम सीधा सच्चा और स्वार्थ-रहित है।

वे अपढ़ होते हुए भी गहरे अनुभव के कारण बहुत अच्छा जीवन-ज्ञान रखती हैं। वे यथार्थवादी और कर्मशील हैं। मुन्नी आदर्शवादी अमरकान्त से कहती है—"लाला, तुम मुझे रोना सिखाते हो, मैं तुम्हें नाचना सिखाऊँगी।"

गोदान

गोदान प्रेमचन्द की सर्वोत्तम कृति है। यह एक महाकाव्य है। पढ़िये बार-बार पढ़िये, तबीयत नहीं भरती। महाकाव्य की कहानी कहना पाठकों को उसके रससे वंचित करना है। तो भी, थोड़े में उसकी कहानी यह है।

होरी चार पांच बीघे जमीन जोतने वाला एक मामूली किसान है। उसकी तीन संताने हैं। एक लड़का, जिसका नाम गोबर है और सोना और रूपा दो कन्यायें हैं। धनिया उसकी पत्नी हैं। पति पत्नी में कई बार झगड़ा भी हो जाता है। होरी अपने इलाक़ा के जमींदार अमरपालसिंह को प्राय: सलाम करने जाता है; मगर गोबर को यह खुशामद पसंद नहीं है। कड़ी मेहनत करने के बावजूद होरी का जीवन दरिद्रता में व्यतीत होता है। उसके जीवन की सब से बड़ी साध यह है कि भगवान सामर्थ्य दे तो एक गाय खरीद ले। आखिर भोला से उसे गाये उधार मिल जाती है। लेकिन वह थोड़े ही दिन उसके पास रह पाती है क्योंकि उसका भाई हीरा ईर्ष्या के कारण उसे विष दे देता है।

इसी बीच में गोबर का भोला की विधवा कन्या झुनिया से प्रेम हो जाता है। वह उसे घर तो ले आता है; लेकिन इस डर से कि माता-पिता शायद उसे नहीं रखेंगे, वह झुनिया को छोड़ कर शहर चला जाता है। वहाँ जाकर पहले खोमचा लगाता है और फिर मजदूरी करने लगता है। धनिया पहले तो दुविधा में पड़ जाती है; लेकिन फिर झुनिया को घर में रख लेती है।

होरी कुछ रुपया कर्ज लेकर अपनी कन्या सोना का विवाह कर देता है। फिर वह कर्ज कभी नहीं उतरता, जमींदार के कर और सरकारी कर्मचारियों की लूटखसोट, धर्म के ठेकेदारों के दंड उसकी कमर तोड़े डालते हैं। आखिर वह अपनी छोटी लड़की रूपा का विवाह रुपया लेकर एक बूढ़े आदमी से करता है। दरिद्रता फिर भी दूर नहीं होती। अंत में वह अपनी सब से प्रिय वस्तु जमीन बेच कर किसान से मजदूर बनने पर मजबूर हो जाता है। अब उसे इतना कठिन काम करना पड़ता है कि उसकी देह टूट जाती है और एक दिन लू लगने से ऐसा बीमार होता है कि फिर उठ नहीं सकता। उसकी आँखों में जीवन के सब दृश्य नाच उठते हैं। अंत समय में भी गाय की लालसा उसे क्षुब्ध कर

रही होती है। उस समय मातादीन, जो अपना घर भरने के लिये महाजन भी है और ब्राह्मण भी है, धनिया से कहता हैं—"अब गोदान करादो यही समय है।" धनिया के घर में बीस आने के पैसे है, उन्हें वह मातादीन के हाथ में देकर बोली—"महाराज घरमें गाय है और न बछिया, यह पैसे हैं। यही उनका गोदान है"—इतना कह कर वह बेहोश हो जाती है।

प्रेमचन्द पहले लेखक थे जिन्होंने हमारे देश के किसानों और निम्न वर्ग के लोगों को अपनी कहानियों और उपन्यासों का नायक बनाया। वे हमारे देश के किसान-जीवन का न सिर्फ बहुत अधिक ज्ञान रखते थे बल्कि किसानों से उन्हें सच्ची सहानुभूति भी थी। वे किसानों को हमारे समाज का सब से शोषित और दरिद्र वर्ग समझते थे। होरी इस समूचे वर्ग का प्रतीक है। होरी का जीवन किसी एक व्यक्ति का जीवन नहीं, साधारण किसान का जीवन है। उसका दुख हमारे देश के समस्त किसानों का दुख है। दरअसल एक किसान के लिये जन्मना, मरना गौण बातें हैं। दुखही उसके जीवन का एकमात्र सत्य है। मृत्यु भी इस दुख का अन्त नहीं करती। किसान उसे अपने बच्चों के लिये विरासत में छोड़ जाता है।

प्रेमचन्द ने होरी की जीवन-कहानी में दुख को सप्राण और मूर्तिमान कर दिया है। यही इस उपन्यास की विशेषता और महानता है।

इस उपन्यास में प्रेमचन्द अपनी पुरानी मान्यताओं को छोड़ कर एक दम बहुत आगे बढ़ आये हैं। अपने पहले उपन्यासों में वे जो समस्यायें उठाते थे, उनका कोई न कोई सुधारवादी हल पेश करते थे। कहीं उनके जमींदार और धनी पात्रों का हृदय परिवर्तन होता है और कहीं प्रेमाश्रम और सेवाश्रम खोले जाते हैं। लेकिन इस उपन्यास में शुद्ध यथार्थ रूप से जीवन-कहानी आगे बढ़ती है। इस उपन्यास में जमींदार-जमींदार ही रहता है। वह धर्म-कर्म और न्याय की बातें करता है; लेकिन अपने स्वार्थ को नहीं छोड़ता। और किसान उसकी दशा सुधरने की बजाय बिगड़ती ही जाती है। अंत में वह किसान भी नहीं रह पाता। अपनी चार पाँच बीघे ज़मीन बेच कर किसान से मजदूर बनने पर विवश होता है। फिर भी दुख बढ़ते ही रहते हैं। आखिर वह इनके बोझ तले दब कर दम तोड़ देता है। अर्थात् प्रेमचन्द ने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को अपने ही शोषण और अन्याय के कारण टूटते दिखाया है। होरी मर जाता है, धनिया बेहोश हो जाती है और पाठक सोचने लगता है 'यह समाज गया। कोई सुधार और उपचार इस व्यवस्था को टूटने से नहीं बचा सकता अब तो जीवन के नवनिर्माण की बात सोचना ही हितकर है।'

हिंदी के लगभग सभी लेखकोंने यह एतराज़ उठाया है कि गोदान सुगठित रचना नहीं है। अर्थात् इसमें दो कहानियाँ साथ-साथ चलती हैं। एक होरी की कहानी है, जिसमें हमें किसान जीवन का दिग्दर्शन होता है और दूसरी खन्ना महता और मालती की कहानी है, जो हमें अकारण ही नगर में खींच ले जाती है; इसका असल कहानी से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि तनिक ध्यान से देखा जाय तो यह एतराज़ दुरुस्त नहीं है। लेनिन ने कहा है कि 'समस्त वर्गों की जानकारी प्राप्त करके ही इस वर्ग विभाजित समाज को समझा जा सकता है।' प्रेमचन्द ने अपने जीवन-अनुभव से इस कथन के मर्म को समझ लिया था। इसलिये उन्होंने प्रत्येक वर्ग के प्रतीक पात्र लेकर समूचे समाज का सुन्दर चित्रण किया है। जमींदार अमरपाल, उद्योगपति खन्ना, स्वार्थी पत्रकार ओंकारदास, चुनाव विशेषज्ञ तन्खा—सभी आकाश बेलें हैं। दूसरों की मेहनत चूसनेवाली जोंके हैं। दूसरों को बेवकूफ बनाने वाली मालती और किताबी फलसफा बिघारने वाले मेहता भी जोवन को सुन्दर और स्वस्थ बनाने के लिये कोई निर्माण-कार्य नहीं करते। मेहनत सिर्फ किसान करता है। इन लोगों की कथित सभ्यता के होठों पर लाली किसान के खून से आती है। इस कहानी को हटा दीजिये तो होरी का—अर्थात् इस समाज का चित्र अधूरा ही रह जायेगा। दुख को मूर्तिमान करने के लिये यही तो उपयुक्त पृष्ठभूमि है। जमींदार अमरपालसिंह दोनों के बीच की कड़ी है। इसलिये नगर की कहानी इस उपन्यास का अविभाजित अंग है।

इस उपन्यास में होरी और धनिया का चरित्र चित्रण वहुत ही सुन्दर हुआ है। उनमें वे सभी गुण और दोष मौजूद है जो देहात में रहने वाली हमारी जनता में हो सकते हैं। उनके हृदय उदार और विशाल हैं और वे मनुष्य से मनुष्य के नाते प्रेम करते है। लेकिन दरिद्रता उन्हें कई बार अपने स्वभाव के विरुद्ध आचरण ग्रहण करने पर विवश कर देती है। स्वार्थवश होरी अपने भाई से पांच-सात रुपये की बेईमानी करने को तैयार हो जाता है। लेकिन जब उसी भाईपर संकट आता है तो होरी अपना स्वार्थ एकदम भूल जाता है। भाई की निंदा के भय से गाय को विष देने की बात छिपाये रखना चाहता है। जब धनिया कह देती है, तो वह उसे पीटता है और दारोगा को रिश्वत देने के लिये ३०) कर्ज लेता है। ३०) उसके लिये बहुत बड़ा त्याग है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब मानवता की परख का समय आता है तो होरी खोटा नहीं, खरा—सोलह आने खरा सिद्ध होता हैं। वह हमारी श्रद्धा, प्रेम और सहानुभूति का पात्र है। कितने ही आलोचकों और खुद प्रेमचन्द के बड़े लड़के श्रीपतराय

का कहना है कि होरी में प्रेमचन्द ने अपने ही व्यक्तित्व को अंकित किया है। होरी के जीवन में प्रेमचन्द के जीवन का एक बहुत बड़ा अंश शामिल है। पढ़ते समय हमें ऐसा ही लगता है।

कुछ भी हो, हिंदी उर्दू साहित्य का होरी एक महान् पात्र है। शायद हम आगामी पचास वर्ष में भी उसकी टक्कर के पात्र का निर्माण न कर सकें।

धनिया बहुत साहसी औरत है। वह जिस बात को ठीक समझ ले, फिर समाज, बिरादरी, नियम, कानून किसी बात की परवा नहीं करती, उसे कर डालती है। गोबर जब झुनिया को छोड़कर भाग जाता है तो वह उसे कायर कहती है; जिसकी एक बार बांह पकड़ली उसे फिर क्या छोड़ना। बिरादरी का विरोध मोल लेकर भी वह झुनिया को घर में रखती है और सिलिया को भी आश्रय देती है। अपने अदम्य साहस और कर्मशीलता के कारण वह कई बार गांव भर का नेतृत्व करती हुई दीख पड़ती है। उदाहरणतः जब दारोगा गाय को ज़हर देने के मामले में रिश्वत मांगता है और न मिलते देख कर जेल भेजने का भय दिखाता है "धनिया हाथ मटकाकर बोली, हाँ दे दिया अपनी गाय थी, मार डाली फिर ? किसी दूसरे का जानवर तो नहीं मारा ? तुम्हारी जाँच में यही निकलता है तो यह लिखो, पहनादो मेरे हाथ में हथकड़ी।" सब उसका मुंह देखते रह जाते हैं।

वह बहुत ही व्यवहारकुशल औरत है। अपने आचरण से होरी की दुर्बलताओं को भी ढांप लेती है। होरी कई बार हवा में उड़ता है, तो वह यथार्थ बात कहती है। दोनों अपढ़ और दरिद्र हैं; लेकिन खूब हैं और उन दोनों की जोड़ी भी खूब है।

अमरपालसिंह का चरित्र औपनिवेषिक व्यवस्था के नये जमींदार का प्रतीक है। उनके जीवन का खुलासा इतने ही में हो जाता है कि वे पिछले सत्याग्रह में कौंसिल की मैम्बरी छोड़कर जेल काट आये हैं। तभी से उनकी असामियों को उनसे बड़ी श्रद्धा हो गई है। ताबान, बेगार की सख्ती उसी तरह है, बल्कि पहले से कुछ अधिक है। लेकिन उसकी बदनामी मुख्तारों के सिर है। फिर दान-पुन्य और धर्म-कर्म के भी पूरे हैं क्योंकि पिता की सम्पत्ति के साथ उन्होंने राम की भक्ति भी विरासत पाई है। ज़ाहिर है कि यह सब शोषण को ढांपने और बड़ा कहलाने के लिये है।

गोबर का चरित्र एक उभरते हुए नई पद्धति के नौजवान का चरित्र है। बड़े व्यक्तियों में उसे श्रद्धा नहीं। वह जमींदारी व्यवस्था, सूदखोरी और धर्म के नाम पर चल रही ठगी को खत्म करना चाहता है। पिता का जमींदार

की खुशामद के लिये जाना उसे अच्छा नहीं लगता। लेकिन जब वह शहर में जाकर खोमचा लगाता है और कुछ रुपये जोड़ लेता है, तो वह भी उस रुपये को सूद पर देता है और बहुत ऊँचे दर पर देता है। फिर मजदूर बन कर इस वर्ग की नई चेतना पाकर आगे बढ़ने के बजाय बुराई सीखता है। इसलिये आरम्भ में पाठक को उससे जो आशा बंधती है कि वह क्रान्तिकारी बनेगा, वह अंत में टूट जाती है।

इसका कारण हम यह समझते हैं कि प्रेमचन्द वास्तव में किसानों के लेखक थे। वे उद्योग के विस्तार और कारखानों को अच्छा नहीं समझते थे। उन्हें दुख था कि किसान नगर में आकर मजदूर बनते हैं और बुराईयाँ सीखते हैं। उन्होंने अभी मजदूर के ऐतिहासिक रोल को नहीं समझा था। यही उनका रूढ़िवाद था जो गोबर में अंकित हो गया है।

मंगल-सूत्र

मंगलसूत्र प्रेमचन्द का अधूरा उपन्यास है। उन्होंने यह उपन्यास बीमारी की हालत में लिखना शुरू किया था। अभी चार परिच्छेद ही लिखने पाये थे कि मृत्यु ने उनकी जीवन कहानी का अन्त कर दिया। इस उपन्यास का नायक देवकुमार है। वह एक लेखक है। लेकिन लिखने से उसे कोई आर्थिक लाभ नहीं होता, बल्कि यह 'व्यसन' पालकर पूर्वजों की सम्पत्ति भी खो बैठा है और दरिद्र बन गया है। उसके दो बेटे हैं। बड़ा बेटा संतकुमार वकील है। उसे पिता के आदर्शों से कोई सहानुभूति नहीं, वह जैसे-तैसे धन कमाना और ठाठ से जीवन बिताना चाहता है। लेकिन छोटे लड़के साधुकुमार का आचरण पिता के अनुरूप है। वह धन के मुकाबिले में आदर्श को महत्त्व देता है। लेखक की एक लड़की पंकजा है जिसका विवाह हो गया है।

ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द इस उपन्यास में अपनी ही जीवनकथा लिख रहे थे। देवकुमार वे स्वयं हैं और संतकुमार और साधुकुमार उनके दो बेटे श्रीपतराय और अमृतराय हैं। उनकी एक कन्या थी जिसका उन्होंने ब्याह कर दिया था।

देवकुमार के बारे में लिखा है—"साहित्य सेवा के सिवा उन्हें और किसी काम में रुचि न हुई और यहाँ धन कहां?—हां, यश मिला और उनके आत्म-संतोष के लिये इतना ही काफी था" लेकिन आत्मसंतोष के बावजूद धनाभाव प्रायः अखरता है और वे लिखते हैं कि इस लिखने से तो घास छीलना और खोमचा लगाना कहीं अच्छा है। यह सब क्यों है? इसलिये कि श्रम का शोषण होता है। इस शोषण व्यवस्था में साहित्य और संस्कृति फलफूल नहीं सकती।

जब लोग अपढ़ होंगे तो उनका लेखक आप ही दरिद्र होगा। इस उपन्यास में लेखक "भेड़ियों से घिरी इस दुनिया में सशस्त्र" होने की सलाह देता है। लेकिन क्रान्ति का नेतृत्व यदि मजदूर के बजाय मध्यमवर्ग करे तो इससे अराजकता-वादी विचारों का पोषण होता है। यह उपन्यास जितना लिखा गया है उतना मध्यमवर्ग के ही बारे में है, शायद आगे चल कर मजदूर भी आ जाता। उपन्यास मध्यमवर्ग ही के बारे मैं हो, इसमें कोई बुराई नहीं है। लेकिन यदि उपन्यास के मध्यमवर्गी पात्र सशस्त्र होने और क्रान्ति करने की बात कहते हैं तो उन्हें मजदूर का नेतृत्व स्वीकार करना होगा क्योंकि आज के युग में केवल मजदूर ही क्रान्ति को सफल बना सकते हैं। यह एक ऐतिहासिक सत्य है।

फिर भी इस अधूरे उपन्यास से पता चलता है कि प्रेमचन्द जीवन के अनुभव से बहुत कुछ सीख रहे थे, उनकी पुरानी मान्यतायें टूट रहीं थीं और 'गोदान' के बाद भी उनका विकास जारी था।

नाटक

प्रेमचन्द ने दो नाटक भी लिखे हैं। लेकिन इस दशा में उनका प्रयास असफल हो रहा है। हमारे देश में स्टेज का अभाव होने के कारण जिन कवियों और उपन्यासकारों ने नाटक की ओर ध्यान दिया, उन्हें वाँच्छनीय सफलता नहीं मिली। प्रेमचन्द ने इन्द्रनाथ मदान के नाम एक पत्र में अपनी इस असफलता को स्वीकार किया है। इसीलिये उन्होंने "संग्राम" और "कर्बला" दो नाटक लिखने के उपरान्त कोई नया नाटक लिखने का प्रयास नहीं किया। कहानियों और उपन्यासों को ही अपने लिये उपयुक्त समझा। उनके यह दो नाटक भी एक तरह उपन्यास ही हैं क्योंकि स्टेज नहीं हो सकते सिर्फ पढ़े जा सकते हैं। अलबत्ता उपन्यास में उन्हें चरित्र चित्रण की जो सुविधा रहती थी, वह इनमें नही रही।

कहानियाँ

प्रेमचन्द की कहानियाँ बहुत मार्के की होती हैं और अपनी कहानियों में उन्होंने हमारे जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डाला है। हम अपनी मूल पुस्तक में उनकी कहानियों के बारे में बहुत कुछ लिख चुके हैं। वे इन कहानियों की सामग्री अपने जीवन की घटनाओं से, इतिहास से सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों से और उन लोगों से जुटलाते थे जिनमें वे रहते थे, जिन्हें वे अच्छी तरह जानते; पहचानते और समझते थे।

उनकी ऐतिहासिक कहानियों में "शतरंज के खिलाड़ी" हमें सब से सुन्दर लगी है। इस कहानी में उन्होंने सामन्तवादी व्यवस्था का खोखलापन

दिखाया है। इस कहानी के नायक अपना ऐतिहासिक रोल खत्म कर चुके हैं और जीवन की एक नई शक्ति के हाथों शतरंज के मुहरों की तरह पिट रहे हैं, और एक ऐसे निर्जन खंडहर में पिटते हैं जहाँ उन्हें कोई रोने वाला भी नहीं।

वैसे उनकी सभी ऐतिहासिक कहानियों में यह बात ध्यान रखने के योग्य है कि वे उनमें उपयुक्त ऐतिहासिक सामग्री जुटलाते है, उस समय की परास्त होती और उभरती हुई शक्तियों का ध्यान रखते हैं। और इन कहानियों द्वारा वे हीनता का खडन और श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। "रानी सारधा" और "राजा हरदौल" ऐसी ही कहानियाँ हैं।

अपनी सामाजिक कहानियों मे प्रेमचन्द ने अंधविश्वास, धार्मिक ढोंग, स्वार्थ, शोषण और अन्याय का विरोध किया है। और मनुष्य को आलस्य छोड़ कर कर्मशील बनने के लिये प्रेरित किया है। मेने सब से पहले "मंत्र" कहानी पढ़ी थी। उस समय में सातवी श्रेणी में पढ़ता था। इस कहानी के नायक बूढ़े भक्त का उदार और विशुद्ध चरित्र मेरे मनपर अब तक ज्यों का त्यो अंकित है। इसी कहानी में डाक्टर चड्ढा शिक्षित वर्ग की स्वार्थांधता का प्रतीक है। ऐसे पढ़े लिखे और सभ्य कहलाने वाले लोगों के मुकाबिले में हमारी अपढ़ जनता कितनी उदार और महान है। बूढ़ा भक्त इस महानता का प्रतिनिधि है।

प्रेमचन्द हमारी जनता की इस उदारता और महानता में अटल विश्वास रखते थे और उसे सच्चे मन से प्यार करते थे। अपनी लेखनी को उन्होंने इस जनता की सेवा के लिये अर्पित कर दिया था। मुझे उनकी "पच परमेश्वर" "शंखनाद", "सुजान भक्त" आदि कहानियाँ बहुत पसद हैं। इन कहानियो में वे न्याय का प्रतिपादन करते और मनुष्य की कर्मशक्ति को उभारते हैं। "मोटर के छींटे" बहुत ही छोटी; लेकिन बहुत ही सुन्दर कहानी है। देखने में यह हास्य-रस प्रधान कहानी है, लेकिन दरअसल उन्होंने मोटेराम शास्त्री के हाथों अंग्रेज को पिटवा कर अपने मनका क्षोभ निकाला है। अंग्रेज हिन्दुस्तान में साम्राज्य का प्रतीक है, उससे मोटेराम जैसा निकृष्ट व्यक्ति भी इतनी घृणा करता है कि उसे पोटने का अवसर हाथ से नहीं जाने देता। इसी प्रकार "इस्तीफा" कहानी में एक हिन्दुस्तानी क्लर्क के हाथों अंग्रेज अफसर की मरम्मत कराई है। "अधिकार चिंता" कहानी में साम्राज्य के प्रतीक इस अंग्रेज को स्वार्थी और लोलुप लेकिन भीरू बुलडोग के रूप में प्रस्तुत किया है। और इस स्वार्थी बुलडाग को देश से भगाने के लिये उन्होंने बहुत सो कहानियाँ लिखी हैं। जिनमें मुझे "आहुति", "जेल" और "सत्याग्रह" सुन्दर जान पड़ी है।

प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में बहुत सी समस्यायों को लिया है और शुरू के उपन्यासों की तरह उन्होंने अपनी कहानियों में भी इन समस्यायों का सुधारवादी हल पेश किया है। लेकिन शनैः शनैः उपन्यासों की तरह कहानियों में भी सुधारवाद के स्थान पर यथार्थवाद की मात्रा बढ़ती गई। 'गोदान' की भाँति "कफ़न" कहानी में उन्होंने हमारे इस समाज का बहुत ही यथार्थवादी चित्रण किया है। जिस समाज में, पंजाबी कवि वारिसशाह के कथनअनुसार "चोर उचक्का चौधरी गुँड़ी रन प्रधान" का सिद्धान्त लागू हो वहाँ आदमी का कामचोर बन जाना स्वाभाविक बात है। इस कहानी के घीसू और माधो भी इसलिये कामचोर हैं कि वे दूसरों की मेहनत पर पलने वाले निकम्मे आदमियों को सफेदपोश देखते हैं।

उपन्यासों की तरह कहानियों के भी सिलसिलेवार अध्ययन से प्रेमचन्द के विचार-विकास का पता चलता है। सरकार ने उनके दो कहानी सग्रह "सोज़े वतन" और "समर-यात्रा" इस लिये जब्त कर लिये थे कि उनसे विद्रोह भड़कता था। प्रेमचन्द राजनीतिक गुलामी के विरुद्ध ही नहीं सामाजिक और मानसिक गुलामी के विरुद्ध भी विद्रोह भड़काते थे। मनुष्य को स्वतंत्र, समृद्ध और उन्नत देखना चाहते थे। वे नीति, धर्म, कानून और सिद्धान्तों के मुकाबिला में मनुष्य को श्रेष्ठ और पूज्य मानते थ। यही उनकी महानता थी। इसीलिये हमारे साहित्य के इतिहास में उनका नाम सदा उज्वल अक्षरों में लिखा जायेगा।